उत्तराध्ययनसूत्र

(प्रथम खण्ड)

(अध्ययन १ से १० तक)

(मूल-संस्कृत छाया-पद्यानुवाद-अन्वयार्थ-विवेचन-कथा-परिशिष्ट युक्त)



 तत्त्वावधान 

आचार्य श्रीहस्तीमलजी महाराज



हिन्दी पद्यानुवाद

पं० श्री शशिकान्त झा

प्रकाशक

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

उत्तराध्ययनसूत्र
(१ से १० अध्ययन)

प्रकाशक
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
बापू बाजार, जयपुर-३०२००३
फोन : ०१४१-५६५९९७

तृतीयावृत्ति
विक्रम सम्वत् २०५५, चैत्र
वीर निर्वाण संवत् २५२४
अप्रेल, १९९८

* मूल्य : 25 रुपये

हरीश प्रिन्टर्स, जयपुर।

प्रकाशकीय

उत्तराध्ययनसूत्र जैन आगम-साहित्य का प्रतिनिधि आगम है। इसमे जीवन-निर्माण के सूत्र प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध हैं। विनयशील बनने, परीषहो पर विजय प्राप्त करने, धर्म-श्रवण कर उसे आचरण मे लाने, अप्रमत्त बनने, समाधिमरण अपनाने, अज्ञान को त्यागते हुए क्षणिक विषय-सुखो मे अनासक्त रहने, पाँच समिति-तीन गुप्तियो का पालन करने आदि का वर्णन इसमे सहज प्राप्त होता है। अनित्य, अशरण, एकत्व आदि भावनाएँ भी इसके विभिन्न अध्ययनो मे पुष्ट हुई है। मोक्षमार्ग के सभी पक्षो एवं जिज्ञासाओ का आवश्यक समाधान उत्तराध्ययनसूत्र मे उपलब्ध होता है। इसे भगवान् महावीर की अन्तिम वाणी कहा जाता है। परम श्रद्धेय आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी म.सा इसे जैन धर्म की गीता के रूप मे देखते थे।

आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी म सा के अमृतमय एव हृदयस्पर्शी प्रवचन प्राय उत्तराध्ययनसूत्र पर केन्द्रित रहते है। स्व० आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी म सा. ने उत्तराध्ययनसूत्र का मर्म, सरलतम विधि से जन-जन तक पहुँचाने के लिए इसका हिन्दी मे पद्यानुवाद, संस्कृत-छाया,अन्वयार्थ, भावार्थ एव विवेचन आवश्यत्क समझा। आचार्यप्रवर के निर्देशन मे उत्तराध्ययनसूत्र के सम्पूर्ण ३६ अध्ययन इसी प्रकार तैयार हुए। उत्तराध्ययन के तीन भागो मे इन समस्त अध्ययनो का समावेश हुआ है। प्रथम भाग मे १ से १० अध्ययन, द्वितीय भाग मे ११ से २२ अध्ययन तथा तृतीय भाग मे २३ से ३६ अध्ययन समाहित है। ये तीनो भाग सर्वत्र आदृत हुए हैं। प्रथम भाग का यह तीसरा संस्करण प्रकाशित हो रहा है। प्रथम सस्करण सन् १९८३ मे तथा द्वितीय संस्करण सन् १९८७ में प्रकाशित हुआ था। तृतीय संस्करण मे मूल प्राकृत गाथाओं की संस्कृत छाया जोडी गयी है तथा अंशत· यथोचित संशोधन भी किया गया है।

यह संस्करण अखिल भारतीय श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक सघ के अध्यक्ष श्री रतनलाल जी बाफना, जलगाँव के सौजन्य से प्रकाशित हो रहा है। अतः हम उनके हृदय से कृतज्ञ है। सम्पादन-सशोधन मे डॉ० धर्मचन्द जैन, एसोशियेट प्रोफेसर जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय एवं श्री धर्मचन्द जैन, अध्यापक जाजीवाल कलॉ का योगदान रहा है। कम्प्यूटर फोटोटाईपसेटिंग श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ कार्यालय, जोधपुर मे श्री सुनील पुरोहित ने की है। पाठको से निवेदन है कि वे जीवन-उन्नायक भगवद्वाणी रूप उत्तराध्ययनसूत्र का स्वाध्याय कर अपने जीवन को सार्थक बनाये।

चेतनप्रकाश डूंगरवाल
अध्यक्ष

विमलचन्द डागा
मन्त्री

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

लोकोत्तर आगम : उत्तराध्ययनसूत्र

पुस्तक-परिक्रमा

(द्वितीय संस्करण से उद्धृत)

उत्तर का सीधा-सा अर्थ है— उत्तम ! श्रेष्ठ ! इसके अनुसार उत्तर + अध्ययन = का शब्दार्थ होता है— उत्तम शास्त्र ! श्रेष्ठ शास्त्र !

जैन आगम साहित्य मे उत्तराध्ययन सूत्र का अत्यधिक महत्त्व है, गौरव है। यद्यपि आगम-विभाजन व वर्गीकरण की दृष्टि से इसे 'अग-बाह्य' आगम माना है, किन्तु साथ ही यह भी माना गया है कि इस आगम की प्ररूपणा श्रमण भगवान् महावीर ने निर्वाण से कुछ ही समय पूर्व पावापुरी के अन्तिम समवसरण मे की थी। [१]

ऐसा भी कहा जाता है कि भगवान् महावीर ने ५५ अध्ययन दुःखविपाक के, ५५ अध्ययन सुखविपाक के कहे, तदुपरान्त उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनो की प्ररूपणा- देशना की। ३६ वॉ अध्ययन समाप्त करके मरुदेवी माता के 'प्रधान' नामक ३७ वे अध्ययन का वर्णन करते हुए अन्तर्मुहूर्त्त का शैलेशीकरण करके भगवान् सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।

इससे सिद्ध है कि भगवान् महावीर की अन्तिम देशना यही आगम है। इसलिए भी इस आगम का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

यह एक अलग प्रश्न है कि तीर्थङ्कर देव की साक्षात् वाणी होने पर भी इसे 'अंग' आगमो मे क्यो नही गिना गया ? इस सम्बन्ध मे अनेक उलझने है। कुछ आचार्यो का मत है कि इस आगम के अनेक अध्ययन बाद मे स्थविरो या गणधरो द्वारा सकलित/संग्रहीत है, जैसे सम्यक्त्व-पराक्रम, केशी-गौतमीय आदि। अस्तु कुछ भी हो, यह एक निर्विवाद तथ्य है कि यह एक उत्तम अध्यात्मशास्त्र है, साधक जीवन की डायरी है। इस आगम के सूक्त/वचन इतने संक्षिप्त, सारपूर्ण और अध्यात्म गहन है कि वे नि:सन्देह गागर मे सागर की भॉति निर्वाणोन्मुख गुरु द्वारा साधनारत शिष्य को प्रदत्त ज्ञान-मणियॉ या जीवन भर की अध्यात्म-अनुभूतियो का पिटारा कहा जा सकता है।

(१) श्रमणाचार की नींव— विनय

उत्तराध्ययनसूत्र का प्रारम्भ 'विनय' से होता है। सर्वसंयोग-मुक्त अनगार की जीवन-भूमिका विनय है। विनय की पृष्ठभूमि पर ही श्रमणाचार का विशाल भव्य प्रासाद टिका रह सकता है, इसलिए सर्वप्रथम 'विनय' आचार की शिक्षा देकर शैक्ष को जीवन-व्यवहार मे कुशल, निपुण, दक्ष और जागरूक बनाया गया है।

---

१. कल्पसूत्र, सूत्र १४६

'विनय' का अर्थ शिष्टाचार से प्रारम्भ होकर जीवन के सम्पूर्ण सदाचार मे परिव्याप्त है। गुरुजनो के समक्ष कैसे बैठना, बोलना, चलना, उनके अनुशासन मे रहकर किस प्रकार ज्ञानार्जन करना और सम्भाषण एवं वर्तन मे किस प्रकार का विवेक रखना, यह सब जीवन व्यवहार का विज्ञान प्रथम अध्ययन मे सम्मिलित है। छोटी-छोटी बातो का विवेक जीवन मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। बहुधा बडे-बडे ज्ञानी और विद्वान् भी छोटी-छोटी व्यावहारिक गलतियो के कारण जीवन मे असफल या अव्यावहारिक सिद्ध हो जाते है, इसलिए प्रथम अध्ययन के सूत्र वचन अकगणित मे बिन्दु की तरह महत्त्वपूर्ण है।

विनय सम्पूर्ण श्रमणाचार की नीव है, इसलिए प्रथम अध्ययन के उपसंहार मे कहा गया है—

सपुज्जसत्थे सुविणीयसंसए

विनीत का—पूज्य शास्त्र— अर्थात् ज्ञान, जनता मे पूजनीय सम्माननीय होता है। विनीत के सारे संशय नष्ट हो जाते है। और अन्त मे वह **महज्जुई**— महान् द्युति वाला प्रचण्ड तेजस्वी होता है। यह विनयशील की महिमा है।

(२) जीवन कला— परीषह-विजय

विनय की सम्यक्शिक्षा के बाद द्वितीय अध्ययन मे परीषह-विजय' का उपदेश दिया गया है। विनयाचरण से व्यक्ति धीर व साहसी बनता है, और जीवन मे आने वाले परीषहो, कष्टो, अन्तर्-वाह्य संघर्षों में विजयी होकर जीवन सग्राम का सफल विजेता बनता है। परीषह-विजय की विविध शिक्षाएँ, उपसर्गो को जीतने की मनोवैज्ञानिक विधि और मानसिक सन्तुलन बनाये रखने की कला दूसरे अध्ययन मे बताई गई है।

(३) दुर्लभ को सुलभ करो

जीवन-सग्राम का योद्धा कही मानसिक दुर्बलता का शिकार हो कर जीवन से पलायन न कर जाये, यदि पलायन कर गया तो पुनः यह स्वर्णिम अवसर (मानव-जीवन) अत्यन्त दुर्लभ है यह संकेत—

चत्तारि परमंगाणि—दुल्लहाणीह जंतुणो(३.१)

— जीव को ये चार परम अंग अत्यन्त दुर्लभ है, इस वचन से किया गया है।

(४) असंस्कृत जीवन को धर्म का संस्कार

जीवन की गगरी एक कच्चे धागे से बॅधी गहन कूप द्वार मे लटकी हुई है, यह जीवन डोर कितनी नाजुक है, यह मानव तन शीशे के महल की भॉति कितना नाजुक और टूट जाने

पर पर पुनः जुड़ पाना दुःसाध्य है— इस तथ्य का प्रगटीकरण—

असंखयं जीविय मा पमायए (४.१)

जीवन असंस्कृत है, अतः प्रमाद न करो। इस वचन द्वारा किया गया है। साथ ही—

चरे पयाइं परिसंकमाणो (४.७)

पग-पग पर दोषो की सम्भावनाओ को ध्यान मे रखकर अत्यन्त सावधान— जागरूक होकर चले, जीवन के इस कण्टकाकीर्ण पथ पर कही चरित्र की चादर मे कोई कांटा अटक न जाये, इसकी सावधानी रखकर जगत् मे फूँक-फूँक कर कदम रखने का सन्देश चतुर्थ अध्ययन मे है। श्रीमद् राजचन्द्र का एक अनुभव वचन इसी सूत्र के सन्दर्भ मे स्मरणीय है—

"जोता जैर छै:, माथै मरण छै, एम विचारी ने आजना दिवस मा प्रवेश कर।"

(५) मरण-विवेक : मृत्युञ्जयी कला

जागरूक साधक मृत्यु को जीत लेता है, वह न रोग–शोक से डरता है, न मृत्यु से भीत होता है, क्योकि वह आत्मा की अमरता का अनुभव जो कर चुका है। जो अविनाशी-अजर-अमर-विशुद्ध चैतन्य देव का दुर्लभ दर्शन कर लेता है, वह मौत से क्या डरेगा। मौत को ललकारेगा, उस पर विजय प्राप्त करेगा, बस यही मरण-विज्ञान, अकाम-मरणीय— पंचम अध्ययन मे व्यक्त हुआ है। यह जीव दीन-हीन बनकर अनन्त-अनन्त बार मर चुका है, अकाम-मरण की चक्की मे अनन्त बार पिसा जा चुका है। अब ज्ञान प्राप्त हुआ है, चारित्र और गुरु का सान्निध्य मिला है तो अब अकाम-मरण के चक्रव्यूह को भेद कर—

सकाममरणं मरइ (५.३२)

सकाम समाधिपूर्वक, प्रसन्नता के साथ देह का त्याग कर भव भ्रमण से मुक्त हो जाना है।

(६) वीतराग भाव का संस्पर्श

छठे 'क्षुल्लक-निर्ग्रन्थीय' अध्ययन मे मरण-विज्ञानी, आत्म-ज्ञानी साधक को पुनः सावधान किया गया है कि वह शरीर की ममता का तो त्याग करेगा ही, साथ ही अन्तरग के सूक्ष्म 'ग्रन्थ' राग-द्वेष-अज्ञान को भी जड-मूल से काटने का प्रयत्न करे। कोरा भाषा ज्ञान, आत्मा की रक्षा नही कर सकता, इसके साथ चारित्र की विशदता और मन की पवित्रता भी अत्यन्त अपेक्षित है। अतः अध्यात्म को जीवन मे जीने का प्रयत्न करने हेतु इस अध्ययन मे वीतरागता, समत्व-दृष्टि और चारित्र-सम्पन्नता का उपदेश देते हुए कहा है—

छिंद गेहिं सिणेहं च (६.४)

आसक्ति और स्नेह का छेदन कर डालो ।

अप्पमत्तो परिव्वए- (६.१३)

और संसार मे अप्रमत्त भाव से विचरण करो ।

(७) बहुमोला जीवन : अल्पमोले सुख

सातवा उरभ्रीय अध्ययन अनासक्त अनगार को पुनः एक बार सावधान करता है, जैसे ऊँची पहाड की चढाई पर चढने वाला साथी अपने अन्य साथियो को पुनः पुनः मुड़कर पुकारता है, सावधान करता है— संभलकर चलो, सावधान ! वैसे ही इस अध्ययन मे आसक्ति और अज्ञान की तमिस्रा मे भटकते हुए जीवो का दिग्दर्शन किया गया है । अनेक उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि कौडी के मोल करोडो को हारने वाले अन्त मे कैसे पछताते है । स्त्री और स्वादिष्ट भोजन मे आसक्त प्राणी मरकर दुर्गति मे जाता है, अंधकार मे भटकता है, तुच्छ मानवीय काम-भोगो की लालसा मे दिव्य देव सुख तथा अनन्त मोक्ष सुखो को भुलाने वाला मूढ़ प्राणी कितना दयनीय है, यह मेमने के तथा काकिणी एवं आम्रभोजी के उदाहरण से संकेतित किया है । अन्त मे कहा है—

चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे (७.२९)

अधर्म को छोडकर धर्मिष्ठ बनो । आसक्ति को छोड़कर अनासक्त बनकर मुनि अबाल भाव— ज्ञानी पद को प्राप्त करता है ।

अबालं सेवए मुणि (७.३०)

८. लोभ एवं लाभ का चक्र

आठवां कापिलीय अध्ययन मानव मन की एक चिरंतन-समस्या का समाधान देता है । लोभ-अलोभ और राग-विराग का संघर्ष जीवन मे सदा से चलता रहा है । कपिला का अन्तर्द्वन्द्व उसे राग से विराग की ओर उन्मुख करता है, दो मासा स्वर्ण के लिए रात भर भटकने वाला विशाल साम्राज्य से भी तृप्त नही हुआ । लोभ, असन्तोष, अतृप्ति के गहन कूप मे डूबता ही गया, डूबता ही गया, पर डूबते को तिनके का सहारा मिला, वापस मुड़ा और एक सूत्र पर अटक गया—

इइ दुप्पूरए इमे आया (८.१६)

यह मन का गड्ढा दुष्पूर है, लोभ की खाई कभी भरने वाली नही है ।

लाहा लोहो पवड्ढइ (८.१७)

लाभ से लोभ निरन्तर बढता ही जाता है। इस दुस्तर सागर को पार कराने वाली एक ही नाव है—

सव्वेसु कामजाएसु, पासमाणो न लिप्पइ (८.४)

समस्त काम-भोगो मे सब प्रकार से देखता हुआ भी अनदेखा रहे, उनमे डूबे नही, तैरने की कला से काम-सागर को तैरता रहे, यही अष्टम अध्ययन का सन्देश है।

(९) प्रिय-अप्रिय का त्याग : एकमेव आत्मदर्शन

'नमिप्रव्रज्या' नामक नवम अध्ययन वैराग्य और अनासक्ति का जीवन्त शास्त्र है। विदेहराज नमिराज का एकत्व चिन्तन, अन्तर्मुखी विचारणा अध्यात्म की उच्चतम भूमिका है। देह में रहते हुए विदेह भाव का अनुभव करते हुए नमिराज देवराज इन्द्र से कहते है—

पियं न विज्जइ किंचि अप्पियं पि न विज्जइ (९.१५)

(मेरे लिए) इस संसार में न कुछ प्रिय है, न अप्रिय है। मै मेरा आत्मा अकेला है। असीम सुख का क्या ही सुन्दर सूत्र है—

एगंतमणुपस्सओ—(९.१६)

एकान्तदर्शी— पर से विमुख आत्मस्वरूप का चिन्तन करने वाला ही परम सुखी है।

सम्पूर्ण नवम अध्ययन एकत्व भावना तथा विरक्ति का उच्चतम सरस सन्देश देता है।

(१०) जीवन का क्षण-क्षण सार्थक करो

और इसके बाद द्रुमपत्रक दशम अध्ययन मनुष्य-जीवन की चंचलता, असारता और क्षणभंगुरता का उच्च ललित साहित्यिक भाषा मे निदर्शन देता है। जीवन के क्षण-क्षण को सार्थक करने की चेतावनी इसमे है। अप्रमाद का यह महान् सन्देश इस एक अध्ययन मे—

समयं गोयम ! मा पमायए—

पद के द्वारा ३६ बार दुहराया गया है। वास्तव मे शरीर की क्षणभंगुरता का दर्शन कराने वाला एक यह ही अध्ययन वैराग्य-ग्रन्थ का स्थान ले सकता है, इस वैराग्य मार्ग का अनुसरण करने वाला—

संतिमग्गं च बूहए—(१०.३६)

शान्ति-मार्ग को बढाता हुआ, परम शान्तिपद प्राप्त कर लेता है।

वैसे तो सम्पूर्ण ३६ अध्ययन ही वैराग्य और सम्बोधि का सन्देश देते है, किन्तु उनमे भी प्रथम दस अध्ययन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है । इनमे जीवन का सन्देश है । नीति, अनुशासन, शिष्टाचार, धीरता, तितिक्षा, संयम-शूरता, विषय-वितृष्णा, अनासक्ति, जीवन की नश्वरता का बोध, श्रद्धा और चारित्र की दुर्लभता, उसकी आराधना, मरण-विज्ञान या जीवन-मरण की सार्थकता समझाने वाला तत्त्वज्ञान, अलोभ से लोभ को जीतने का सन्देश और अप्रमाद का उद्बोधन— यह शाश्वत सत्य इन दस अध्ययनो मे मुखरित हुआ है ।

जैन जगत के मूर्धन्य मनीषी स्वाध्याय-सामायिक के सन्देशवाहक परमाराध्य आचार्यश्री ने बहुत ही दूरदर्शिता के साथ इन दस अध्ययनो का पद्यानुवाद तैयार करवाया है तथा इसे अन्वयार्थ, भावार्थ और विवेचन से समृद्ध किया है । यह सस्करण वास्तव मे ही स्वाध्यायी संस्करण बन गया है । विशिष्ट क्लिष्ट शब्दो के अर्थ, विवेचन और अर्थान्तर भी इसमे दिये गये हैं । मुख्य-मुख्य विषयो पर टीकागत कथानको को भी परिशिष्ट मे लिया गया है, जिससे गहन विषय मे सरसता का समावेश हो गया है । कहना चाहिए— आचार्य प्रवर की सर्वग्राही सूक्ष्म दृष्टि ने उत्तराध्ययन सूत्र का एक सर्वोपयोगी सस्करण हेतु मार्गदर्शन प्रदान किया है जिससे बहुजन समाज लाभान्वित होगा, आगम स्वाध्याय की रुचि बढेगी, उसमे रसानुभूति जगेगी और पाठक अधिकाधिक स्वाध्यायशील बन सकेगा ।

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के यथानाम तथा गुण इस प्रकाशन का सर्वत्र स्वागत होगा और पाठक परमोपकारी आचार्यश्री का चिरकृतज्ञ रहेगा । ऐसा विश्वास है ।

— श्रीचन्द सुराना 'सरस'

शास्त्र पढ़ने की विधि

ज्ञानवृद्धि के लिये छद्मस्थ आचार्यो के ग्रन्थ और वीतराग वाणी रूप शास्त्रों के पठन-पाठन की विधि मे बहुत अन्तर है। ग्रन्थो के पठन-पाठन मे काल-अकाल और स्वाध्याय-अस्वाध्यायकृत प्रतिबन्ध नही होता। जबकि शास्त्रवाणी, जिसको आगम भी कहते है, उसके पठन-पाठन मे काल आदि का ध्यान रखना आवश्यक है।

वीतरागप्रणीत शास्त्र अन्यान्य ग्रन्थो की तरह हर किसी समय और किसी भी स्थान मे नही पढे जाते। उनके पठन-पाठन का अपना नियत समय है। चार सन्ध्याओ और चार महाप्रतिपदाओ को शास्त्र का पठन-पाठन नही किया जाता। अतिरिक्त दिनो मे जो कालिक शास्त्र है वे दिन रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर मे ही नियमानुसार, शरीर और आकाश सम्बन्धी अस्वाध्यायो को छोड़कर पढे जाते है। इसके अतिरिक्त उपांग, कुछ मूल और कुछ छेद आदि सूत्र उत्कालिक कहे जाते है, वे दिन-रात्रि के चारों प्रहरो मे पढ़े जा सकते हैं।

स्वाध्याय करने वाले धर्मप्रेमी भाई-बहनो को सर्वप्रथम गुरु महाराज की आज्ञा लेकर अक्षर, पद और मात्रा का ध्यान रखते हुए शुद्ध उच्चारण से पाठ करना चाहिये। आगम शास्त्र अंग, उपांग, मूल और छेद रूप से अनेक रूपो मे विभक्त है। उन सब में मुख्य रूप से कालिक और उत्कालिक के विभाग मे सबका समावेश हो जाता है। स्वाध्याय करते समय स्वाध्यायी को यह विवेक रखना चाहिये कि यह स्थान और समय स्वाध्याय के योग्य है या नही ? जहाँ अस्वाध्याय के कारण हों, वहाँ स्वाध्याय करने से ज्ञानाचार में दोष लगने की सम्भावना रहती है। अतः ज्ञान के चौदह अतिचारो मे जिन बातों की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है, वे इस प्रकार है—

१. **वाइद्धं**— सूत्र के अक्षर उलट-पलटकर या पाठ आगे-पीछे करके पढ़ना।
२. **वच्चामेलियं**— एक शास्त्र के पद को दूसरे शास्त्र के पद से मिला कर पढ़ना।
३. **हीणक्खर**— सूत्र पाठ में अक्षर कम करना।
४. **अच्चक्खरं**— सूत्र पाठ में अधिक अक्षर बोलना।
५. **पयहीणं**— पदहीन करना।
६. **विणयहीणं**— बिना विनय के पढ़ना।
७. **जोगहीणं**— योगहीन— मन, वचन और काय के योगों की चपलता से पढ़ना।
८. **घोसहीणं**— घोषहीन— जिस अक्षर का जिस घोष से उच्चारण करना हो, उसका ध्यान नहीं रखना।
९. **सुट्ठुदिण्णं**— पढ़ने वाले पात्र का ध्यान न रखकर अयोग्य को पाठ देना।
१०. **दुट्ठुपडिच्छियं**— आगम पाठ को अविधि से ग्रहण करना।

११. अकाले सज्झाओ कओ– अकाल— जिस सूत्र का जो काल हो उसका ध्यान न रखकर अकाल में स्वाध्याय करना।

१२. काले सज्झाओ न कओ– कालिक-शास्त्र पठन के काल में स्वाध्याय नही करना।

१३. असज्झाइए सज्झाइयं– अस्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय करना।

१४. सज्झाइए न सज्झाइय– स्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय नही करना।

ये ज्ञान के चौदह अतिचार- दोष है।

अस्वाध्याय के प्रकार

अस्वाध्याय का अर्थ यहाँ पर स्वाध्याय का पूर्ण निषेध नही, किन्तु जिस क्षेत्र और काल मे स्वाध्याय का वर्जन किया जाता है, वह अपेक्षित है। इस दृष्टि से अस्वाध्याय मुख्यत· दो प्रकार का होता है— (१) आत्म-समुत्थ और (२) पर-समुत्थ। अपने शरीर मे रक्त आदि निकलने से अस्वाध्याय का कारण होता है, अत· उसे आत्म-समुत्थ कहा है। स्थानांग और आवश्यकनिर्युक्ति आदि मे इसका विस्तार से विचार किया गया है। वहाँ पर दश औदारिक शरीर की, दश आकाश सम्बन्धी, चार पूर्णिमा, चार महाप्रतिपदा और चार सध्याए— कुल मिलाकर ३२ अस्वाध्याय बताई है, जो इस प्रकार है—

दश आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय

(१) उल्कापात– तारे का टूटना। उल्कापात मे एक प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

(२) दिग्दाह– दिशा मे जलते हुए बडे नगर की तरह ऊपर की ओर प्रकाश दिखता हो और नीचे अन्धकार प्रतीत हो, उसे दिग्दाह कहते है। इसमे भी एक प्रहर का अस्वाध्याय काल होता है।

(३) गर्जित– असमय मे मेघ का गर्जन होने पर दो प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

(४) असमय में विद्युत– असमय मे विद्युत चमकने पर एक प्रहर का अस्वाध्याय होता है। आर्द्रा नक्षत्र से स्वाति नक्षत्र तक वर्षा ऋतु मे गर्जित और विद्युत की अस्वाध्याय नही होती है, क्योकि यह समय (ऋतु) गर्जन का होता है।

(५) निर्घात– मेघ के होने या न होने की स्थिति मे, कडकने की आवाज हो, तो अहो-रात्रि का अस्वाध्याय काल होता है।

(६) यूपक– शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया को चन्द्र प्रभा से सध्या आवृत्त होने के कारण तीनो दिन, रात्रि के प्रथम प्रहर मे अस्वाध्याय माना जाता है।

(७) **धूमिका**— कार्तिक से माघ मास तक मेघ का गर्भ जमता है, इस समय जो धूम वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धूवर पड़ती है, वह धूमिका कहलाती है, जब तक धूमिका रहती है, तब तक स्वाध्याय का वर्जन करना चाहिये ।

(८) **मिहिका**— शीतकाल मे सफेद वर्ण की सूक्ष्म अप्काय रूप धूवर गिरती है, उसे मिहिका कहते है, जब तक धूवर गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय माना गया है ।

(९) **यक्षादीप्त**— (जक्खालित्ते) कभी-कभी किसी दिशा से बिजली चमकने जैसा रुक-रुक कर प्रकाश होता हो, उसे यक्षादीप्त कहते है । जब तक वह साफ दिखाई पडे, अस्वाध्याय मानना चाहिए ।

(१०) **रजोद्‌घात**— वायु के कारण आकाश मे चारो ओर जो धूल छा जाती है, उसे रजोद्‌घात कहते हैं । वह जब तक रहे तब तक अस्वाध्याय माना है ।

दश औदारिक शरीर सम्बन्धी अस्वाध्याय

(११-१३) पंचेन्द्रिय संबन्धी— (क) तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय के हाड़, मॉस, रक्त साठ हाथ के अन्दर हो तथा साठ हाथ के भीतर बिल्ली आदि ने चूहे को मारा हो तो अहोरात्रि का अस्वाध्याय कहा गया है ।

(ख) यदि मनुष्य सम्बन्धी हाड़, मॉस और रक्त आदि हो तो सौ हाथ दूर तक अस्वाध्याय कहा गया है ।

काल की अपेक्षा टीकाकारो ने एक अहोरात्रि का समय माना है, किन्तु वर्तमान मे कलेवर को हटाकर स्थान को धोकर साफ कर लेने के बाद अस्वाध्याय नहीं माना जाता है ।

(ग) बहिरंग के ऋतुधर्म का तीन-दिन और बालक-बालिका के जन्म का क्रमशः सात और आठ दिन का अस्वाध्याय माना जाता है ।

(१४) अशुचि— मल, मूत्र और गटर आदि स्वाध्याय स्थल के पास हो अथवा मलादि दृष्टिगोचर हो तो वहाॅ स्वाध्याय नही करना चाहिये ।

(१५) श्मशान— श्मशान के चारो और सौ-सौ हाथ तक अस्वाध्याय माना गया है ।

(१६) चन्द्रग्रहण— चन्द्रग्रहण में कम से कम आठ और अधिक से अधिक बारह प्रहर तक अस्वाध्याय माना गया है । आचार्यो ने यदि उदित चन्द्र ग्रसित हो तो चार प्रहर रात के व चार प्रहर दिन के अस्वाध्याय काल मानने का निर्णय किया है ।

(१७) सूर्यग्रहण— सूर्यग्रहण का कम से कम आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह

प्रहर तक अस्वाध्याय माना गया है। यदि पूरा ग्रहण हो तो सोलह प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

(१८) पतन— राजा के निधन होने पर; राजा या राज्याधिकारी के निधन होने पर जब तक दूसरा राजा सत्तारूढ न हो तब तक अस्वाध्याय मानना चाहिये।

(१९) राजव्युद्ग्रह— राजाओ मे परस्पर संग्राम हो और जब तक शान्ति न हो, स्वाध्याय नही करना चाहिये।

(२०) औदारिक शरीर— उपाश्रय मे तिर्यञ्च पचेन्द्रिय का कलेवर हो तो साठ हाथ और यदि मनुष्य का कलेवर हो तो सौ हाथ अस्वाध्याय मानना चाहिये।

(२१-२८) चार महापूर्णिमा— (१) आषाढ़ी पूर्णिमा, (२) आश्विनी पूर्णिमा, (३) कार्तिकी पूर्णिमा और (४) चैत्र की पूर्णिमा।

चार प्रतिपदा— (१)श्रावणी प्रतिपदा, (२) कार्तिक कृष्ण प्रतिपदा, (३)मृगसर कृष्ण प्रतिपदा और (४) वैशाख कृष्ण प्रतिपदा। इन दिनो मे इन्द्र महोत्सव आदि होते है। अत. इन आठ दिनो मे अस्वाध्याय माना गया है।

(२९-३२) चार संध्या— दिन एवं रात्रि के सन्धिकाल अर्थात् प्रात., साय, मध्याह्न और मध्य रात्रि मे दो घडी अर्थात् एक मुहूर्त्त का अस्वाध्याय माना गया है।

आगम तीन प्रकार का होता है— (१) मूल पाठ को सुत्तागम, (२) अर्थ को अर्थागम और (३) मूल पाठ व अर्थ दोनो मिला कर तदुभयागम कहलाता है।

अस्वाध्याय काल मे मूल पाठ पढकर अर्थ वाचना करने कराने का निषेध समझना चाहिए। इस प्रकार अस्वाध्याय को छोड़कर शुद्ध उच्चारण से शास्त्र का स्वाध्याय करना महती कर्म निर्जरा का कारण होता है। अतः सुज्ञ पाठको को प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिए।

उत्तराध्ययन सूत्र मे प्रभु ने कहा है कि—

सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ।

अर्थात् स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म क्षय होता है। प्रतिदिन स्वाध्याय की साधना से अज्ञ विज्ञ, विज्ञ विशेषज्ञ तथा विशेषज्ञ सर्वज्ञ भी बन सकता है।



अनुक्रमणिका



प्रथम अध्ययन : विनय श्रुत

(अध्ययन-सार)

उत्तराध्ययन सूत्र भगवान् महावीर स्वामी द्वारा निर्वाण के पूर्व पावापुरी मे दिया हुआ अन्तिम विशिष्ट उपदेश है । इसमे एक-एक अध्ययन उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है, इस कारण भी इसका 'उत्तराध्ययन' नाम सार्थक है ।

इस प्रथम अध्ययन का नाम— ' विनय-श्रुत' है, अर्थात्- विनय से सम्बन्धित श्रुतज्ञान अथवा विनय सम्बन्धी सूत्र । धर्म का मूल विनय है । इसके बिना मोक्ष की कोई भी साधना फलीभूत नही हो सकती । अतः धर्म का यह प्रवेश-द्वार है । यही कारण है कि उत्तराध्ययन सूत्र मे धर्म की शिक्षा देने के लिए सर्वप्रथम विविध पहलुओ से विनयाचार का उपदेश दिया गया है । क्योकि माता-पिता आदि कुटुम्बीजनो तथा घर-बार धन-सम्पत्ति आदि बाह्य तथा विषय, कषाय, आरम्भ-समारम्भ आदि आन्तरिक संयोगो को त्याग कर जो भिक्षाजीवी अनगार बना है, उसके लिए साधु-धर्म मे प्रवेश करते ही विनय का प्रशिक्षण आवश्यक है ।

'वि' और 'नय' दो शब्द मिलकर विनय शब्द बनता है । जिसका व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ होता है— 'जो विशेष रूप से सुख-शान्ति और उन्नति की ओर ले जाए अथवा जो दोषो को विशेष रूप से हटाए ।' वास्तव मे विनयाचरण साधक को सुख-शान्ति के आंशिक धाम-देवलोक मे ले जाता है, एवं क्रमश सुख-शान्ति के शाश्वत परमधाम-मोक्ष मे पहुँचाता है । यह इस अध्ययन की अन्तिम गाथाओ से स्पष्ट है । विनय से ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा क्षमा, मृदुता, ऋजुता, सेवा, देव-गुरु-धर्म पर श्रद्धा आदि गुणोकी पुष्टि, उन्नति तथा अभिवृद्धि होती है । साथ ही विनय से अहकार, मद, कठोरता, हिंसाभाव, घृणा, द्वेष आदि दोष-दुर्गुण भी हटते हैं, यह तथ्य भी इस अध्ययन मे आई हुई गाथाओ से ध्वनित होता है ।

.आगम मे विनय के सात प्रकार बताये है— (१) ज्ञानविनय, (२) दर्शनविनय, (३) चारित्रविनय, (४) मनविनय, (५) वचनविनय, (६) कायविनय और (७) उपचारविनय ।

प्रस्तुत अध्ययन की दूसरी-तीसरी गाथा मे विनीत और अविनीत का लक्षण उपचारविनय के आधार पर किया गया है । उपचार का अर्थ है— गुरुजनो के प्रति नम्रता, शुश्रूषा, अनुशासन एवं शिष्टाचार-परिपालन । इस दृष्टि से उपचारविनय के सात विभाग है-

(१) **अध्यासवृत्तिता (समीप रहना)** ।
(२) **परछन्दानुवृत्तिता (गुरुजनों के अभिप्रायानुसार अनुवर्त्तन करना)** ।
(३) **कार्यहेतु (कार्यसिद्धि के लिए अनुकूल वर्त्तन करना)** ।
(४) **कृतप्रतिक्रिया (कृत उपकार के प्रति अनुकूल वर्तन करना)** ।
(५) **आर्त्तगवेषण (अस्वस्थ-आर्त्त की गवेषणा करना)** ।
(६) **देशकालज्ञता (देश-काल को समझना)** ।

(७) सर्वार्थ-अप्रतिलोमता (प्रयोजनसिद्धि के लिए प्रतिकूल व्यवहार को छोड़कर अनुकूल वर्त्तन करना) ।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र के आचार का सम्यक् पालन करना ज्ञानादि विनय है। इसके अनुसार आचार को भी विनय कहा गया है। इस दृष्टि से चारित्रविनय के सन्दर्भ में दुःशील के आचरण, स्वभाव और उसके परिणाम का वर्णन करते हुए कल्याणार्थी साधक को शीलप्राप्ति के लिए विनय मे आत्मा को स्थिर करने और उसके फलस्वरूप संघ-गच्छ आदि मे प्रतिष्ठित होने का निरूपण चौथी से सातवी गाथा तक मे किया गया है।

आठवी गाथा मे ज्ञानविनय के सन्दर्भ में साधक को गुरुजनो के निकट प्रशान्त और मितभाषी होकर सार्थक पदो की शिक्षा ग्रहण करने का उपदेश है। नौवी से चौदहवी गाथा तक मनविनय, वचनविनय, ज्ञानविनय तथा उपचार विनय के सन्दर्भ मे पन्द्रह सूत्री अनुशासन का उपदेश है। पन्द्रहवी-सोलहवी गाथा मे आत्मदमन और परदमन का अन्तर एवं परिणाम बताते हुए परच्छन्दानुवर्तिता नामक उपचारविनय का उपदेश दिया गया है। इसके पश्चात् सत्रहवी से बाईसवीं गाथा तक कायविनय के सन्दर्भ में अनाशातना विनय की आचारविधि बताई गई है।

२३ वी गाथा मे ज्ञानविनय के सन्दर्भ में विनयी शिष्य को शास्त्रज्ञान प्रदान करना, आचार्य का कर्तव्य बताया गया है। २४वी और २५वीं गाथा में वचनविनय का उपदेश है। २६वी गाथा मे चारित्रविनय के सन्दर्भ मे ब्रह्मचर्य गुप्ति के पालन में सावधानी रखने की प्रेरणा दी गई है। २७वी से २९वी गाथा तक में विनीत और अविनीत के द्वारा गुरु के कठोर अनुशासन को स्वीकार-अस्वीकार करने का कारण और फल बताया है। ३०वीं गाथा मे कायविनय के सन्दर्भ मे गुरु-समक्ष बैठने की विधि का उपदेश है। ३१वीं गाथा मे चारित्रविनय के सन्दर्भ मे यथाकालचर्या का विधान किया गया है। इसके पश्चात् ३२वी से ३६वी गाथा तक चारित्र-विनयान्तर्गत एषणासमिति के सन्दर्भ मे भिक्षाग्रहण और आहार-सेवन की विधि बताई गई है। ३७वी से ४१वी गाथा तक परच्छन्दानुवर्तिता एवं कृतप्रतिक्रियारूप उपचारविनय के सन्दर्भ मे विनीत और अविनीत शिष्य की अनुशासनविषयक दृष्टि का अन्तर बताया गया है।

इसके पश्चात् ४२वीं से ४८वीं गाथा तक विनीत साधक द्वारा किये गए पूर्वोक्त प्रकार के विनयाचरण की लौकिक-लोकोत्तर फलश्रुति बताई गई है।

इस प्रकार समग्र अध्ययन की परिक्रमा का निष्कर्ष यह है कि स्व-परहित, आत्मशान्ति, निर्द्वन्द्वता, सरलता, निरभिमानता, अनासक्ति, सामाजिक एवं सघीय व्यवस्था, मर्यादा एवं शान्ति के लिए विनयधर्म का सांगोपांग आचरण करना अनिवार्य है। ■

प्रथम अध्ययन : विनय श्रुत

पढमं अज्झयणं : विणयसुयं

विनय-प्ररूपण की प्रतिज्ञा

मूल— संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो ।
विणयं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥१ ॥

संस्कृत-छाया— सयोगाद् विप्रमुक्तस्य, अनगारस्य भिक्षो ।
विनय प्रादुःकरिष्यामि, आनुपूर्व्या शृणुत मे ॥१ ॥

पद्यानुवाद— द्रव्यभावसयोगमुक्त, भिक्षाजीवी अणगारी का ।
विनयधर्म को प्रकट करूँ, अनुक्रम से श्रवण करो उसका ॥१ ॥

अन्वयार्थ— संजोगा— पुत्र, मित्र, धन, कनक आदि बाह्य और काम, क्रोध आदि अन्तरंग सयोग (सग) से,[1] **विप्पमुक्कस्स—** (जो) अलग है, **अणगारस्स—** गृहत्यागी और **भिक्खुणो—** भिक्षाजीवी है, उसके **विणयं—** विनय (धर्म) को, **पाउकरिस्सामि—** प्रकट करूँगा । (उसे) **मे—** मुझसे, **आणुपुव्विं—** अनुक्रम से, **सुणेह—** सुनो । ॥१ ॥

भावार्थ— 'जो माता-पिता आदि के पारिवारिक सम्बन्ध रूप बाह्य सयोग से और विषय, कषाय आदि के सम्बन्धरूप आन्तरिक सयोग से (ज्ञान-भावनादि विविध प्रकार से), विमुक्त-दूर (पृथक) है; तथा जिसका अपना कोई घर नही है, या जो दूसरो (गृहस्थों) के लिए बने हुए घरो मे रहते हुए भी उस पर ममत्व और आसक्ति से रहित है, और पकाने पकवाने आदि की प्रवृत्तियो से निवृत्त होने से जो निर्दोष और सर्वसम्पत्करी भिक्षा पर जीवन निर्वाह करता है, उसके विनय अर्थात् विशिष्ट या विविधनय (नीति) (साधुजनो द्वारा सेवित सम्यक् आचार) को प्रकट करूँगा, उसे तुम मुझसे क्रमश दत्तचित्त होकर श्रवण करो ।' यह बात श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य श्री जम्बूस्वामी से प्रतिज्ञापूर्वक कह रहे है ।

प्रकारान्तर से शास्त्रकार गृहत्यागी साधुओ के विनय-आचार को कहने की प्रतिज्ञा करते हुए श्रोताओ को ध्यान से सुनने की प्रेरणा दे रहे है ॥१ ॥

---

१ (क) सयोग, चाहे बाह्य हों, चाहे आन्तरिक, दुःखो की परम्परा बढाते हैं, जिनका शीघ्र अन्त नही आता इसीलिए अनगार इनसे दूर रहते है ।
(ख) सयोग सर्वथा त्याज्य हैं, इस पर देखिये प्रथम अध्ययन के परिशिष्ट में कथा स १ ।

विनीत और अविनीत का लक्षण

मूल— **आणानिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए।**
इंगियागारसंपन्ने, से 'विणीए' त्ति वुच्चइ। २॥

संस्कृत-छाया— आज्ञानिर्देशकरः, गुरूणामुपपातकारकः।
इङ्गिताकारसंपन्नः, स विनयीत्युच्यते ॥२॥

पद्यानुवाद— गुरु आज्ञा निर्देश करे, गुरुवर-पद की सेवा करता।
इगित-चेष्टा का विज्ञ श्रमण सुविनीत शिष्य वह कहलाता ॥२॥

मूल— **आणाऽनिद्देसकरे, गुरूणमणुववायकारए।**
पडिणीए असंबुद्धे, 'अविणीए' त्ति वुच्चइ ॥३॥

संस्कृत-छाया— आज्ञाऽनिर्देशकरः, गुरूणामनुपपातकारकः।
प्रत्यनीकोऽसंबुद्धः, अविनयीत्युच्यते ॥३॥

पद्यानुवाद— जो गुरु-आज्ञा से विमुख रहे, ना सेवा गुरु की है करता।
वह प्रत्यनीक सम्बोधरहित, अविनीत शिष्य है कहलाता ॥३॥

अन्वयार्थ— **आणानिद्देसकरे**[1]— आज्ञा और निर्देश का पालन करता है, **गुरूणं**— गुरुओ के, **उववायकारए**[2]— पास रहकर सेवा-शुश्रूषा करता है, और **इंगियागारसंपन्ने**— इगित= शरीर की चेष्टा और आकार से मनोभावो को समझता है, **से**— वह **विणीए त्ति**— विनीत, **वुच्चइ**— कहलाता है ॥२॥

आणाऽनिद्देसकरे— जो आज्ञा और निर्देश का पालन नहीं करता, **गुरूणमणुववायकारए**— गुरुजनो की सेवा से दूर रहता है, **पडिणीए**[3]— विरोधी-प्रतिकूल आचरण वाला, **अंसबुद्धे**— बोधरहित है, वह **अविणीए त्ति**— अविनीत, **वुच्चइ**— कहलाता है ॥३॥

---

१. **आज्ञा और निर्देश : तीन अर्थ**— (१) आज्ञारूप निर्देश, (२) आज्ञा = आगमोक्त विधि या उपदेश तथा निर्देश = आगम से अविरुद्ध गुरुवचन, और (३) आज्ञा = गुरुवचन, यह करो, यह मत करो, इत्यादि, **निर्देश**— ऐसा करना चाहिए, अथवा यह कार्य आपके आदेशानुसार ही करूँगा, शिष्य द्वारा इस प्रकार का निश्चयात्मक विचार प्रगट करना।

२. **उपपातकारक : दो अर्थ**— (१) उपपात = सेवा-सुश्रूषा करने वाला, (२) समीप रहने वाला, जहाँ बैठा हुआ गुरु को दीखे और उनका शब्द सुन सके।

३. **प्रत्यनीक**— प्रतिकूल आचरणवाला। इस पर कथा देखिये प्रथम अध्ययन का परिशिष्ट कथा सं. २।

भावार्थ— तीर्थङ्कर के अभाव मे मुमुक्षु साधक के लिए गुरु का प्रमुख स्थान है। गुरु के प्रति विनय उसके जीवन-निर्माण का मूलाधार है। इसीलिए विनयी शिष्य की प्राथमिक भूमिका मे यहाँ तीन बाते आवश्यक बताई है— (१) गुरु की आज्ञा और निर्देश के अनुसार प्रवृत्ति करना, (२) गुरुजनो के सान्निध्य मे रहकर उनकी सेवा शुश्रूषा करना, और (३) गुरु की चेष्टा और आकृति को देखकर उनके मनोभावो को समझ लेना। जिसमे ये तीन लक्षण हो, वही 'विनीत' कहलाता है।

गुरु के द्वारा दी गई विधेयात्मक या निषेधात्मक आज्ञा वीतराग भगवान् द्वारा प्रतिपादित आगमो मे विहित उत्सर्ग-अपवादमार्ग की अपेक्षा से होती है, इसलिए शिष्य के लिए अत्यन्त हितकर होने से शिरोधार्य करके तदनुरूप आचरण करने के लिए उसे वचनबद्ध होना आवश्यक है। गुरु के निकट रहने से समय-समय पर उसे अनेक बातो का बोध हो जाता है तथा सेवा-शुश्रूषा से निर्जरा का परम लाभ भी होता है। गुरु की आज्ञा एव निर्देश से तप-त्याग एव आत्म-साधन मे प्रवृत्ति करने से मुमुक्षु साधक को सबसे बडा लाभ यह है कि जहाँ कही भी भूल होगी, वहाँ गुरुदेव सावधान करके उसे सुधारने मे सहायता करेगे, उसकी आत्मशुद्धि और कर्मक्षय का मार्ग भी प्रशस्त कर सकेगे ॥२॥

जो गुरुजनो की आज्ञा और निर्देश के अनुसार नही चलकर मनमाना आचरण करता है, उनके पास नही रहता तथा उनकी सेवा-शुश्रूषा से कतराता है, तथा उनके प्रतिकूल व्यवहार एवं आचरण करता है, वह अविनीत है। अविनीत विरोधी विचार रखता है और अपने विचार को ही सत्य और शास्त्रसम्मत समझता है, इसी मिथ्या-आग्रह के कारण वह वस्तुतत्त्व के बोध से वचित रहता है।

वस्तुत. जो गुरु की आज्ञा के पालन और सेवा-शुश्रूषा से दूर भागता है और गुरु का मिथ्या आलोचक बनकर उनके विरुद्ध चलता है, वह अविनीत और दुर्बोध सभी प्रकार के उत्तम लाभो से वचित रहता है ॥३॥

अविनीत दुःशील का निष्कासन

मूल— जहा सुणी पूइ-कण्णी निक्कसिज्जइ[१] सव्वसो।
एवं दुस्सील-पिडणीए मुहरी निक्कसिज्जइ ॥४॥

संस्कृत-छाया— यथा शुनी पूतिकर्णी, निःकास्यते सर्वत·।
एव दु शील - प्रत्यनीक, मुखारि निःकास्यते ॥४॥

१. निक्कसिज्जई— लुधियाना से प्रकाशित सस्करण।

अन्वयार्थ— **साणस्स**— कुतिया के, **सूयरस्स**— सूअर के, **य**— और, **नरस्स**— अविनीत मनुष्य के, **भावं**— भाव-दुष्परिणामात्मक उदाहरण को, **सुणिया**— सुनकर, **अप्पणो**— अपनी आत्मा का, **हियं**— हित, **इच्छंतो**— चाहने वाले (साधक) को, **अप्पाणं**—अपनी आत्मा को, **विणए ठवेज्ज**— विनय धर्म मे स्थापित करना चाहिए ॥६ ॥

तम्हा— इसलिए, **विनयं**— विनय धर्म का, **एसेज्जा**— आचरण करे, **जओ**— जिससे कि, **सीलं**— शील की, **पडिलभे**— प्राप्ति हो (फिर) **बुद्धपुत्त नियागट्ठी**— (जो) बुद्धपुत्र-प्रबुद्धगुरु का पुत्रवत् प्रिय मोक्षार्थी शिष्य है, (वह) **कण्हुइ**— (गच्छ, गण या सघादि) कही से भी, **न**— नही, **निक्कसिज्जइ**— निकाला जाता ॥७ ॥

भावार्थ— सडे कान वाली कुत्तिया, सूअर और अविनीत मनुष्य को प्राप्त होने वाले हीनभाव (तिरस्कार एवं धिक्कार) को सुनकर आत्महितैषी साधक को दुःशीलता का मार्ग छोडकर विनयधर्म मे अपने आपको स्थिर करना चाहिए ॥६ ॥

अविनय दोष और दुर्गति का कारण है, इसलिए आत्महित चाहने वाला साधक अपने मे विनय की एषणा करे, अर्थात्- विनय से अपने को ओतप्रोत कर ले, ताकि शील (सदाचार) की उपलब्धि हो सके, क्योकि ऐसा होने पर प्रबुद्ध-गुरुपुत्र मोक्षार्थी या नित्य गुरुसेवार्थी साधक को कही से भी तिरस्कृत या बहिष्कृत नही किया जाता ।

प्रस्तुत गाथाओ मे विनय का फल शील की प्राप्ति बताया गया है, और जो शीलवान् एव विनयी होता है, वह आचार्य आदि का प्रीतिपात्र शिष्य हो जाता है, फिर उसका कही भी अनादर नही होता, वह सर्वत्र आदर-सत्कार पाता है ॥७ ॥

प्रशान्त और विनीत होकर सार्थक पदों की शिक्षा ले

मूल— **णिसंते [१] सियाऽमुहरी, बुद्धाणं अन्तिए सया ।**
अट्ठजुत्ताणि [२] सिक्खिज्जा, णिरट्ठाणि [३] उ वज्जए ॥८ ॥

संस्कृत-छाया— निःशान्तः स्यादमुखारिः, बुद्धानामन्तिके सदा ।
अर्थयुक्तानि शिक्षेत, निरर्थानि तु वर्जयेत् ॥८ ॥

पद्यानुवाद— सदा शान्त बन गुरुचरणो मे, रहे सदा कर मितभाषण ।
अर्थयुक्त वचनो को सीखे, व्यर्थ न करे हृदय धारण ॥८ ॥

---

१. णिसंते = निःशान्तःतीन अर्थ— (१) जिसका अन्तःकरण क्रोधरहित हो, (२) बाहर से भी आकृति प्रशान्त हो, और (३) जिसकी चेष्टाएँ अत्यन्त शान्त हों ।

२. अट्ठजुत्ताणि = अर्थयुक्त तीन अर्थ— (१) आगमवचन, (२) मोक्ष के उपाय और (३) अर्थ सहित ।

३. निरट्ठाणि = निरर्थक तीन अर्थ— (१) लोकोत्तर अर्थरहित, (२) निरुक्त या अर्थ से शून्य शब्द, (३) विकथादि निरर्थक बातें ।

अन्वयार्थ—साधु, **बुद्धाणं**— बुद्ध-गुरुजनो के, **अंतिए**— समीप, **सया**—सदैव, **णिसंते**— प्रशान्त (और) **अमुहरी**— परिमितभाषी (होकर), **सिया**— रहे । **अट्ठजुत्ताणि**— अर्थयुक्त-सार्थक पदो को, **सिक्खिज्जा**— सीखे (और) **निरट्ठाणि उ**— जो निरर्थक-मोक्षपुरुषार्थ के विपरीत हो, उन पदो को **वज्जए**— छोड दे ॥८ ॥

भावार्थ— बुद्धिमान शिष्य गुरुजनो के सान्निध्य मे, अन्तर से क्रोधरहित होकर तथा बाहर से आकृति, चेष्टा आदि से पूर्ण शान्त होकर रहे, तथा वाचाल न बने, बिना प्रयोजन के असम्बद्ध न बोले, क्योकि आचार्य या गुरु देवतुल्य होते है, उनके पास प्रशान्त, विनीत एव मितभाषी होकर ही रहना चाहिए । तभी उनसे ग्रहणशिक्षा और आसेवनशिक्षा प्राप्त की जा सकती है । किन्तु विवेकी एवं शिक्षाशील साधक गुरुजनो से मोक्षपुरुषार्थ मे उपयोगी वीतरागभाव जागृत करने वाले, आगमवचनो को अर्थसहित सीखे । तथा जो निरर्थक यानी लोकोत्तर अर्थशून्य— साधुधर्मविरुद्ध लौकिक शास्त्रवचन है, अथवा स्त्री आदि की रागवर्द्धक विकथाओ से परिपूर्ण पद है, या निरुक्त-शून्य पद है, जिनका कोई अर्थ नही होता, उन्हे सीखना छोड़े, क्योकि आत्मार्थी मुमुक्षु साधक को सासारिक एव विषयरागवर्द्धक-लौकिक ग्रन्थ-वचनो को सीखने मे अपना अमूल्य समय नही खोना चाहिए ॥८ ॥

अनुशासनात्मक विनय के सूत्र

मूल— **अणुसासिओ**[१] **न कुप्पेज्जा, खंतिं सेविज्ज पंडिए ।**
खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए ॥९ ॥

संस्कृत-छाया— अनुशासितो न कुप्येत्, क्षातिं सेवेत पण्डितः ।
क्षुद्रै सह संसर्ग, हास्य क्रीडां च वर्जयेत् ॥९ ॥

पद्यानुवाद— पाकर गुरुजन का अनुशासन, ना विज्ञ शिष्य मन क्रोध करे ।
तज क्षुद्र सग और हसी खेल, धारण कर शान्ति सदा विचरे ॥९ ॥

अन्वयार्थ—**अणुसासिओ**— अनुशासित-गुरु द्वारा कठोर वचनो से शिक्षा मिलने पर (समझदार शिष्य), **न कुप्पेज्जा**— क्रोध न करे । **पंडिए**— विद्वान् साधु, **खंतिं**— क्षमा का, **सेविज्ज**— सेवन-आराधना करे । **खुड्डेहिं सह**— क्षुद्रजनो (या बालजनो) के साथ, **संसग्गिं**— ससर्ग-सम्पर्क से दूर रहे, (उनके साथ) **हासं**— हॅसी-मजाक, **च**— और, **कीडं**— क्रीडा (खेल) भी, **वज्जए**— न करे ॥९ ॥

भावार्थ— सद्-असद्-विवेकी साधु विनय की सर्वाङ्गीण आराधना के लिए गुरुजनो द्वारा अनुशासित होने (कठोर वचनो से शिक्षा दिये जाने) पर क्रोध न करे, क्षमा भाव धारण-

---

१. अनुशासित का अर्थ— गुरुजनों के सान्निध्य में रहते हुए कदाचित् कोई स्खलना, त्रुटि, दोप या अपराध होने पर, गुरुजनों द्वारा कठोर वचनों से शिक्षा, उपालम्भ आदि देना ।

-करे। वह अनुशासन मे रहने की दृष्टि से क्षुद्र जनों से कोई सम्पर्क न रखे, न ही उनके साथ हँसी-मजाक और क्रीड़ा (खेल) करे।

आशय यह है कि बुद्धिमान शिष्य को सदा गुरुजनो के अनुशासन मे रहकर अपनी विनयमूलक संयम-साधना करनी चाहिए ॥९ ॥

मूल— मा य चंडालियं [१] कासी, बहुयं मा य आलवे।
कालेण य अहिज्जित्ता, तओ झाएज्ज एगगो [२] ॥१० ॥

संस्कृत-छाया— मा च चाण्डालिकं कार्षीः, बहुक मा चालपेत्।
कालेन चाधीत्य, ततो ध्यायेदेककः ॥१० ॥

पद्यानुवाद— व्यवहार क्रूर ना करे कभी, ना व्यर्थ किसी से बात करे।
उचित समय पर पढे पाठ, और बैठ अकेला ध्यान धरे ॥१० ॥

अन्वयार्थ— (शिष्य आवेश मे आकर) **चंडालियं—** कोई चाण्डालिक कर्म (अतिक्रोधवश क्रूरकर्म या असत्य भाषण), **मा कासी—** न करे, **य—** और, **बहुयं—** बहुत अधिक, **मा आलवे—** न बोले। **कालेण—** अध्ययन (स्वाध्याय)-काल मे, वह **अहिज्जित्ता—** अध्ययन करके, **तओ—** उसके पश्चात्, **एगगो—** एकाकी (या अकेले मे) **झाएज्ज—** ध्यान (या चिन्तन) करे ॥१० ॥

भावार्थ— अनुशासनप्रिय शिष्य को चाहिए कि वह क्रोधावेश मे आकर कोई अनिष्ट कर्म या मिथ्या-आचरण न करे, बहुत अधिक न बोले, मितभाषी हो। अधिक बोलने से उसके अध्ययन-मनन में बाधा पहुँचेगी। अतः वह अध्ययनकाल मे अध्ययन (स्वाध्याय) करे और उसके बाद एकान्त मे अकेला शान्ति से चिन्तन (या ध्यान) करे ॥१० ॥

मूल— आहच्च चंडालियं कट्टु, निण्हविज्ज कयाइ वि।
कडं कडेत्ति भासेज्जा, अकडं नो कडेत्ति य ॥११ ॥

संस्कृत-छाया— कदाचित् चाण्डालिकं कृत्वा, न निह्नुवीत कदापि च।
कृतं कृतमिति भाषेत, अकृत नो कृतमिति च ॥११ ॥

पद्यानुवाद— कर चण्डालोचितकर्म भिक्षु, सहसा न छिपाये उसे कभी।
यदि बुरा किया तो कहे बुरा, और 'नही किया' तो कहे 'नही' ॥११ ॥

---

१. चंडालियं-चाण्डालिक · दो अर्थ— (१) क्रोध के वशीभत होकर असत्य बोलना (२) चाण्डाल जैसा क्रूर-कर्म।

२. अकेले ध्यान का तात्पर्य— प्राचीन लोक परम्परा यह है कि ध्यान अकेला करे, अध्ययन दो व्यक्ति करें, और ग्रामान्तरगमन तीन आदि व्यक्ति करे, भोजन, प्रतिक्रमण और स्वाध्याय आदि मंडली में करे।

अन्वयार्थ— **आहच्च**— कदाचित्, **चंडालियं**— क्रोधादि आवेश चाण्डालोचित क्रूर कर्म या असत्याचरण, **कट्टू**— कर भी ले (तो उसे) **कयाइ वि**— कभी भी, **न निण्हविज्ज**— न छिपाए। (यदि) **कडं**— दोष किया हो, तो **कडेत्ति**— किया है, ऐसा, **भासेज्जा**— कहे, **य**— और, **अकडं**— नही किया है तो, **नो कडेत्ति**— नही किया है, ऐसा कहे ॥११ ॥

भावार्थ— कदाचित् आवेशवश कोई चाण्डालिक- अनुचित अपकर्म हो जाए तो साधु उसे (गुरु से) कभी न छिपाए। (यदि कोई अकरणीय दुष्कृत्य) किया हो तो 'किया' कहे और न किया हो तो 'नही किया' कहे ॥११ ॥

मूल— **मा गलियस्सेव[1] कसं, वयणमिच्छे पुणो पुणो।**
कसं व दट्ठुमाइण्णे[2], पावगं परिवज्जए ॥१२॥

संस्कृत-छाया— मा गलिताश्व इव कश, वचनमिच्छेत् पुनः पुन'।
कशमिव दृष्ट्वाऽऽकीर्ण', पापक परिवर्जयेत् ॥१२ ॥

पद्यानुवाद— गुरुवचनो के चाबुक की, ना गलित अश्व-सम चाह करे।
आकीर्ण अश्ववत् वचनकशा को, देख पाप का त्याग करे ॥१२ ॥

अन्वयार्थ— **गलियस्सेव**— जैसे गलिताश्व (हीन जाति का अडियल घोडा) **पुणो पुणो**— बार-बार, **कसं**— चाबुक खाने की चेष्टा करता है, वैसे सुशिष्य बार-बार गुरु के, **वयणं**— आदेश-वचनो की, **मा इच्छे**— अपेक्षा न करे, किन्तु जैसे, **आइण्णे**— आकीर्ण-उत्तम जाति का प्रशिक्षित अश्व, **कसं**— चाबुक को, **दट्ठुं**— देखकर (देखते ही) उन्मार्ग को छोड देता है, वैसे ही विनीत शिष्य गुरु के आकार और चेष्टा आदि के सकेत को देखते ही, **पावगं**— पापकर्म को, **परिवज्जए**— छोड दे ॥१२ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार अडियल घोडा अश्वारोहक द्वारा बार-बार चाबुक फटकारे जाने की अपेक्षा रखता है, उस प्रकार अनुशासनप्रिय शिष्य बार-बार गुरुवचन-रूप चाबुक की अपेक्षा न रखे, किन्तु जैसे आकीर्ण जाति का सधा हुआ घोडा चाबुक देखते ही कुमार्ग को छोडकर सुमार्ग पर चलने लगता है, वैसे ही अनुशासन मे अभ्यस्त शिष्य गुरु के जरा से सकेत को पाते ही पापमार्ग को छोडकर निर्दोष संयमपथ पर चले ॥१२ ॥

---

१. गलिताश्व— अविनीत घोडा, गंडी (उछल-कूद मचाने वाला), गली (पेटू) और मराली (जोतने पर लात मारने या जमीन पर लेट जाने वाला) ये तीन दुष्ट अश्व के पर्यायवाची शब्द हैं।
२. आकीर्ण— विनीत घोडा। आकीर्ण, विनीत और भद्रक ये तीनों शब्द विनीत घोडे के पर्यायवाची हैं।

मूल— अणासवा थूलवया कुसीला, मिउं पि चंडं पकरेंति सीसा [१] ।
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया [२], पसायए ते हु दुरासयं पि ॥१३ ॥

संस्कृत-छाया— अनाश्रवा· स्थूलवचसः कुशीलाः, मृदुमपि चण्डं प्रकुर्वते शिष्याः ।
चित्तानुगाः लघुदाक्ष्योपपेताः प्रसादयेयुस्ते खलु दुराश्रयमपि ॥१३ ॥

पद्यानुवाद— अस्रावी दुःशील बकवासी, शान्त गुरु को क्रुद्ध करे ।
मनोऽनुसारी दक्ष शिष्य झट, दुराश्रय गुरु को प्रसन्न करे ॥१३ ॥

अन्वयार्थ— **अणासवा**-गुरु-आज्ञा को नही सुनने वाले, **थूलवया—** बिना विचारे कुछ का कुछ बोलने वाले, **कुसीला—** कुत्सित आचरण या दुष्ट स्वभाव वाले, **सीसा—** शिष्य, **मिउं पि—** मृदु (कोमल) स्वभाव वाले गुरु को भी, **चंडं—** उग्रक्रोधी, **पकरेंति—** बना देते हैं; (जबकि) **चित्ताणुया—** गुरु के चित्त (मन) के अनुकूल चलने वाले, और **दक्खोववेया—** कार्य-दक्षता (कुशलता) से सम्पन्न, **ते—** वे विनीत शिष्य, **हु—** अवश्य ही, **दुरासयं पि—** (दुरासद या दुराशय)- अत्यन्त कोप करने वाले गुरु को भी, **लहु—** शीघ्र, **पसायए—** प्रसन्न कर लेते है ॥१३ ॥

भावार्थ— गुरु के वचनो को सुने-अनसुने करने वाले, गुरु के सामने यद्वा तद्वा-अटसट बोलने वाले तथा दुःशील अनुशासनहीन शिष्य कोमल स्वभाव वाले शान्तिप्रिय गुरु को प्रचण्डक्रोधी या कठोरभाषी बना देते है, जबकि गुरु के मनोऽनुकूल चलने वाले, मृदुभाषी एवं कार्यदक्ष अनुशासनप्रिय शिष्य तेज स्वभाव के क्रोधी गुरु को भी प्रसन्न कर लेते है ।

वास्तव मे गुरु की प्रसन्नता-अप्रसन्नता का मूलाधार शिष्य का अच्छा-बुरा व्यवहार एवं विनय-अविनय का आचरण है ॥१३ ॥

मूल— नापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए ।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा [३], धारेज्जा पियमप्पियं [४] ॥१४ ॥

संस्कृत-छाया— नापृष्टो व्यागृणीयात् किंचित्, पृष्टो वा नालीक वदेत् ।
क्रोधमसत्यं कुर्यात्, धारयेत् प्रियमप्रियम् ॥१४ ॥

पद्यानुवाद— बोले न बिना पूछे कुछ भी, पूछे तो झूठ नही बोले ।
आने पर क्रोध विफल कर दे, प्रिय अप्रिय सब धारण कर ले ॥१४ ॥

१-२ देखें— प्रथम अध्ययन का परिशिष्ट कथा सं ३ और ४ ।
३ देखें, प्रथम अध्ययन का परिशिष्ट, कथा सं ५ ।
४. देखें, प्रथम अध्ययन का परिशिष्ट, कथा सं ६ ।

अन्वयार्थ— अपुट्ठो— गुरु के द्वारा पूछे बिना, किंचि— कुछ भी, न वागरे— न बोले, वा— अथवा, पुट्ठो— पूछने पर, अलियं— असत्य, न वए— न बोले । कोहं— क्रोध को, असच्चं— असत्य-विफल, कुव्वेज्जा— कर दे । अप्पियं— (गुरु के द्वारा कहे गए) अप्रिय वचन को भी, पियं— प्रिय (हितकारक) मान कर, धारेज्जा— मन मे धारण करे ॥१४ ॥

भावार्थ— अनुशासन की दृष्टि से विनीत शिष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह गुरुजनो के बिना पूछे, बिना प्रयोजन कुछ भी न बोले । तथा उनके द्वारा डाटे-फटकारे जाने पर भी क्रोध न करे । ध्यान रखते हुए भी कदाचित् मन मे क्रोध उत्पन्न हो जाए तो उसे विफल कर दे, अर्थात्- ज्ञानबल से क्रोध को शान्त कर ले । कदाचित् गुरुदेव कोई अप्रिय (कठोर) बात भी कह दे तो उसे प्रिय (हितकारक) मान कर हृदय मे धारण करे । (अथवा प्रिय अथवा अप्रिय गुरुवचन के प्रति राग-द्वेष न करता हुआ समभाव से ग्रहण करे ।) ॥१४ ॥

आत्म-दमन और पर-दमन का अन्तर एवं फल

मूल— अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥१५ ॥

संस्कृत-छाया— आत्मा चैव दमितव्यः, आत्मैव खलु दुर्दम ।
आत्म दान्त सुखी भवति, अस्मिल्लोके परत्र च ॥१४ ॥

पद्यानुवाद— आत्मा को वश करना है, कारण आत्मा ही दुर्दम है ।
इस भव परभव मे सुख पाए, जो दान्त आत्मा सक्षम है ॥१५ ॥

मूल— वरं मे अप्पा दंतो संजमेण तवेण य ।
माऽहं परेहिं दम्मंतो बंधणेहिं वहेहि य ॥१६ ॥

संस्कृत-छाया— वर मयात्मा दान्त, सयमेन तपसा च ।
माऽह परैर्दमित, बन्धनैर्वधैश्च ॥१६ ॥

पद्यानुवाद— अपने द्वारा तप सयम से, दमन स्वय का है अच्छा ।
वध-बन्धन द्वारा परजन से, है दमन नही लगता अच्छा ॥१६ ॥

अन्वयार्थ— अप्पा चेव— अपनी दुष्ट आत्मा का ही, **दमेयव्वो—** दमन करना चाहिए । **अप्पा हु—** आत्मा (कषाय-आत्मा और योग-आत्मा) ही, **खलु—** वास्तव मे, **दुद्दमो—** दुर्दमनीय-दुर्जय है । **दंतो—** दमन किया हुआ-दान्त, **अप्पा—** आत्मा, **अस्सिंलोए—** इस लोक में, **य—** और, **परत्थ—** परलोक मे, **सुही—** सुखी, **होइ—** होता है ॥१५ ॥

संजमेण तवेण य— सयम और तप से, **मे अप्पा—** मुझे अपनी आत्मा को, **दंतो—** दमन-वश करना, **वरं—** अच्छा है । **अहं—** मेरा, **परेहिं —** दूसरो के द्वारा, **बंधणेहिं—** बन्धनो से, **य—** और, **वहेहि—** प्रहारो से, **दम्मंतो—** दमन किया जाना, **मा—** अच्छा नही है ॥१६ ॥

भावार्थ— सांसारिक मानव सोचता है कि अपने साथ प्रतिकूल आचरण करने वाले विरोधियो का दमन करने पर ही सुख-शान्ति हो सकती है। परन्तु भगवान् महावीर कहते है कि अपनी आत्मा ही बाह्यजगत् मे शत्रु-मित्र बनाता है, अत इसी का दमन करना चाहिए। आत्मा को जीतने पर सबको जीत लिया जाता है। क्योकि बाह्य शत्रुओ का दमन करना आसान है, मगर जो आन्तरिक शत्रु सम दुष्ट आत्मा (कषायात्मा एव योगात्मा) है, उसका दमन करना ही कठिन है। जो साधक अपनी दुष्ट आत्मा (मन और इन्द्रियो) का दमन (शमन,वश) कर लेता है, वह इस जन्म मे और अगले जन्म मे दोनो जगह सुखी होता है।

निष्कर्ष यह है कि दान्तात्मा महर्षि इस लोक मे देवो द्वारा पूजे जाते है, अदान्तात्मा चोर, परस्त्रीगामी आदि दोनो जगह दु:ख पाते है, विनष्ट होते है। कहा भी है- मृग शब्द के, पतंगा रूप के, भौरा गन्ध के, मछली रस (आहार के स्वाद) के एव हाथी स्पर्श के वशीभूत होकर अपने प्राण गवा देते है ॥१५ ॥

तप और संयम के द्वारा स्वेच्छा से अनपे आप पर स्वय नियंत्रण (दमन) करना ही सर्वोत्तम उपाय है। दूसरे लोग मारपीट कर, बन्धनो मे डालकर एव विविध प्रकार के दण्ड देकर किसी का दमन (नियत्रण) करे यह अच्छा नही है, क्योकि दूसरो के दमन (नियंत्रण) करने पर मनुष्य के मन मे भयकर प्रतिक्रिया जागती है, रोष, द्वेष और वैर बढता है, आत्म-ग्लानि एवं पुण्यहानि होती है ॥१६ ॥

अनाशातना विनय के मूलमंत्र

मूल— **पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा।**
आवी वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइ वि ॥१७ ॥

संस्कृत-छाया— प्रत्यनीकं च बुद्धानां, वाचाऽथवा कर्मणा ॥
आविर्वा यदि वा रहसि, नैव कुर्यात् कदापि च ॥१७ ॥

पद्यानुवाद— गुरुजन के प्रतिकूल क्रिया,तन या वाणी से करे नही।
जनसमक्ष अथवा एकान्त मे, मन मे कभी भी धरे नही ॥१७ ॥

मूल— **न पक्खओ न पुरओ नेव किच्चाण [1] पिट्ठओ।**
न जुंजे ऊरुणा उरुं, सयणे नो पडिस्सुणे ॥१८ ॥

संस्कृत-छाया—न पक्षतो न पुरतः नैव कृत्यानां पृष्ठतः।
न युञ्जीतोरुणोरुं, शयने नो प्रतिशृणुयात् ॥१८ ॥

---

१ किच्चाणं— कृत्यानां— कृति का अर्थ है वन्दन। जो वन्दन के योग्य हो वह कृत्य-गुरु या आचार्य है।

पद्यानुवाद— गुरुजन के आगे पीछे, ना बाजू मे अड कर बैठे ।
ना शय्या पर से उत्तर दे, ना जाघ सटा कर ही बैठे ॥१८ ॥

मूल— नेव पल्हत्थियं [१] कुज्जा, पक्खपिंडं [२] वा [३] संजए।
पाए पसारिए वावि, न चिट्ठे गुरुणंतिए॥१९ ॥

संस्कृत-छाया— नैव पर्यस्तिकां कुर्यात्, पक्षपिण्ड च संयत ।
पादौ प्रसार्य वापि, न तिष्ठेद् गुरूणामन्तिके ॥१९ ॥

पद्यानुवाद— बैठे नही बांध कर पलथी, पक्षपिण्ड से भी न कही ।
गुरुजन के सम्मुख अविनय से, मुनि पाद-प्रसारण करे नही ॥१९ ॥

मूल— आयरिएहिं वाहित्तो, [४] तुसिणीओ ण कयाइ वि।
पसायपेही नियागट्ठी, उवचिट्ठे [५] गुरुं सया ॥२० ॥

संस्कृत-छाया— आचार्यैर्व्याहृत, तूष्णिको न कदापि च ।
प्रसादप्रेक्षी नियागार्थी, उपतिष्ठेद् गुरु सदा ॥२० ॥

पद्यानुवाद— सुन बुलावा आचार्यो का, मौन कभी न शिष्य रहे ।
गुरु-प्रसाद-इच्छुक मोक्षार्थी, सदा गुरु के पास रहे ॥२० ॥

मूल— आलवंते लवंते वा, न निसीएज्ज कयाइ वि।
चइऊणमासणं धीरो, जओ जुत्ते पडिस्सुणे ॥२१ ॥

संस्कृत-छाया— आलपति लपति वा, न निषीदेत् कदापि च ।
त्यक्तासन धीर, यतो युक्त प्रतिशृणुयात् ॥२१ ॥

पद्यानुवाद— जो एक बार या पुन पुन बैठा न रहे गुरु-आज्ञा सुन ।
गुरुवचन विनय से ग्रहण करे, तज धीर शीघ्र अपना आसन ॥२१ ॥

मूल— आसणगओ न पुच्छिज्जा, नेव सेज्जागओ कया [६] ।
आगम्मुक्कुडुओ संतो, पुच्छिज्जा पंजलीउडो ॥२२ ॥

---

१. पल्हत्थियं— पर्यस्तिका— घुटनों और जघाओं को वस्त्र से लपेट कर बैठना पर्यस्तिका है ।
२ पक्खपिंड— पक्षपिंड— दोनों भुजाओं से घुटनों और जघाओं को आवेष्टित करके बैठना ।
३. च— लुधियाना से प्रकाशित ।
४. वाहित्तो- लुधियाना से प्रकाशित ।
५ उवचिट्ठे— उपतिष्ठेत् दो अर्थ- (१) गुरु के निकट आकर बैठे, (२) मैं आपको मस्तक झुका कर वन्दन करता हूँ, इस प्रकार कहता हुआ गुरु के निकट पहुँचे ।
६. कयाइ वि- लुधियाना से प्रकाशित ।

संस्कृत-छाया— आसनगतो न पृच्छेत्, नैव शय्यागत कदापि च ।
आगम्योत्कटिकः सन्, पृच्छेत् प्राञ्जलिपुटः ॥२२ ॥

पद्यानुवाद— आसन या शय्या पर बैठा, गुरुदेव से कुछ पूछे न कभी ।
आ समीप उकडू-आसन से, पूछे 'सविनय ही' प्रश्न सभी ॥२२ ॥

अन्वयार्थ— (विनीत शिष्य) **आवी वा**— प्रगट मे (लोगो के समक्ष) **जइ वा**— अथवा, **रहस्से**— एकान्त मे, **वाया**— वाणी से, **अदुव**— अथवा, **कम्मुणा**— कर्म (शारीरिक क्रिया) से, **कयाइ वि**— कभी भी, **बुद्धाणं**— आचार्यो (गुरुओं) के, **पडिणीयं**— प्रतिकूल आचरण, **नेव**— नही, **कुज्जा**— करे ॥१७ ॥

(विनीत शिष्य) **किच्चाणं**— वन्दनीय गुरुओ के, **पक्खओ**— दाहिनी या बाई बाजू मे अडकर, **न**— नही बैठे, **न पुरओ**— न ही गुरु के आगे (सम्मुख सटकर) बैठे, **नेव पिट्ठओ**— उनके पीछे भी अडकर न बैठे, **ऊरुणा**— और उनकी जाघ से, **उरु**— अपनी जांघ, **न जुंजे**— न सटाए (भिड़ाए), **सयणे**— शय्या (बिछौने) पर बैठा या सोया हुआ, **नो पडिस्सुणे**— गुरुवचन (आदेश) को श्रवण न करे ॥१८ ॥

संजए— संयमी साधु, **पल्हत्थियं**— (गुरु के समक्ष) पलथी लगाकर, **नेव कुज्जा**— न बैठे, (तथा) **पक्खपिंडं** — पक्षपिण्ड— दोनो हाथो से शरीर को बांधकर, पिण्डरूप करके, **वा**— अथवा, **गुरुणंतिए**— गुरुओ के समीप, **पाए पसारिए**— पैरो को पसार (फैला) कर, **वि**— भी, **न चिट्ठे**— न बैठे ॥१९ ॥

आयरिएहिं— आचार्यो के द्वारा, **वाहित्तो**— बुलाये जाने पर, (विनीत शिष्य) **कयाइ वि**— कभी (किसी भी अवस्था मे) भी, **तुसिणीओ**— चुपचाप (मौन), **न**— न रहे, (किन्तु) **पसायपेही**— गुरु का कृपाकाक्षी, **नियागट्ठी**— मोक्षार्थी शिष्य, **सया**— सदा, **गुरुं**— गुरु के, **उवचिट्ठे**— समीप (सेवा मे) उपस्थित रहे ॥२० ॥

आलवंते— गुरु के द्वारा एक बार बुलाए जाने पर, **वा**— अथवा, **लवंते**— बार-बार बुलाने पर, शिष्य, **कयाइ वि**— कभी भी, **न निसीएज्ज**— बैठा न रहे, (किन्तु) **धीरो**— धैर्यवान् या बुद्धिशाली शिष्य, **आसणं**— आसन को, **चइऊण**— छोड कर, **जओ**— यत्न-सावधानीपूर्वक, **जुत्तं**— गुरु जो आदेश दे, उसे, **पडिस्सुणे**— स्वीकार करे ॥२१ ॥

(सुशिष्य) **आसणगओ**— आसन पर बैठा, **न पुच्छिज्जा**— (गुरु से कोई बात) न पूछे, **नेव**— न ही, **सेज्जागओ**— शय्या पर बैठा-बैठा, **कया**— कभी पूछे, (किन्तु) **आगम्म**— पास मे आकर, **उक्कुडुओ संतो**— उत्कुटुक- उकडू आसन से बैठकर, **पंजलीउडो**— विनयपूर्वक हाथ जोडकर, **पुच्छिज्जा**— पूछे ॥२२ ॥

भावार्थ— विनय का एक प्रकार अनाशातना-विनय भी है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । प्रस्तुत छह गाथाओ (गाथा १७ से २२ तक) मे अनाशातना विनय का विविध पहलुओ से

निरूपण किया गया है ।

विनीत शिष्य, समूह मे या एकान्त मे, वाणी या व्यवहार से कोई ऐसा आचरण न करे, जिससे गुरुजनो की आशातना हो, जो उनकी मनोभावना एव इच्छा के प्रतिकूल हो । अर्थात्—विनीत शिष्य को मन, वचन एव कर्म से सदैव गुरुजनो के अनुकूल बने रहना चाहिए ॥१७ ॥

विनीत शिष्य को गुरुजनो के पास बैठने का पूरा ध्यान रखना चाहिए । उसे गुरुजनो के आगे-पीछे, या बगल मे बिलकुल सटकर नही बैठना चाहिए क्योकि गुरु के ठीक सम्मुख सटकर बैठने से वन्दन करने आने वाले लोगो को उनके मुख के दर्शन नही होगे, लोगो को भी अप्रीति होगी । गुरु के ठीक पीछे सटकर बैठने से दोनो एक दूसरे का मुख नही देख सकेगे, ऐसी स्थिति मे बातचीत करने या वाचना देने मे आनन्द नही आएगा और गुरुदेव के दोनो बगल मे बराबर मे बैंठने से वह गुरु के समान दिखाई देगा, यह एक प्रकार से अविनय होगा । गुरु के अगो का स्पर्श हो, इस प्रकार बैठना भी अविनय है । और गुरु कोई आदेश दे उसे बिछौने पर बैठे-बैठे उत्तर देना, या स्वीकार करना भी उचित नही है, अपितु गुरुदेव के पास आकर हाथ जोडकर विनयपूर्वक उनके आदेश को शिरोधार्य करना चाहिए ॥१८ ॥

संयमी शिष्य को गुरुजनो के समक्ष गंवारो की तरह दोनो घुटनो एव जाघो पर वस्त्र बाधकर, या पैर पर पैर चढाकर नही बैठना चाहिए, न ही दोनो भुजाओ से कमर या शरीर को बाधकर बैठना चाहिए । गुरुजनो के समक्ष पैर पसार कर बैठना भी अविनय का लक्षण है । अर्थात्-विनीत शिष्य को गुरुजनो के प्रति शिष्टता एव सभ्यता का ध्यान रखकर बैठना, उठना या बोलना आदि क्रियाएँ करनी चाहिए ॥१९ ॥

गुरुदेव के कृपाकाक्षी एव मोक्षार्थी शिष्य को उनके द्वारा बुलाये जाने पर किसी भी स्थिति में— यहाँ तक कि रुग्ण आदि अवस्था मे भी चुपचाप नही बैठना चाहिए, किन्तु गुरु के द्वारा पुकारे जाने पर सोचना चाहिए कि 'मुझ पर गुरु की कितनी कृपा है कि दूसरे शिष्यो के होते हुए भी मुझे आदेश दे रहे है ।' अतः गुरु का बुलावा आते ही तत्काल 'मत्थएण वदामि' (मैं मस्तक झुकाकर वन्दन करता हूँ), इस प्रकार बोलते हुए शिष्य को गुरुदेव के समीप सविनय पहुँचना चाहिए ॥२० ॥

गुरुदेव एक बार किसी आदेश को कहे, या बार-बार कहे, शिष्य को धैर्यपूर्वक अपने आसन से तुरन्त उठकर जो भी वे आदेश दे, उसे यत्नपूर्वक शिरोधार्य करते हुए कहना चाहिए कि 'आपके आदेशानुसार अवश्य करने का प्रयत्न करूँगा' किन्तु इसके विपरीत वह आसन

चारित्र-विनय : अकेली नारी के साथ अवस्थान-संलाप निषेध

मूल— **समरेसु**[१] **अगारेसु, संधीसु य महापहे ।**
एगो एगत्थिए सद्धिं, नेव चिट्ठे न संलवे ॥२६ ॥

संस्कृत-छाया— समरेषु अगारेषु, सन्धिषु च महापथे ।
एक एकस्त्रिया सार्ध, नैव तिष्ठेन्न सलपेत् ॥२६ ॥

पद्यानुवाद— शाला, गृह या सन्धिस्थल या राजमार्ग एकान्त परे ।
भिक्षु अकेली रमणी-सम्मुख, खडा रहे ना बात करे ॥२६ ॥

अन्वयार्थ— समरेसु— लुहार की शाला मे या कामदेव के मन्दिरो मे, **अगारेसु—** घरो मे, **संधीसु—** घरो के बीच की सधियो मे, **य—** और, **महापहे—** राजमार्ग मे, **एगो—** अकेला साधु, **एगत्थिए सद्धिं—** अकेली स्त्री के साथ, **नेव चिट्ठे—** न तो खड़ा रहे, और न **संलवे—** न ही बात करे ॥२६ ॥

भावार्थ— चारित्र विनय के सन्दर्भ मे यहाँ ब्रह्मचर्य महाव्रती साधु के लिए कहा गया है कि वह लोहकारशाला आदि नीच स्थानो मे, अथवा जहाँ जनसमूह एकत्र होता हो, ऐसे मेलो-ठेलो मे, या काममन्दिरो मे, घरो मे, तथा घरो के बीच की सन्धियो मे, या राजमार्ग मे अकेला साधु अकेली स्त्री के साथ न खडा ही रहे और न संलाप (जम कर संभाषण) ही करे ।

ब्रह्मचारी के लिए अकेली स्त्री (फिर चाहे वह माता, बहन या पुत्री ही क्यो न हो) के साथ एकान्त मे बैठना या बात-चीत करना वर्जनीय बताया है, क्योकि इन्द्रियाँ अत्यन्त प्रबल है, वे बडे-बडे विद्वानो को भी आकर्षित-मोहित कर लेती है ॥२६ ॥

विनीत शिष्य के लिए कठोर अनुशासन भी हितकर

मूल— जं मे बुद्धाणुसासंति, सीएण फरुसेण वा ।
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे ॥२७ ॥

संस्कृत छाया— यन्मां बुद्धा अनुशासन्ति, शीतेन परुषेण वा ।
मम लाभ इति प्रेक्ष्य, प्रयतस्तत् प्रतिशृणुयात् ॥२७ ॥

पद्यानुवाद— शीतल या कुछ रूक्ष वचन से, गुरुवर जो शिक्षा देते ।
'वह मेरे ही लाभहेतु', यो जान उसे वे सुन लेते ॥२७ ॥

---

१. समरेसु : दो रूप : पाँच अर्थ— (१) समरेषु— नाई की दुकानों में, (२) लोहार की शाला तथा ऐसे ही नीच स्थानो में, (३) जहाँ जनसमूह एकत्र होता हो, ऐसे मेलों में, (४) समरो— युद्धस्थलों में, (५) स्मरेषु— कामसम्बन्धी गृहों में ।

मूल— **अणुसासणमोवायं, दुक्कडस्स य चोयणं।**

हियं तं मन्नए[1] पण्णो, वेसं होइ असाहुणो ॥२८॥

संस्कृत-छाया— अनुशासनमौपाय, दुष्कृतस्य च चोदनम्।

हित तन्मन्यते प्राज्ञः, द्वैष्य भवत्यसाधोः ॥२८॥

पद्यानुवाद— गुरु-उपालम्भयुत् अनुशासन, दुष्कृत्य-निवारक होता है।

प्राज्ञ उसे हितकर माने, अप्राज्ञ द्वेष मन लाता है ॥२८॥

मूल— **हियं विगयभया बुद्धा, फरुसं पि अणुसासणं।**

वेसं तं होइ मूढाणं, खंतिसोहिकरं पयं ॥२९॥

संस्कृत-छाया— हितं विगतभया बुद्धा, परुषमप्यनुशासनम्।

द्वैष्यं तद् भवति मूढाना, क्षान्तिशुद्धिकर पदम् ॥२९॥

पद्यानुवाद— भयरहित विज्ञ रूखी शिक्षा, भी हितकारी मन लाता है।

होता वही क्षान्तिशोधक पद, मूरख द्वेष प्रदाता है ॥२९॥

अन्वयार्थ— **सीएण—** शीतल-मृदु, **वा—** अथवा, **फरुसेण—** रुखे—कठोर वचन से, **बुद्धा—** प्रबुद्ध—तत्त्वज्ञ गुरुदेव, **मे—** मुझ पर, **जं—** जो, **अणुसासंति—** अनुशासन करते हैं (शिक्षा देते है), (उसमे) **मम लाभो—** मेरा लाभ है, **त्ति—** ऐसा, **पेहाए—** अनुप्रेक्षण—विचार कर, (विनीत शिष्य) **पयओ—** प्रयत्नपूर्वक, **तं—** उस अनुशासन (हितशिक्षा) को, **पडिस्सुणे—** स्वीकार करे ॥२७॥

ओवायं— गुरुजनो का कोमल या कठोर उपायरूप, **अणुसासणं—** अनुशासन, **दुक्कडस्स—** दुष्कृत— दुष्कर्म का, **चोयणं—** निवारक, **य—** और, **ओवायं—** सद्‌गुणवृद्धि का उपाय है। **पण्णो—** बुद्धिमान् शिष्य, **तं—** उस अनुशासन (शिक्षावचन) को, **हियं—** हितकर, **मण्णइ—** मानता है,(किन्तु) **असाहुणो—** अयोग्य या दुर्जन के लिए,(वही अनुशासन **वेसं—** द्वेषरूप या द्वेष क़ा कारण, **होइ—** हो (बन) जाता है ॥२८॥

विगयभया— भय से रहित, **बुद्धा—** प्रबुद्ध—तत्त्वज्ञ शिष्य, **फरुसं पि अणुसासणं—** गुरु के कठोर अनुशासन को भी, **हियं—** हितकर मानते है (किन्तु) **तं—** वही, **खंति-सोहिकरं—** क्षान्ति और आत्मशुद्धि करने वाला, **पयं—** अनुशासनपद (शिक्षावचन) **मूढाणं—** मूर्खो-मूढ शिष्यो के लिए, **वेसं—** द्वेष का निमित्त, **होइ—** बन जाता है ॥२९॥

---

१ मन्नई— लुधियाना से प्रकाशित।

भावार्थ— गुरुजन मुझे जो भी शिक्षा, मृदु शब्दो मे अथवा 'आप जैसो के लिए यह अनुचित है', इस प्रकार के समाधिकारक वचनो मे या कठोर शब्दो मे देते है, वह मेरे ही अप्राप्त गुण की प्राप्तिरूप लाभ के लिए है, इस प्रकार की प्रेक्षाबुद्धि से विचार कर विनीत साधु प्रयत्नशील (सावधान) होकर उसे कर्तव्यरूप से अंगीकार करे ॥२७ ॥

गुरुजनो की प्रसगोचित कोमल या कठोर भाषण आदि द्वारा दी जाने वाली शिक्षा, दुर्गुणो से बचने का उपाय है तथा दुष्कृत्य का आचरण होने पर 'अरे ! तुमने ऐसा आचरण क्यो किया ?' इस प्रकार की प्रेरणा देने वाली है। बुद्धिमान् शिष्य उस अनुशासन (शिक्षा) को इहलोक-परलोक के लिए हितकर-कल्याणकर मानता है, जबकि असाधु-भावसाधुत्वरहित दुर्जन के लिए वही अनुशासन द्वेषजनक हो जाता है ॥२८ ॥

अनुशासन आत्महित का कारण होते हुए भी सबको एक-सा नही लगता। जो सात प्रकार के भयो से रहित, प्रबुद्ध (तत्त्ववेत्ता) शिष्य है, वे गुरु के कठोर अनुशासन (शिक्षावचन) को भी अपने लिए हितकारक (पथ्य) मानते है, इसके विपरीत जो हिताहितविवेकमूढ साधक है, उनके लिए क्षमा और चित्तविशुद्धि करने वाला ज्ञानादि गुणो का स्थानरूप वही अनुशासनपद द्वेष उत्पन्न करने वाला बन जाता है ॥२९ ॥

मूल— आसणे उवचिट्ठेज्जा, अणुच्चे अकुए[1] थिरे।
अप्पुट्ठाइ निरुट्ठाई, निसीएज्जप्पऽकुक्कुए[2] ॥३० ॥

संस्कृत-छाया— आसने उपतिष्ठेत्, अनुच्चे अकुचे स्थिरे।
अल्पोत्थायी निरुत्थायी, निषीदेदल्पकुक्कुच· ॥३० ॥

पद्यानुवाद— गुरु-आसन से निम्न और निष्कम्प दृढासन पर बैठे।
ना करे चपलता कर पद से, ना उठे बहुत सुस्थिर बैठे ॥३० ॥

अन्वयार्थ— (विनीत शिष्य) ऐसे, **आसणे—** आसन पर, **उवचिट्ठेज्जा—** बैठे, (जो) **अणुच्चे—**(गुरु के आसन से) ऊँचा न हो, **अकुए—** जो किसी प्रकार की चूं चू आदि आवाज न करता हो, **थिरे—** और जो स्थिर हो। (तथा वह) **निरुट्ठाई—** आसन से बार-बार न उठे, **अप्पुट्ठाई—** प्रयोजन होने पर भी कम ही उठे, **अप्पकुक्कुए—** हाथ, पैर आदि अवयवो को चलाए बिना, **निसीएज्जा—** (स्थिरतापूर्वक) बैठे ॥३० ॥

१. अकुए:दो रूप— दो अर्थ—(१) अकूजे— जो आवाज न करता हो,(२) अकूचे- जो लचलच करता हुआ हिलता न हो, स्प्रिंगदार न हो।
२. अप्पकुक्कुए : दो अर्थ— (१) हाथ पैर आदि थोड़ा चलाते हुए,(२) हाथ, पैर आदि न चलाते हुए।

भावार्थ— यहाँ अनाशातनाविनय के सन्दर्भ मे बताया गया है कि विनयवान् शिष्य ऐसे आसन पर न बैठे, जो द्रव्यतः गुरु के आसन से ऊँचा हो और भावत· गुरु के आसन से अधिक (ऊँचे) मूल्य वाला हो, जो बैत की तरह लचीला हो या चूंचूं आदि आवाज करता हो, और जो अस्थिर हो; क्योकि अगर शिष्य का आसन गुरु के आसन से ऊँचा होगा तो स्पष्ट है कि गुरु की अविनय-आशातना होगी, अगर वह आसन लचीला या आवाज करने वाला होगा तो उत्तेजक होने की सम्भावना है, अगर पट्टा या चौकी आदि के चारो पाए समान नही होगे, तो बार-बार ऊँचा-नीचा होने से जीव विराधना होने की सम्भावना है। सरल आसन से भी बिना प्रयोजन के बार-बार न उठे, विशेष प्रयोजन होने पर भी बहुत कम उठे, तथा आसन पर बैठा-बैठा हाथ, पैर आदि अगो को विशेष न चलाए, शान्ति और स्थिरता से बैठे, क्योकि चचलता प्रमाद और अविनय की जननी है ॥३० ॥

विनीत के लिए यथाकाल चर्या का निर्देश

मूल— कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे ।
अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे ॥३१ ॥

संस्कृत-छाया— कालेन निष्क्रमेद् भिक्षु· कालेन च प्रतिक्रमेत् ।
अकालं च विवर्ज्य, काले कार्य समाचरेत् ॥३१ ॥

पद्यानुवाद— नियत समय भिक्षा को निकले, तथा समय पर आ जाए ।
वर्जन कर विपरीतकाल, सब चर्या समय पर कर पाए ॥३१ ॥

अन्वयार्थ— भिक्खू— भिक्षाजीवी साधु, **कालेण—** योग्य समय पर, **निक्खमे—** (भिक्षा के लिए उपाश्रय से) निकले, **य—** और, **कालेण—** समय पर ही, **पडिक्कमे—** वापस लौट आए, **अकालं च—** तथा अकाल-असमय को, **विवज्जित्ता—** छोडकर, **काले कालं—** जो चर्या जिस समय की है, उसे उसी समय पर, **समायरे—** करे—आचरित करे ॥३१ ॥

भावार्थ— साधक के लिए समय की नियमितता अत्यन्त आवश्यक है। अच्छा और आवश्यक कार्य भी नियत समय पर करना ही लाभप्रद होता है। आहार, विहार, नीहार, भिक्षाटन, स्वाध्याय, ध्यान, प्रमार्जन, प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण, शयन, जागरण, व्याख्यान आदि समस्त चर्याएँ (क्रियाएँ) समय की सीमा मे होनी ही हितकारी है। एक कार्य की धुन मे, दूसरे कार्य को भूल जाना अच्छा नही। इसीलिए कहा है— 'अकाल असमय मे कोई कार्य न करो।' लोक व्यवहार मे देखा जाता है कि कृषि आदि कार्य समय पर करने से फलदायी होते है। अत जिस कार्य के लिए जो नियत और उचित समय हो, उसे उसी समय मे करना चाहिए। उपाश्रय से भिक्षाचरी के लिए ठीक समय पर निकलना और ठीक समय पर वापस लौट आना

चाहिए। अधिक या सरस आहारादि मिलने की धुन मे अधिक समय तक भटकना उचित नही, अन्यथा-स्वाध्याय, ध्यान आदि अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य रह जाएँगे। अकालचर्या चारित्र-विनय के विरुद्ध है। समय की पाबंदी चारित्रविनय की साधना का प्रथम चरण है ॥३१ ॥

भिक्षाग्रहण और आहार-सेवन की विधि

मूल— परिवाडीए न चिट्ठेज्जा, भिक्खू दत्तेसणं चरे।
पडिरूवेण[1] एसित्ता, मियं कालेण भक्खए ॥३२ ॥

संस्कृत-छाया— परिपाट्या न तिष्ठेत्, भिक्षुर्दत्तैषणा चरेत्।
प्रतिरूपेणैषयित्वा, मितं कालेन भक्षयेत् ॥३२ ॥

पद्यानुवाद— प्रदत्त एषणीय आहार ले, पर पक्ति-बीच न खडा रहे।
साधुवेष से भिक्षा ले मुनि, नियतकाल उपभोग करे ॥३२ ॥

मूल— नाइदूरमणासन्ने, नन्नेसिं चक्खुफासओ।
एगो चिट्ठेज्ज भतट्ठा, लंघित्ता तं नाइक्कमे[2] ॥३३ ॥

संस्कृत-छाया— नातिदूरमनासन्नः, नान्येषा चक्षुःस्पर्शतः।
एकस्तिष्ठेद् भक्तार्थं, लङ्घयित्वा त नातिक्रमेत् ॥३३ ॥

पद्यानुवाद— एकाकी भिक्षुक के होते, खड़ा दृष्टि मे रहे नही।
ठहरे दूर न पास बहुत ही, गमन लाघ मुनि करे नही ॥३३ ॥

मूल— नाइउच्चे वा नीए वा, नासन्ने नाइदूरओ।
फासुयं परकडं पिंडं, पडिगाहेज्ज संजए ॥३४ ॥

संस्कृत-छाया— नात्युच्चैर्नीचैर्वा, नासन्ने नातिदूरतः।
प्रासुकं परकृत पिण्डं, प्रतिगृह्णीयात् संयत· ॥३४ ॥

पद्यानुवाद— ऊँचे-नीचे अतिदूर-निकट स्थित, दाता से ना ग्रहण करे।
परहित निर्मित प्रासुक भोजन, सयत (मुनि) विधि से ग्रहण करे ॥३४ ॥

मूल— अप्पपाणेऽप्पबीयंमि, पडिच्छन्नंमि संवुडे।
समयं संजए भुंजे, जयं अपरिसाडियं ॥३५ ॥

---

१. पडिरूवेण = प्रतिरूप में-प्रतिरूप के चार अर्थ— (१) सुन्दर रूप, (२) उत्कृष्ट वेष— जोहरण, गोच्छग और पात्रधारक वेश (३) जिनप्रतिरूपक यानी तीर्थङ्कर की भाँति हाथ में भोजन करने वाले का वेश (४) यथावेश— जिनकल्पी या स्थविरकल्पी जैसा वेश हो।
२. नइक्कमे— लुधियाना से प्रकाशित।

संस्कृत-छाया— अल्पप्राणेऽल्पबीजे, प्रतिच्छन्ने सवृते ।
समक सयतो भुञ्जीत, यतमपरिसाटिकम् ॥३५ ॥

पद्यानुवाद— प्राण और बीजादि-रहित, संछन्न स्थान जो सवृत हो ।
समभाव सहित, ना छिटकाते, आहार करे मुनि सयत हो ॥३५ ॥

मूल— सुकडि त्ति सुपक्कि त्ति, सुच्छिन्ने सुहडे मडे ।
सुणिट्ठिए सुलट्ठि त्ति, सावज्जं वज्जए मुणी ॥३६ ॥

संस्कृत-छाया— सुकृतमिति सुपक्वमिति, सुच्छिन्न सुहृत मृतम् ।
सुनिष्ठित सुलष्ठमिति, सावद्य वर्जयेन्मुनि ॥३६ ॥

पद्यानुवाद— अच्छा किया व पकाया या, छेदन हरण किया अच्छा ।
है इष्ट सुघड सुन्दर ऐसा, ना वचन सदोष कहे अच्छा ॥३६ ॥

अन्वयार्थ— **भिक्खू**— भिक्षार्थी साधु, **परिवाडीए**— (भोजन के लिए बैठे या खडे लोगो की) पक्ति मे, **न चिट्ठेज्जा**— खडा नही रहे, (भिक्षु) **पडिरूवेण**— साधु (जिनकल्पी या स्थविरकल्पी) के अनुरूप वेश मे, **एसित्ता**— मर्यादा के अनुसार, **एषणा**— ग्रहणैषणा (गवेषणा) करके, **दत्तेसणं**— गृहस्थ के द्वारा दिया हुआ आहार, **चरे**— ग्रहण करे (और) **कालेण**— शास्त्रोक्त काल मे, **मियं**— आवश्यकतापूर्तिमात्र परिमित, **भक्खए**— भोजन करे ॥३२ ॥

(भिक्षा के लिए गया हुआ साधु) **अन्नेंसि चक्खुफासओ**—(गृहस्थ के द्वार पर पहले से खडे,) अन्य भिक्षुको या याचको की दृष्टि से, **नाइदूरं**— न अतिदूर और **अणासन्ने**— न ही अतिनिकट खडा रहे, न ही दाता— गृहस्थो की दृष्टि का सामने ही रहे, (किन्तु) **एगो**— एकान्त मे अकेला, **चिट्ठेज्ज**— खडा रहे । **भत्तट्ठा**— आहार पानी के लिए, **तं**— उस याचकवर्ग को, **लंघित्ता**— लाघ कर, **नाइक्कमे**— आगे न जाए ॥३३ ॥

संजए— संयमी साधु, **फासुयं**—प्रासुक—अचित्त,(और) **परकडं पिंडं**— पर—गृहस्थ के द्वारा बनाये गये, पिण्ड-आहार को, **पडिगाहेज्ज**— ग्रहण करे, (किन्तु) **नाइउच्चे**— अधिक ऊँचे स्थान से न ले, **वा**— अथवा, **नीए वा**— नीचे से भी, (बहुत नीचे स्थान से लाया हुआ आहार) नही ले, **नासन्ने- नाइदूरओ**—अधिक पास से या अत्यन्त दूर से दिया जाता हुआ आहार भी न ले ॥३४ ॥

संजए— सयमी साधु, **अप्पपाणे**— कीट—पतगादि जीवरहित, **अप्पबीयंमि**— बीजो से रहित, **पडिच्छन्नंमि**— ऊपर से ढके हुए, (और) **संवुडे**— दीवार आदि से संवृत स्थान—मकान मे अथवा **संवुडे**—इन्द्रियो को संवृत करके, **समय**— समभावपूर्वक, **अपरिसाडियं**— भूमि पर न गिराता हुआ, **जयं**— यतनापूर्वक (विवेकपूर्वक) **भुंजे**— आहार करे ॥३५ ॥

(आहार करते समय मुनि भोज्य पदार्थो के सम्बन्ध मे) **सुकडि त्ति**— यह पदार्थ अच्छा बनाया है, **सुपक्कि त्ति**— अच्छा पकाया है, **सुच्छिन्ने**— यह साग, फल आदि अच्छा काटा

है, **सुहडे**— इस करेले आदि का कडवापन अच्छी तरह से मिट(दूर) हो गया है, **मडे**— अच्छा प्रासुक हो गया है, **सुणिट्ठिए**— अच्छी तरह से (रस) निष्पन्न हो गया है, या इसमे घी आदि अच्छी तरह से रम गया है, **सुलट्ठिए**— यह बहुत ही सुन्दर है, **त्ति**— इस प्रकार, **मुणी**— मुनि, **सावज्जं**— सावद्य—पापयुक्त वचन-प्रयोग से, **वज्जए**— दूर रहे ॥३६ ॥

भावार्थ— एषणासमितिप्रधान चारित्रविनय— प्रस्तुत पॉच गाथाओ (गाथा ३२ से ३६ तक) में से तीन गाथाओ मे चारित्रविनय के सन्दर्भ मे आहार-ग्रहणैषणा की और शेष दो गाथाओ मे परिभोगैषणा (ग्रासैषणा) की विधि बताई गई है ।

निर्ग्रन्थ भिक्षु की भिक्षा भिखारियो जैसी नही है, वह सर्वसम्पत्करी, निर्दोष और श्रद्धाभक्तिपूर्वक दी गई गौरवपूर्ण भिक्षा है । इसलिए भिक्षाचरी करते समय जैन भिक्षु को न तो जैनशासन का और न अपना गौरव खण्डित करना है और न ही दीनता-हीनता प्रकट करनी या मन मे लानी है । उसे भिक्षा लेने का अधिकार इसलिए है कि वह न तो स्वय पकाता या दूसरो से पकवाता है, न खरीदता-खरीदवाता है । वह गृहस्थो द्वारा अपने लिए बनाये हुए आहार मे से प्रासुक, एषणीय, कल्पनीय आहार विधिपूर्वक मिलने पर थोड़ा-थोडा अनेक घरो से लेता है और विधिपूर्वक ही उसका सेवन करता है, ताकि अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि महाव्रतो का पालन हो सके और संयमयात्रा निराबाधरूप से चल सके ।

इसके लिए आहार ग्रहण और सेवन की संक्षिप्त विधि यहॉ बता दी गई है ।

(१) भिक्षु भिक्षा लेने जाए, तब भोजन के लिए बैठी या खड़ी पक्ति मे खडा न रहे ।
(२) अपने धर्मसम्प्रदायानुरूप साधुवेश में ही वह आहार की गवेषणा करे ।
(३) एषणासमिति का पालन करते हुए गृहस्थ द्वारा प्रदत्त आहार ही ग्रहण करे ।
(४) नियत समय पर परिमित मात्रा मे भोजन करे ।
(५) गृहस्थ के द्वार पर खड़े याचको की दृष्टि से भिक्षु न अतिदूर और न अति-निकट खड़ा रहे, न ही दाता की दृष्टि के सामने रहे ।
(६) एकान्त मे रागादिरहित होकर खडा रहे, किन्तु वहॉ उपस्थित याचकवर्ग को लांघकर आहार के लिए आगे न बढ़े ।
(७) साधु किसी प्रिय अतिथि याचक की तरह अधिक ऊँचे-नीचे, अति-निकट अथवा दूर से लाया हुआ आहार ग्रहण न करे ।
(८) वह गृहस्थ के लिए बना हुआ प्रासुक आहार विधिपूर्वक ग्रहण करे ॥३२-३३-३४ ॥
(९) संयमी साधु ऐसे स्थान मे आहार-सेवन करे, जहॉ कीडे आदि जन्तु न हो, बीज

या हरी वनस्पति न हो, तथा जो स्थान ऊपर से ढँका हो, जहाँ दीवारो या कपडे आदि का पर्दा हो। साथ ही आहार करते समय वह इन्द्रियो को सवृत रखे, समभावपूर्वक रहे, आहार को नीचे जमीन पर न गिराए, यतना रखे ॥३५ ॥

(१०) भिक्षा मे प्राप्त भोज्य-पदार्थो के सेवन करते समय भी वह ऐसे सावद्यवचन न बोले, यथा-'यह अच्छा बनाया है, पकाया है, काटा गया है, इसकी कडवाहट अच्छी तरह दूर की गई है, यह अच्छा प्रासुक बना है, बहुत ही बढिया, स्वादिष्ट और सुन्दर पदार्थ है यह !' ॥३६ ॥

विनीत और अविनीत के आचरण एवं स्वभाव से गुरु प्रसन्न और अप्रसन्न

मूल— रमए पंडिए सासं, हयं भद्दं व वाहए।
बालं सम्मइ सासंतो, गलियस्सं व वाहए ॥३७ ॥

संस्कृत-छाया— रमते पण्डितान् शासत्, हय भद्रमिव वाहक ।
बाल श्राम्यति शासत्, गलिताश्वमिव वाहक ॥३७ ॥

पद्यानुवाद— बुद्धिमान् शिष्यो को गुरुजन, शिक्षण देकर हर्षाते ।
भद्र अश्व के चालक सम वे, मोद बहुत मन मे पाते ॥
विनयरहित का शासन करके, गुरुजन क्लेश उठाते है ।
गलित अश्व के चालक जैसे, मार-मार थक जाते है ॥३७ ॥

मूल— खड्डुया मे चवेडा मे, अक्कोसा य वहाय मे।
कल्लाणमणुसासंतो, पावदिट्ठि त्ति मन्नइ[१] ॥३८ ॥

संस्कृत-छाया— खड्डुका मे चपेटा मे, आक्रोशाश्च वधाश्च मे ।
कल्याणमनुशिष्यमाण', पापदृष्टिरिति मन्यते ॥३८ ॥

पद्यानुवाद— पापदृष्टिहित-अनुशासन (शिक्षण) को ठोकर चाटा के सम जाने ।
हितकारी गुरु की शिक्षा को, गाली तथा मार माने ॥३८ ॥

मूल— पुत्तो मे भाय नाइत्ति, साहू कल्लाणं मन्नई।
पावदिट्ठी उ अप्पाणं, सासं दासेत्ति मन्नई ॥३९ ॥

संस्कृत-छाया— पुत्रो मे भ्राता ज्ञातिरिति साधु कल्याण मन्यते ।
पापदृष्टिस्त्वात्मानं शिष्यमाणो दास इति मन्यते ॥३९ ॥

पद्यानुवाद— नम्रशिष्य सुत-भ्रातृ-स्वजनवत् गुरु- अनुशासन शुभ माने ।
किन्तु कुशिष्य सुशासित होकर, निज को दासतुल्य जाने ॥३९ ॥

१ मन्नई— लुधियाना से प्रकाशित ।

मूल— **न कोवए आयरियं तोत्तग अप्पाणं पि न कोवए।**
बुद्धोवघाई न सिया, न सिया तोत्तगवेसए ॥४० ॥

संस्कृत-छाया— न कोपयेदाचार्यम्, आत्मानमपि न कोपयेत् ।
बुद्धोपघाती न स्यात्, न स्यात् तोत्रगवेषकः ॥४० ॥

पद्यानुवाद— शिष्य न कुपित करे, गुरुजन को, और न स्वयं कुपित होवे ।
बने न उपघाती गुरुजन का, छिद्रान्वेषी ना होवे ॥४० ॥

मूल— **आयरियं कुवियं नच्चा, पत्तिएण[१] पसायए।**
विज्झविज्ज पंजलिउडो, वएज्ज न पुणोत्ति य ॥४१ ॥

संस्कृत-छाया— आचार्यं कुपितं ज्ञात्वा, प्रातिकेनं प्रसादयेत् ।
विध्यापयेत् प्राञ्जलिपुटः, वदेन्न पुनरिति च ॥४१ ॥

पद्यानुवाद— आचार्यदेव को रुष्ट जान, मृदु प्रिय वचनो से तुष्ट करे ।
ऐसी होगी फिर भूल नही, अंजलि जोडे उपशान्त करे ॥४१ ॥

अन्वयार्थ— **पंडिए—** बुद्धिमान शिष्य को, **सासं—** शिक्षा देते हुए आचार्य वैसै ही, **रमए—** आनन्द पाते है, **व—** जैसे कि, **वाहए—** वाहक(अश्वशिक्षक), **भद्दं हयं—** भद्र-अच्छे घोड़े को शिक्षा देता हुआ प्रसन्न होता है, किन्तु **बालं—** अज्ञानी (अविनीत) को, **सासंतो—** शिक्षा देते हुए गुरु वैसे ही, **सम्मइ—**थक (खिन्न हो) जाते है, **व—** जैसे कि, **गलियस्सं—**गलित (दुष्ट अडियल) घोडे को हांकता हुआ, **वाहए—** उसका वाहक खिन्न होता है ॥३७ ॥

पावदिट्ठि— पापदृष्टि वाला शिष्य, **कल्लाणमणुसासतो—** (गुरु के द्वारा किये जाते हुए) कल्याणकारी अनुशासन को (हितकारी शिक्षा को पाकर) **त्ति—** इस प्रकार **मन्नई—** मानता है कि, **मे खड्डुया—** ये मुझे ठोकर (लात) मारते है, **मे चवेडा—** मुझे चपेटा (चाटा) मारते है, **य—** तथा, **अक्कोसा—** मुझे गाली देते या डॉटते है, **य—** और, **मे वहा—** मुझे मारते-पीटते है ॥३८ ॥

(गुरुदेव) **मे—** मुझे, **पुत्तो—** पुत्र, **भाय—**भाई(और) **नाइ—** स्वजन की तरह आत्मीय समझ कर शिक्षा देते है, **त्ति—** ऐसा सोच कर, **साहू—** विनीत साधु उनके अनुशासन को, **कल्लाणं—** कल्याणकारी, **मन्नई—** मानता है, **तु—** किन्तु, **पावदिट्ठी—** पापदृष्टि वाला कुशिष्य, **सासं—** हितानुशासन से शासित होने पर, **अप्पाणं—** अपने आपको, **दासं व—** दास के समान हीन, **मन्नइ—** समझता है ॥३९ ॥

---

१. पत्तिएण : दो रूप : दो अर्थ—(१) प्रातीतिकेन = गुरु के समक्ष शपथ आदि करना प्रतीति है । प्रतीति (विश्वास) उत्पादक वचन कहना प्रातीतिक है, (२) प्रीत्या— प्रीति का अर्थ साम-नीति से, यानी प्रेम से, शान्ति से बोलकर, भेद-दण्डादि नीति से नही ।

(विनीत शिष्य), **आयरियं**— आचार्य-गुरुदेव को, **न कोवए**— कुपित न करे, **अप्पाणं पि**— अपने आपको भी, **न कोवए**— कोपयुक्त (क्रुद्ध) न करे, **बुद्धोवघाई**— प्रबुद्ध (ज्ञानी) आचार्य का उपघात करने (चाहने) वाला, **न सिया**— न हो, **तोत्तगवेसए**— गुरु का छिद्रान्वेषी (अथवा गुरु के मन को बार-बार चोट पहुँचाने की इच्छा करने वाला) **न सिया**— न हो ॥४० ॥

आयरियं— आचार्य को, **कुवियं**— कुपित-अप्रसन्न हुआ, **नच्चा**— जान कर, **पत्तिएण**—प्रीतिकारक वचनो से, **पसायए**— उन्हे प्रसन्न करे और, **पंजलिउडो**— दोनो हाथ जोडकर, **विज्झविज्ज**— उन्हे शान्त करे, **य**— और, **वएज्ज** — कहे कि, **न पुणोत्ति**— फिर इस प्रकार की गलती नही करूँगा ॥४१ ॥

भावार्थ— विनीत और अविनीत शिष्य की दृष्टि का अन्तर— शास्त्रकार तीन गाथाओ द्वारा बताते हुए कहते है— (१) बुद्धिमान् शिष्य पर अनुशासन करते हुए गुरु को प्रसन्नता होती है, और मूर्ख शिष्य को अनुशासित करते हुए खिन्नता, जैसे कि श्रेष्ठ घोडे को हॉकते हुए अश्वशिक्षक को प्रसन्नता और दुष्ट घोडे को हाकते हुए वाहक को अप्रसन्नता होती है । सच है, बुद्धिमान को सिखाने मे गुरु को शिक्षण का श्रम महसूस नही होता, जबकि अज्ञानी को सिखाने-समझाने मे वे थक जाते-हैरान हो जाते है ॥३७ ॥

इसका एक कारण यह भी है कि मूर्ख शिष्य पापदृष्टि वाला होता है, वह गुरु की कल्याणकारी हितशिक्षा को भी अपने लिए घोर कष्टकारी समझता है । वह यह समझता है कि गुरु मुझे बार-बार टोकते है, फटकारते है, रोष मे आकर मुझे अपशब्द कह देते है, जैसे मुझे लात या थप्पड मारी हो । वचनो से मुझे डॉटना, मेरे मुँह पर तमाचा मारना ही है । साथ ही एक ओर विनीत शिष्य गुरु के कठोर से कठोर शिक्षा-वचनो को अपने लिए कल्याणकारक मानता है कि गुरुजी मुझे अपना पुत्र, भाई या स्वजन समझकर ही तो ऐसी शिक्षा देते है । दूसरी ओर पापदृष्टि अविनीत शिष्य गुरु द्वारा शासित होने पर उसे सम्यग्बुद्धि से सरल भाव से ग्रहण नही करता और यह समझता है कि गुरुजी जब देखो तब मेरे पर नौकर की तरह हुक्म चलाते है, मुझे दास की तरह फटकारते है । साराश यह है कि यह दृष्टि का ही अन्तर है । कहा भी है- जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि ॥३८-३९ ॥

अनुशासनप्रिय विनीत शिष्य का कर्तव्य— विनीत और अविनीत शिष्य की दृष्टि का अन्तर समझाकर शास्त्रकार दो गाथाओ मे विनीत का गुरु के प्रति कर्तव्य बताते है- (१) आचार्य- गुरु को कुपित (अप्रसन्न) न करे, (२) न ही स्वय उन पर क्रोध करे, (३) किसी भी परिस्थिति मे आचार्य- गुरुदेव पर रोष करके उन्हे मारने या उनके प्राणो को हानि पहुँचाने का उपक्रम न करे, (४) गुरु को खरी-खोटी सुनाने की फिराक मे उनका छिद्रान्वेषण न करे, अथवा

अन्वयार्थ— **इह**— इस लोक मे (जिनशासन में), **बुद्ध**— आचार्यो ने, **सया**— सदा, **धम्मज्जियं**— धर्म से अर्जित, **ववहारं**— व्यवहार का, **आयरियं**— आचरण किया है, **तं ववहारं**— उस व्यवहार का, **आयरंतो**— आचरण करता हुआ, मुनि, **गरहं**— गर्हा—निन्दा को, **नाभिगच्छइ**— प्राप्त नही करता ॥४२ ॥

विनीत शिष्य, **आयरियस्स**— आचार्य के, **मणोगयं**— मनोगत, **वक्कगयं उ**— और वचनगत भाव को, **जाणित्ता**— जान कर, **तं**— उस भाव को, **वायाए**— प्रथम वाणी से, **परिगिज्झ**— ग्रहण (स्वीकार) करके, **कम्मुणा**— फिर कार्य रूप मे, **उववायए**— परिणत करे (अर्थात्—आचरण मे उतारे) ॥४३ ॥

वित्ते— विनयीरूप से विख्यात शिष्य, **अचोइए**— गुरु के द्वारा प्रेरित न किये जाने पर भी, **निच्चं**— सदा, **खिप्पं**— शीघ्र, **सुचोइए**— सुप्रेरित (कार्य करने मे भली-भाति प्रवृत्त) **हवई**— होता है, **जहोवइट्ठं**— यथाविधि उपदेश (प्रेरणा) दिये जाने पर तो, **सुकयं**— सुकृत रूप में (अच्छी तरह) **किच्चाइं**— कृत्यो (गुरु के कार्यो) को, **सया**— सदा, **कुव्वई**— सम्पन्न करता है ॥४४ ॥

(जो) **मेहावी**— मेधावी—बुद्धिमान शिष्य, **नच्चा**—(पूर्वोक्त विनय पद्धति को) जानकर, **नमइ**— विनम्र हो जाता है (अथवा उसे आचरण मे लाने की ओर झुक जाता है), **से**— उसकी, **लोए**— लोक मे, **कित्ती**— कीर्ति, **जायए**— होती है । **जहा**— जैसे, **जगई**— पृथ्वी, **भूयाणं**— प्राणियो के लिए, **सरणं**— आश्रय-आधार होती है, वैसे ही विनयवान, **किच्चाणं**— सुकृत्यो का, अथवा धर्मकार्य करने वालो का आधार बनता है ॥४५ ॥

जस्स— जिस मुनि से, **संबुद्धा**— सम्यक् वस्तुतत्त्वज्ञ, **पुव्वसंथुआ**— (शिक्षण काल से) पूर्व (ही विनयभाव से) परिचित, **पुज्जा**— पूज्य—आचार्यादि गुरुजन, **पसीयंति**— प्रसन्न होते है, **पसन्ना**— प्रसन्न होकर, वे गुरुजन उसे, **विउलं अट्ठियं**— विपुल अर्थ वाले अथवा मोक्ष के प्रयोजनरूप विपुल, **सुयं**— श्रुत (अग, उपाग, मूल, छेद आदिरूप आगम) ज्ञान का, [illegible]— लाभ प्रदान करेगे ॥४६ ॥

स— (प्रसन्न गुरु से शास्त्रज्ञान प्राप्त) वह साधु, **पुज्जसत्थे**— पूज्यशास्त्र—(अर्थात्—जिसका शास्त्रज्ञान जनता द्वारा सम्मानित) होता है, **सुविणीयसंसए**— उसके सारे सशय अच्छी तरह से दूर हो जाते है, **कम्मसंपया**— दस प्रकार की कर्मसम्पदा (साधु समाचारी) से, वह **मणोरुई**— गुरुदेव के मन को रुचिकर होकर, **चिट्ठइ**— रहता है, तथा वह, **तवोसमायारिसमाहिसंवुडे**— तप की समाचारी (समाचरण) से और समाधि से सवृत (आस्रवनिरोध कर्ता) होकर तथा **पंचमहव्वयाइं**— पच-महाव्रतो का, **पालिया**—सम्यक् पालन करके, **महज्जुइ**— महातेजस्वी (अनेक लब्धि-शक्तियों का स्वामी) हो जाता है ॥४७ ॥

स— वह, **देव-गंधव्वमणुस्सपूइए**—देवो, गन्धर्वो और मनुष्यो से पूजित, विनयी शिष्य, **मलपंकपुव्वयं**— सर्वप्रथम मल और फिर पंक(अर्थात्- रक्त और वीर्य) से बने हुए, **देहं**—

देहं— शरीर को, **चइत्तु**— त्यागकर, **वा**— या तो, **सासए**— शाश्वत (सदाकाल स्थायी) सिद्ध (आठ कर्मो से सर्वथा रहित-मुक्त) **हवई**— होता है, **वा**— अथवा, **अप्परए**— अल्प कर्मरूपी रजवाला, **महिड्ढिए**— महान् ऋद्धि सम्पन्न, **देवे**— देव होता है । **त्तिबेमि**— ऐसा मै कहता हूँ ॥४८ ॥

शब्दार्थ— धर्म से अर्जित जो व्यवहार प्रबुद्ध आचार्यो द्वारा जिन शासन मे या इस लोक मे आचरित है, उस व्यवहार का आचरण करता हुआ विनयी साधु कभी गर्हा-निन्दा को प्राप्त नही होता ॥४२ ॥

आचार्यदेव के मनोगत एव वाक्गत अभिप्राय को जानकर सर्वप्रथम उसे वाणी से ग्रहण (स्वीकार) करे, तत्पश्चात् उसे कार्यरूप मे परिणत करे ॥४३ ॥

विनयवान रूप से प्रसिद्ध शिष्य गुरु के द्वारा प्रेरणा न दिये जाने पर भी सदैव प्रेरित की तरह शीघ्र कार्य करने मे प्रवृत्त हो जाता है । गुरु के द्वारा यथाविधि उपदेश (प्रेरणा) दिये जाने पर तो वह सदैव सुचारु रूप से उन सत्कृत्यो को करता ही है ॥४४ ॥

जो बुद्धिमान शिष्य पूर्वकथित विनयपद्धति को जानकर विनम्र (उसे क्रियान्वित करने मे तत्पर) हो जाता है, ससार मे उसकी कीर्ति होती है । जैसे- पृथ्वी प्राणियो के लिए आधार होती है, वैसे ही विनीत शिष्य धर्माचरणरूप सत्कृत्यो का अथवा धर्माचरण करने वालो का शरण (आधार) होता है ॥४५ ॥

प्रबुद्ध (तत्त्वज्ञ) पूज्यपुरुष (आचार्यादि), जो शिक्षणकाल से पूर्व ही जिसके विनयादि गुणो से परिचित है, उस पर प्रसन्न रहते है । प्रसन्न हुए गुरुजन उसे अर्थगम्भीर या मोक्ष के प्रयोजनभूत विपुल-श्रुत (आगमादि) ज्ञान का लाभ दे देते है ॥४६ ॥

(विपुल श्रुतलाभ होने पर) उस शिष्य का शास्त्रज्ञान जनता द्वारा पूजित-सम्मानित होता है, उसके सभी सशय दूर हो जाता है, तथा गुरुदेव के मन को रुचिकर होने से वह दस प्रकार की कर्मसम्पदा (साधु समाचारी रूपी सम्पदा) से युक्त होकर रहता है । तथा वह तप के समाचरण एवं समाधि-(मन की स्वस्थता) से सवृत (सवरयुक्त) होता है । पॉच महाव्रतो का सम्यक् पालन करके वह महान् तेजस्वी हो जाता है ॥४७ ॥

देवो, गन्धर्वो और मनुष्यो से पूजित विनीत शिष्य सर्वप्रथम मलपक (रज-वीर्य) से निर्मित शरीर को छोडकर या तो शाश्वत सिद्ध (सर्वथा कर्ममुक्त) होता है, अथवा अल्पकर्मरज वाला महर्द्धिक देव होता है ॥४८ ॥

ऐसा मै कहता हूँ ।

भावार्थ— विनीत को प्राप्त होने वाली उपलब्धियाँ— प्रस्तुत सात गाथाओं (गाथा ४२ से ४८ तक) मे विनयी साधक को प्राप्त होने वाली लौकिक एव लोकोत्तर, मानसिक, बौद्धिक एव आध्यात्मिक उपलब्धियो का वर्णन है। संक्षेप मे यहाँ १५ उपलब्धियाँ उपलक्षित होती है—

(१) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप विनयधर्म है। अत· विनयधर्म से अर्जित व्यवहारानुगामी साधक लोकनिंद्य नहीं होता।

(२) गुरु के मन-वचनगत भावों को जानकर वचन से उन्हें स्वीकार करके कार्यान्वित करने की क्षमता।

(३) प्रेरित किये बिना ही संप्रेरित की तरह प्रवृत्ति -क्षमता, तथा प्रेरित होने पर सतत तदनुसार सत्कार्यरत रहने की अप्रमादवृत्ति।

(४) लोकव्यापी कीर्ति।

(५) धर्माचरणकर्ताओं के लिए आधार।

(६) पूज्यवरों की प्रसन्नता।

(७) विनयाचरण से परिचित एवं प्रसन्न पूज्यों से मोक्षलक्ष्यी प्रचुर श्रुतज्ञान-लाभ।

(८) उसके शास्त्रज्ञान को सम्माननीयता।

(९) सर्वसंशयमुक्तता।

(१०) गुरुजनों के मन को उसका व्यक्तित्व रुचिकर।

(११) तपश्चरण एवं समाधि की सम्पन्नता।

(१२) कर्मसम्पदा-सम्पन्नता।

(१३) पंचमहाव्रत-पालन से महातेजस्विता की उपलब्धि।

(१४) देव-गन्धर्व-मानव-पूज्यता, और

(१५) देहत्याग के पश्चात् सर्व-कर्ममुक्ति, शाश्वतसिद्धि अथवा अल्पकर्मयुक्त महर्द्धिक-देवत्वप्राप्ति।

जिनशासन मे सदा से ही प्रबुद्ध आचार्यो ने विनयधर्मयुक्त व्यवहार का आचरण किया है। शास्त्र मे उक्त पॉच प्रकार के व्यवहारो मे से जीत व्यवहार त्रिकालविषयक है। परम्परानुसार उसी व्यवहार का अनुसरण करने वाला साधु कभी निन्दा-पात्र नही होता। यह विनयी शिष्य की विशिष्ट उपलब्धि है ॥४२ ॥

विनयी शिष्य की कार्यक्षमता बढ जाने का कारण गुरु के प्रति श्रद्धा-भक्ति एव बहुमान से ओतप्रोतता है। इसलिए सतत विनयाभ्यासवश वह गुरु के मन और वचन के अभिप्राय को जानकर प्रथम वाणी से तदनुसार कार्य करना स्वीकार कर लेता है, फिर उसे कार्यरूप मे परिणत कर देता है ॥४३ ॥

विनीत शिष्य की अप्रमादवृत्ति बताते हुए शास्त्रकार कहते है कि वह विनयी रूप मे प्रसिद्ध साधक गुरु-प्रेरणा के बिना ही अपनी अन्त स्फुरणा से गुरु के कार्यो मे सत्प्रेरित की तरह सदैव प्रवृत्त रहता है। प्रेरणा मिलने पर तो वह तदनुसार अच्छे ढग से उन सब सत्कृत्यो को सदैव सम्पन्न करता रहता है। जरा भी आलस्य एव असावधानी को फटकने नही देता ॥४४ ॥

मेधावी साधक विनयाध्ययन मे उक्त समस्त विनयपद्धतियो को हृदयगम करके तदनुसार आचरण करने मे उद्यत रहता है। इस कारण उसकी कीर्ति लोकव्यापी हो जाती है, वह जगद्धात्री पृथ्वी कर तरह अनेक धर्माचरणपरायण व्यक्तियो का आधार बन जाता है ॥४५ ॥

आचार्यादि पूज्यवरो की उस पर कृपादृष्टि रहती है, वे शिक्षणकाल से पूर्व से ही उसके विनयाचरण से परिचित एवं उसके गुणो की प्रशसा करते है। वस्तुतत्त्व के सम्यक् ज्ञाता पूज्यवर उसके विनयादि गुणो से प्रसन्न होकर मोक्षहेतुक प्रचुर श्रुतज्ञान से उसे लाभान्वित कर देते है ॥४६ ॥

गुरुकृपा से शास्त्रो मे पारगत हो जाने पर उसका शास्त्रीय ज्ञान सर्वत्र सम्मानित होता है, अथवा उसके पूज्य गुरुवर भी शास्तारूप मे प्रशसनीय होते है। शास्त्रो का रहस्य प्राप्त कर लेने से उसके समस्त संशयो का निवारण हो जाता है अथवा उसके शास्त्रीय ज्ञानातिशय से- उसकी प्रतिभा से विरोधी संसद (सभा) भी विनीत हो जाती है। गुरुदेव के मन मे वह बस जाता है। क्योकि विनयाचार से शास्त्रज्ञान-प्राप्त साधक गुरुओ का कदापि अप्रीतिभाजन नही होता। वह कर्मसम्पदाओ से (दशविध समाचारी की समृद्धि से अथवा पुलाकादि लब्धियो-योगजविभूतियो से अथवा ज्ञानावरणीय आदि कर्मो के उदय-उदीरणादि द्वारा उनके उच्छेद की शक्ति रूप विभूति से) सम्पन्न हो जाता है। वह द्वादशविध तपश्चरण एवं समाधियोग के कारण संवर से सम्पन्न हो जाता है। तथा निरतिचार पचमहाव्रत-पालन से वह तेजस्वी हो जाता है ॥४७ ॥

विनीत शिष्य इस लोक मे देव (ज्योतिष्क एव वैमानिक देव) दानव (व्यन्तर एवं भवनपति देव) एवं मानवो द्वारा पूजित हो जाता है, यहाँ से रज-वीर्यसमुत्पन्न इस मानव शरीर को छोडने के पश्चात् उसकी दो ही गति है— या तो वह सदा के लिए सर्वकर्मो से रहित सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है, या फिर अल्पकर्मयुक्त या मोहजनित क्रीडा (रति) से रहित महान् ऋद्धि-सम्पन्न वैमानिक देव बनता है ॥४८ ॥

॥ विनय श्रुत : प्रथम अध्ययन सम्पूर्ण ॥

प्रथम अध्ययन का परिशिष्ट (कथा भाग)

(१) संयोग त्याज्य है

(संजोगा विप्पमुक्कस्स गा० १)

मथुरा नगरी मे सुभग और सुनन्द दो वणिक्-पुत्र थे। सुभग का घर दक्षिण दिशा मे था, जबकि सुनन्द का उत्तर दिशा मे। एक दिन सुभग अनायास ही सुनन्द के यहाँ पहुँच गया। सुनन्द ने सुभग को अतिथि समझकर स्वागत-सत्कार किया। बातचीत के दौरान सुनन्द ने सुभग से कहा-'भाई साहब ! आज मेरा और आपका सयोग हुआ है, अत· अब ऐसा उपाय सोचिये, जिससे यह सयोग (सम्बन्ध) अधिकाधिक बढे और चिरस्थायी बने।' सुभग ने कहा-'इस सयोग को बढाने और स्थायी बनाने का सबसे अच्छा उपाय तो यह है कि यदि एक के लडका और दूसरे के लडकी हो तो उनका परस्पर विवाह सम्बन्ध कर दिया जाए, जिससे हमारा यह प्रेम सम्बन्ध अधिकाधिक बढे और टिके।' दोनो इस बात से सहर्ष सहमत हुए। सुभग यह बातचीत करके घर लौट आया।

सयोगवश सुभग के पुत्र हुआ, सुनन्द के पुत्री हुई। दोनो अपने पूर्वनिश्चयानुसार मिले और अपनी-अपनी सन्तान की परस्पर सगाई कर दी। इस सगाई सम्बन्ध को कुछ ही दिन हुए थे कि अकस्मात् सुभग का देहान्त हो गया।

सुभग के देहान्त के बात उसका युवापुत्र 'सुधन' उसकी पैतृक-सम्पत्ति का अधिकारी बना। सुधन को पिता की अपार सम्पत्ति बिना परिश्रम के मिली थी। इसलिए वह उसका मनचाहा उपभोग करने लगा। वह एक से एक बढकर बढिया वस्त्र और आभूषण पहने लगा। नित नये शृंगार करता और अपने स्वार्थी मित्रो के साथ सैर सपाटे करता। भोजन मे भी वह स्वादिष्ट और चटपटे पदार्थ सोने की थाली मे खाता था। प्रतिदिन सरस आहार करने से उसका स्वास्थ्य खराब हो गया तो प्रसिद्ध वैद्यो से अनेक प्रकार की औषधियाँ मंगवा कर सेवन करने लगा। स्नान करने बैठता तो एक घडे के बदले सोने, चाँदी, ताँबे और मिट्टी के चार घडे पानी से भरवाकर रखवाता और घण्टो मल-मल कर नहाता था। इस प्रकार सुधन पानी की तरह अपना धन ऐश-आराम और भोग-विलास मे बहाने लगा।

सुधन की बढती हुई भोगलिप्सा को देखकर उसके पूर्वजन्म के मित्र देव ने उसे प्रतिबोध देने का विचार किया। एक दिन सुधन ने स्नान करने के लिए ज्यो ही सोने का घडा उठाया, त्यो ही वह गायब हो गया। यो एक-एक करके शेष तीनो घड़े भी गायब हो गये। सुधन ज्योही स्नानपीठ से उठा त्योही स्नानपीठ भी अदृश्य हो गया। सुधन अत्यन्त विस्मित होता

हुआ घर आया । भोजनालय मे जब वह भोजन करने बैठा और उसके सामने सेवको ने जिस सोने की थाली मे भोजन परोसा, वह भी गायब, अन्य बर्तन भी अदृश्य होने लगे । सुधन ने आश्चर्यचकित होकर सिर उठाकर ऊपर देखा तो तो वह हक्का-बक्का हो गया । उसकी सोने की वह थाली जिसमे भोजन परोसा गया था, ऊपर उठकर जा रही थी, सुधन ने झपटकर उसे पकड़ा तो उसके हाथ मे थाली की एक किनार रह गई, बाकी थाली गायब हो गई । इस प्रकार दैवी प्रभाव से कुछ ही दिनो मे सुधन को पिता से मिली हुई सारी सम्पत्ति नष्ट हो गई ।

पहले पिता का और अब सम्पत्ति का सयोग समाप्त हुआ देखकर सुधन अत्यन्त चिन्तातुर और उदास होकर विक्षिप्त-सा इधर-उधर घूमने लगा । घूमते-घामते उसे एक विचार सूझा कि क्यो न, पिता के मित्र सुनन्द से इस विषय मे परामर्श कर लूँ ? वह सीधा सुनन्द के यहाँ पहुँच गया । सुनन्द उस समय घर मे ही था । सुधन को देखते ही उसका स्वागत किया और भोजन की मनुहार की । सुधन ने ज्यो ही भोजन के लिए भोजनगृह मे प्रवेश किया, त्यो ही उसने देखा कि जो वस्तुएँ उसके यहाँ से गायब हो गई थी, वे सब यहाँ पड़ी है । उसे सोने की थाली और घडे की ओर बार-बार ताकते देखकर सुनन्द ने पूछा— सुधन ! क्या देख रहे हो ? सुधन बोला मै देख रहा हूँ कि जो वस्तुएँ मेरे यहाँ थी, वे सब यहाँ कैसे आ गई ?सुनन्द ने पूछा— सुधन !ये तुम्हारी वस्तुएँ है इसका क्या प्रमाण है तुम्हारे पास ? सुधन ने कहा— 'हाँ, हाँ, यह देखिये, यह थाली की किनार प्रमाण है । आप इसे अपने यहाँ रखी हुई सोने की थाली के साथ जोडकर देख ले ।'

सुनन्द ने उस किनार को अपने यहाँ पडी हुई सोने की थाली के साथ जोडकर देखा तो सुधन की बात सच्ची मालुम हुई । सुनन्द सुधन को अब तक पहचान नही पाया था, इसलिए उससे पूछा । उसने अपने आपको जब सुभग का पुत्र बताया तो सुनन्द ने अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा— 'तब तो तुम मेरे दामाद हो । बचंपन मे ही तुम्हारे साथ मेरी पुत्री की सगाई हो चुकी है । अत· अब मेरी शर्त यही है कि अगर तुम सोने के बर्तन आदि सब सामान लेना चाहते हो ते मेरी पुत्री के साथ विवाह करना स्वीकार कर लो । मै तुम्हे अपनी सारी सम्पत्ति का मालिक बना दूँगा ।' सुधन को अब तक यह अनुभव हो चुका था कि किसी वस्तु के साथ सयोग से एक के बाद एक दु·ख उठाने पडते है । अतः उसने साफ इन्कार करते हुए कहा— "चाचाजी ! मै अब कोई नया सम्बन्ध (सयोग) नही जोडूँगा । मैंने पिताजी के धन से तथा विविध भोगोपभोग के साधनो से सयोग किया, जिसका कटुफल मै भोग चुका हूँ । रातदिन वियोग की चिन्ता, परेशानी, वस्तु को सभालकर रखने की चिन्ता, वियोग हो जाने

पर भाग-दौड़ आदि सब मुसीबते मैने उठाई । अत. अब न तो अपने खोये हुए सामान से एव धन से सयोग करना है और न ही विवाह से सम्बन्ध जोड़ना है । सासारिक वस्तुओ का सयोग मनुष्य के लिए बन्धनकारक एवं दुःखो की परम्परा को बढाने वाला है । मुझे अब सासारिक संयोग से विरक्ति हो चुकी है ॥"

सुधन के द्वारा इस प्रकार स्पष्ट इन्कार किये जाने पर सुनन्द ने अब कुछ कहना उचित न समझा । सांसारिक संयोगो का परित्याग करने के लिए उत्सुक सुधन अपनी नगरी मे पधारे हुए मुनिराज के चरणो में पहुँचा । मुनिराज से उसने सर्वसयोग-विमुक्त त्यागी निर्ग्रन्थ बनाने की प्रार्थना की । मुनिवर ने सुधन को योग्य समझकर शुभ मुहूर्त मे भागवती निर्ग्रन्थ-दीक्षा दे दी ।

जिस प्रकार सुधन ने सयोग के कटुफलो का अनुभव करके अन्त मे सासारिक संयोगो का परित्याग किया, उसी प्रकार सभी साधको को संयोग से विमुक्त रहना चाहिए ।

— उत्तराध्ययन सूत्र अ. १, गाथा १

(२) प्रत्यनीक असम्बुद्ध एवं अविनीत शिष्य

(पडिणीए असम्बुद्धे-गा० ३)

भद्रबुद्धि नामक आचार्य का एक क्षुद्रबुद्धि नामक अत्यन्त अविनीत शिष्य था । गुरु उसे बार-बार विनयपूर्वक सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते, पर वह उद्दण्ड और ढीठ होकर सुन लेता । गुरु की शिक्षा उसे अग्नि की ज्वाला के समान दुःखदायी लगती थी । व्रतपालन उसे विषपान के समान लगता था, तपस्या तलवार की धार के समान, स्वाध्याय कर्णछेदक सलाई के समान तथा संयम यमदण्ड के समान कष्टकर प्रतीत होता था । आहार, विहार और व्यवहार मे वह सदा गुरु को दुःखित किया करता था ।

वह भिक्षा मे प्राप्त सरस स्वादिष्ट आहार स्वय खा जाता और जो नीरस, रूक्ष और तुच्छ आहार होता, वह गुरुदेव को देता था । जब उसकी इच्छा गुरुदेव को आहार देने की नही होती तो वह श्रावक-श्राविकाओ से जाकर कहता कि 'आज गुरु-महाराज के उपवास है ।' इस प्रकार गुरु को भूखा रखकर सारा भोजन स्वयं खा जाता । बेचारे गुरुजी शान्तभाव से क्षुधा को सहन करते और स्वाध्याय, ध्यान मे अपना समय व्यतीत करते । कभी-कभी क्षुद्रबुद्धि शिष्य भक्त लोगो से कहता— "आज हमारे गुरुदेव ने बेला (षष्ठभक्त) किया है ।" कभी कहता— "तेला (अष्टमभक्त) किया है ।" गुरुजी शिष्य के मिथ्या-प्रचार का विरोध न करके समभावपूर्वक बेला या तेला कर लेते । किन्तु इस प्रकार शरीर को भूखा

रखने से कहाँ तक चलता ? भूख तो लगती थी, किन्तु उसे बार-बार रोकने और दबाने से तथा आहार न देने से शरीर दुर्बल और अशक्त हो गया ।

वृद्धावस्था मे जीर्ण, अशक्त और दुर्बल शरीर के कारण गुरुजी से चलना कठिन हो गया । विहार करने मे उन्हे अत्यन्त कष्ट होने लगा, किन्तु उद्दण्ड शिष्य की बार-बार नोक-झोक के कारण उन्हे विवश होकर विहार करना पडता था । गुरु की इस कष्टमयी दुरवस्था को देखकर तथा गुरु के द्वारा बार-बार प्रेम से समझाने पर भी वह प्रतिकूल ही चलता था ।

कभी-कभी गुरु महाराज दान, धर्म आदि किसी विषय पर प्रवचन करते तब क्षुद्रबुद्धि शिष्य उनके प्रवचन को सिद्धान्तप्रतिकूल बताने या उक्त विषय मे उनकी अनभिज्ञता को प्रकट करने के लिए बीच मे ही बोल उठता— "यह बात ऐसी नही, ऐसी है; मेरे गुरुजी की बुद्धि सठिया गई है, इसलिए सिद्धान्तानुकूल कहना भूल गये है ।"

जब कभी उसे व्याख्यान देने की हूक उठती तो वह श्रोताओ से कहता— "गुरुजी के आज़ मौन है, वे व्याख्यान नही देगे । आज मै ही व्याख्यान दूँगा ।" इस प्रकार दुर्विनीत शिष्य जोर-जोर से गला फाडकर अपनी प्रवचन-पटुता सिद्ध किया करता था ।

क्षुद्रवुद्धि शिष्य का इस प्रकार का प्रतिकूल एव स्वच्छन्द आचरण देखकर गुरुदेव मन ही मन सोचने लगते— "कितनी बडी अज्ञानता है, इस दुर्बुद्धि शिष्य की ! जब देखो तब अकारण ही क्रोध कर बैठता है, आवेश मे आकर जैसे-तैसे बोलने लगता है । और तो और लोगो के सामने मेरे विषय मे उलटी-सीधी बाते करता है । समझाने पर मानता नही, बल्कि सामने बोलकर मेरी अवज्ञा करता है, मर्मस्पर्शी वचन बोलता है, यहाँ तक कि झूठ बोलने मे भी नही हिचकिचाता । दोष बताने पर झगड़ा करने लगता है । हर बात मे मेरे प्रतिकूल व्यवहार करता है । इससे इसके तो दुष्कर्मो का बन्ध होता ही है, मै निर्ग्रन्थ साधु होकर इसके निमित्त से दुष्कर्मो का बन्ध क्यो करूँ ? मेरे ही किन्हीं पूर्वकृत अशुभ कर्मो का फल है, जिनके कारण मुझे इस प्रकार के प्रतिकूल (अनिष्ट) शिष्य का संयोग मिला है । मुझे 'माध्यस्थभाव विपरीतवृत्तौ' इस उक्ति के अनुसार ऐसे प्रतिकूल सयोग मे माध्यस्थभाव (समभाव) रखना ही उचित है, जिससे पूर्वकृत अशुभकर्मो का क्षय हो सके और नये अशुभकर्मो का बन्ध न हो ।" ऐसा सोचकर क्षमाशील गुरुदेव माध्यस्थ एव समत्व के साथ दुर्मति शिष्य द्वारा दिये जाने वाले दु:खो को सहन करते थे ।

एक बार गुरु महाराज को असह्य क्षुधा लगी । अतः उन्होंने क्षुद्रबुद्धि शिष्य को आहार लाने के लिए भेजने का विचार किया, किन्तु क्षुद्रबुद्धि ने गुरु महाराज आज्ञा दे, उससे पूर्व ही

गुरु महाराज को मारने के अभिप्राय से चतुर्विध सघ के समक्ष ऐसी घोषणा कर दी कि— 'वृद्धावस्था के कारण अपनी शारीरिक स्थिति अत्यन्त अशक्त और दुर्बल जानकर गुरु महाराज ने यावज्जीवन अनशनव्रत (सल्लेखना-सथारा) अगीकार कर लिया है।' चतुर्विध संघ ने जब यह सुना तो खलबली मच गई। सघ के अग्रगण्य श्रावक-श्राविकागण आचार्यश्री की सेवा मे उपस्थित होकर कहने लगे— 'गुरुदेव ! आपको कोटिशः धन्यवाद है ! वास्तव मे आप बड़े भाग्यशाली हैं, आप जैसे जिनशासन का उद्योत करने वाले ज्योतिर्धरो से ही धर्म की प्रभावना होती है। क्षमासागर ! हम आपके गुणो का कहाँ तक बखान करे। हमे यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि जरा-जर्जरित, दुर्बल और अशक्त शरीर होने पर भी आपने कायर जनो द्वारा दुष्कर- आजीवन अनशन (संथारा) अगीकार किया है।"

चतुर्विधसघ के ऐसे वचन सुनकर आचार्यश्री मन ही मन समझ गए कि यह सब क्षुद्रबुद्धि शिष्य की करतूत है। यदि मै इसका प्रतिवाद करके अपनी भूल प्रकट करता हूँ और इसे शिष्य द्वारा किया हुआ झूठा प्रपच बताता हूँ तो जिनशासन की अवहीलना, लघुता और बदनामी होगी। साथ ही वस्तुतत्त्व से अनभिज्ञ लोग मेरी निन्दा करेगे। अतः यही अच्छा होगा कि मै आजीवन अनशन अंगीकार कर लूँ और अनायास ही प्राप्त हुए कर्म काटने के अवसर को न चुकूँ। इस प्रकार दूरदर्शितापूर्वक विचार करके आचार्यश्री ने समाधिभाव धारण करके परिणामो की अतिशय विशुद्धि एवं वृद्धि के साथ विधिपूर्वक यावज्जीवन अनशन ग्रहण कर लिया। समभाव एवं समाधिभाव की उत्कट धारा के कारण वे कषाय और मोह का क्षय कर क्षपक श्रेणी पर आरूढ हो गए जिससे चार घातीकर्मो के क्षय होते ही उन्हे केवलज्ञान प्रकट हो गया। वीतराग केवली आचार्य तत्पश्चात् शेष चार अघाती कर्मो को भी यथाशीघ्र क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।

देवो ने आचार्य भद्रबुद्धि के केवलज्ञान प्राप्ति का महोत्सव मनाया। आचार्यश्री का जयघोष किया। देवों ने क्षुद्रबुद्धि शिष्य द्वारा आचार्यश्री के प्रतिकूल, त्रासदायक एव अविनीतता के आचरण जानकर सघ के समक्ष उसका सारा कच्चा चिट्ठा खोल दिया। संघ ने क्षुद्रबुद्धि को संघ-बहिष्कृत कर दिया। सर्वत्र निन्दापात्र क्षुद्रबुद्धि अपने प्रतिकूल आचरण एवं अविनीत स्वभाव के कारण रोग-शोक से पीडित हुआ और मरकर नरकादि दुर्गति का अधिकारी बना। गुरु के प्रतिकूल आचरण करने वाले अविनीत क्षुद्रबुद्धि के नारकीय जीवन से प्रेरणा लेकर आत्मार्थी साधक को अविनय का त्याग कर विनीत बनना चाहिए।

— उत्तराध्ययन अ. १, गाथा ३

(३) दुःशिष्य के कारण मृदुस्वभावी गुरु अतिक्रोधी बने

(मिउं पि चंडं पकरेंति सीसा गा० १३)

सुभद्र बडे सरल स्वभावी आचार्य थे। उनका हृदय दया और मृदुता से परिपूर्ण था, किन्तु चण्ड नाम का उनका एक शिष्य अपने नाम के अनुसार प्रचण्ड क्रोधी स्वभाव का था। यह बात-बात मे क्रोध कर बैठता था। गुरु उसे कुछ भी समझाते तो वह उनके सामने जोर-जोर से बोलकर उन्हे दबा देता। सरल स्वभावी गुरु उनके सामने जोर-जोर से बोलकर उन्हे दबा देता। सरल स्वभावी गुरु उसके प्रतिकूल व्यवहार से परेशान थे। गुरु की आज्ञा को वह बार-बार ठुकरा देता था, फिर भी वे उस अविनीत शिष्य को निभाते रहे।

वर्षा का समय था। एक दिन गुरु-शिष्य दोनो भिक्षा के लिए जा रहे थे। रास्ते मे मरे हुए मेढको के कई कलेवर पड़े थे। अकस्मात् गुरुजी का पैर किसी मृत मेढक से छू गया। चण्ड शिष्य ने गुरु का पैर एक मृत मेढक के पास पडा देखा तो वह उग्र स्वभावानुसार बोला—"गुरु महाराज ! यह देखिए, आपके पैर से दबकर यह मेढक मर गया है।" गुरु ने उससे प्रतिवाद करना उचित न समझकर कोई जवाब न दिया। परन्तु चण्ड शिष्य चुप कैसे रह सकता था? आहार करते समय फिर वह बोला— "महाराज ! आपके पैर से मेढक मर गया उसकी आलोचना करना।" आहार करते समय वाद-विवाद बढ़ जाने की आशका से आचार्य महाराज कुछ भी न बोले। रात्रि को प्रतिक्रमण कर लेने के पश्चात् आगन्तुक श्रावको के समक्ष फिर उसने वही राग अलापना शुरू कर दिया— "महाराज ! आपके पैर से दबकर मेढक मर गया था, उसका प्रायश्चित्त कर लिया या नही?"

यो बार-बार कहने से मृदुभाषी गुरु भी क्रोधावेश मे आ गए। उन्होने आव देखा न ताव, चण्ड शिष्य को पकडने के लिए दौडे। धर्मस्थान मे अंधेरा था। इसलिए आवेश मे उन्हे खंभे का ध्यान न रहा। खभे से उनका सिर इतने जोर से टकराया कि वही वे लहूलुहान होकर धडाम से गिर पडे और उनकी जीवनलीला समाप्त हो गई। मरते समय उनके मन मे शिष्य के प्रति अत्यन्त क्रोध था। उसी आर्त्तरौद्रध्यान मे मरने के कारण वे सर्पयोनि मे उत्पन्न हुए।

इस प्रकार एक शान्त एव मृदुस्वभावी आचार्य को अविनीत शिष्य ने अपने तमोगुणी स्वभाव के कारण उत्कट क्रोधी, एव दुर्गति का अधिकारी बना दिया।

(४) विनीत शिष्य ने क्रोधी गुरु को शान्त बना दिया
(पसायए ते हु दुरासयं पि— गा. १३)

उज्जयिनी मे उस समय चण्डरुद्राचार्य अपनी साधु-मण्डली-सहित पधारे हुए थे। वे अपने साधु-समुदाय को साध्वाचार मे दोष लग जाने पर बार-बार प्रेरणा (सारणा, वारणा) किया करते थे। उन्हे संयमपालन मे जरा-सी भी शिथिलता या गलती अखरती थी, इसलिए कई बार तो उन्हें साधु-साध्वियो को उनकी शिथिलता या गलती पर उग्रभाषा मे, उत्तेजित होकर कहना पडता था। इस कारण उनका स्वभाव क्रोधी बन गया। जरा सी बात पर उन्हे आवेश आ जाता था। अपनी इस आदत को सुधारने के लिए वे अपने शिष्यो को आवश्यक कार्यकलाप समझा और सौपकर स्वयं एकान्त मे स्वाध्याय, ध्यान करने बैठ गए।

संयोगवश एक नव विवाहित, श्रद्धालु श्रेष्ठीपुत्र अपनी मित्रमण्डली के साथ मुनिवन्दन के लिए आया। सभी साधुओ की विधिपूर्वक वन्दना करके वह मुनियो के पास बैठा तो उसके साथियों ने मुनिवरो से उपहार करते हुए कहा— "महाराज ! धर्म सुनाइए।"

साधु उनकी मनोवृत्ति समझकर कुछ नही बोले। अपने स्वाध्याय मे लीन हो गये। मित्रो ने पुनः उपहास की भाषा मे कहा— "महाराज ! यह हमारा मित्र ससार से विरक्त हो चुका है। हम इसे आपकी सेवा मे शिष्य बनाने लाए है। आप इसे दीक्षा देकर कृतार्थ कीजिए।" साधुओ न कहा- "भाइयो ! हमारे गुरु महाराज यहाँ विराजमान है। वे ही दीक्षा देने के अधिकारी है। आप इन्हे उनके पास ले जाइएं। वे जैसा उचित समझेगे, करेगे।"

मित्रमण्डली अपने साथी श्रेष्ठी-पुत्र को लेकर आचार्यश्री की सेवा मे पहुँची। उन्होने आचार्यश्री में कहा— "गुरुदेव ! हम आपके लिए योग्य शिष्य को लेकर आए है। इनको संसार से विरक्ति हो चुकी है। आप इन्हे दीक्षा दीजिए, हम सबकी आज्ञा है।" एक-दो बार कहा, तब तक तो चण्डरुद्राचार्य कुछ बोले नही, किन्तु तीसरी-चौथी बार जब उन युवको ने वही बात दोहराई तो वे अपनी पूर्व प्रकृति के अनुसार सहसा क्रुद्ध होकर बोले— "अच्छा तुम्हारी आज्ञा है, तो मै इसे दीक्षा देता हूँ, जरा राख ले आओ।" एक मित्र ने उपाश्रय के बाहर पड़ी हुई राख बटोर कर आचार्यश्री को दे दी। अब क्या था ? आचार्यश्री ने तत्काल ही श्रेष्ठीपुत्र के केशों का लोच करके उसे प्रव्रज्या दे दी। उसके साथियो ने देखा— कही हमे भी ये न मूँड ले, अतः चुपचाप वहाँ से खिसक गए।

श्रेष्ठीपुत्र अत्यन्त सरल, शान्त और देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धालु था। उसने अनायास ही प्राप्त इस शुभ अवसर से लाभ उठाकर वैराग्य भाव से दीक्षा अगीकार कर ली। किन्तु दूसरे ही क्षण सोचा- गुरुदेव ने मुझ पर अत्यन्त कृपा करके मुझे संसार के मोहजाल से निकाला

है, अत अव इन्हे कोई कष्ट नही होना चाहिए। नवदीक्षित मुनि ने गुरुचरणो मे निवेदन किया— "गुरुदेव ! मेरे माता-पिता को इस दीक्षा का पता लगा तो वे यहाँ आकर हगामा मचाएँगे, आपको कष्ट देगे। अत· अब हमे यहाँ से विहार करके काफी दूर पहुँच जाना उचित है।"

आचार्य ने कहा— "वत्स ! क्या मुझे दु ख देने के लिए ही तूने दीक्षा ली है ? मेरे से तो चला नही जाता। अगर तुम मुझे अपने कन्धे पर उठाकर चल सकते हो तो मै विहार कर सकता हूँ।"

नवदीक्षित शिष्य ने इस बात को सहर्ष स्वीकार किया। गुरुदेव का आवश्यक सामान तथा गुरुजी को अपनी पीठ पर लाद कर नवदीक्षित शिष्य ने वहाँ से प्रस्थान किया। वे दोनो कुछ ही दूर चले होगे कि रात्रि का अंधेरा जमीन पर छा गया। अधेरे के कारण रास्ता दिख नही रहा था, फिर भी नवदीक्षित शिष्य उत्साहपूर्वक गुरु को लेकर चल रहा था। रास्ता ऊबड-खाबड और अपरिचित होने के कारण नवदीक्षित मुनि के पैर ऊँचे-नीचे पड़ने लगे। इससे गुरुजी को धक्के लगते थे। बार-बार धक्का लगने से गुरु क्रोधाविष्ट होकर अपशब्दो की बौछार बरसाते हुए कहने लगा—

"दुष्ट ! तू मुझे दु ख देने के लिए लाया है क्या ? तुझे दीक्षा देकर मुझे कितना हैरान होना पडा।" वीच-बीच मे रजोहरण की डण्डी से उसके मुँडे हुए सिर पर मारते। किन्तु क्षमाशील शिष्य शान्तभाव से उन सवको सहता जा रहा था। वह जरा भी उत्तेजित हुए बिना सौम्य शब्दो में गुरुजी से निवेदन करता और कहता-

"गुरुदेव ! आपको मेरे कारण बहुत कष्ट हो रहा है, क्षमा करे। मै अब ध्यान रखूँगा।" यो कहता हुआ शिष्य आत्मचिन्तन की गहराई मे डूब गया—

"ओह ! मै कितना अभागा हूँ, गुरुजी को मेरे कारण कितना कष्ट हो रहा है ? क्या मै गुरुजी को कष्ट देने के लिए ही साधु बना हूँ। मै तो किसी भी प्राणी को कष्ट देना नही चाहता, फिर गुरुदेव को कष्ट देना तो बहुत बड़ा अपराध है।"

इस प्रकार आत्मालोचन करते-करते नवदीक्षित मुनि को अपूर्व अध्यवसाय के कारण मोहनीय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान प्राप्त हो गया। केवलज्ञान के प्रभाव से अब रात और दिन का कोई अन्तर न रहा, सभी चर-अचर पदार्थ हाथ मे रखे हुए ऑवले की तरह प्रत्यक्ष दीखने लगे। अत नवदीक्षित मुनि के पैर ऊँचे-नीचे नही पडते थे। अब वह ठीक ढग से सीधा चल रहा था, तभी गुरुजी ने कहा— "अरे शिष्य ! डण्डी की मार पडने से अब तू सीधा चलने लगा है, क्या बात है ?" नवदीक्षित शिष्य ने कहा— "गुरुदेव ! यह आपकी

कृपा है। आपकी कृपा से अब मुझे सारा मार्ग स्पष्ट दीख रहा है। मार्ग की कोई विषमता अब मेरे सीधे चलने मे कोई रुकावट नही डालती। यही कारण है कि अब मेरे पैर ऊँचे-नीचे नही पड़ते।"

आचार्य चण्डरुद्र नवदीक्षित मुनि की सरलता, नम्रता, सहिष्णुता और आज्ञाकारिता से अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्होने गद्गद् होकर पूछा— "वत्स ! क्या तुम्हे कोई अतिशय ज्ञान हुआ है ? यदि हाँ, तो यह बताओ कि वह प्रतिपाती हुआ है या अप्रतिपाती ?" शिष्य ने उत्तर दिया— "गुरुदेव ! आपकी कृपा से क्या कमी रहती ? प्रतिपाती ज्ञान क्यो होता? अप्रतिपाती ही हुआ है।"

आचार्यश्री आश्चर्यचकित एवं लज्जित होकर गहरे मंथन मे पड गये- आह ! मै वर्षो से साधुधर्म का पालन करता आ रहा हूँ, चतुर्विध संघ को भी मै अपने-अपने धर्म मे प्रेरित करता रहा हूँ। फिर भी अब तक कोई अतिशय ज्ञान उत्पन्न नही हुआ। कैसे होता ? मै दीक्षा लेकर भी कषायो की आग मे झुलसता रहा, अपने आन्तरिक विकारो पर विजय प्राप्त नही कर सका। जरा-सी भी सहिष्णुता नही रख सका। नवदीक्षित मुनि को धन्य है, कि इसने एक ही दिन मे केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। दीक्षा लेने से लेकर अब तक मैने इसे कितने ही कठोर शब्दो मे ताडना-तर्जना की, अपशब्द कहे, अपमानित किया, रजोहरण की डण्डी से मुण्डित मस्तक पर प्रहार भी किया, परन्तु इसने बदले मे एक भी कठोर वचन या अपशब्द नही कहा, सबको समभाव से सहन करता गया। यही कारण है कि इसने स्वल्पकाल मे ही समस्त विकारो पर विजय पाकर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। धिक्कार है मुझे, मैने इसे इतना कष्ट दिया, सताया। इस प्रकार पश्चात्तापूर्वक चिन्तन-मनन करने से, शान्तभाव से आत्म-निरीक्षण करने एव बार-बार शिष्य से क्षमा करने से, आचार्य चण्डरुद्र ने भी रागादि विकारो पर सर्वथा विजय प्राप्त करके केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया।

इस प्रकार विनयशील शिष्य की मृदुता, सरलता, नम्रता, सहिष्णुता और आज्ञाकारिता ने कठोर स्वभावी आचार्य का भी हृदय परिवर्तन करके उन्हे विकारमुक्त कर परमपद का अधिकारी बना दिया। धन्य है, ऐसे विनीत शिष्य रत्न को ! — उत्तराध्ययन अ.१, गा. १३

(५) क्रोध को विफल कर दिया

(कोहं असच्चं कुव्विज्जा—गा.१४)

एक क्षत्रिय-पुत्र था। उसके भाई को शत्रु ने मार डाला। उसकी माता पुत्र-वियोग से अत्यन्त चिन्तित रहने लगी। माता से क्षत्रिय-पुत्र ने अपने भाई के वध का सारा वृत्तान्त जाना

तो उसका खून उबल पडा । उसने माँ के समक्ष प्रण किया कि "मै यथाशीघ्र शत्रु को पकड कर आपके समक्ष उपस्थित करूँगा । वह भ्रातृघातक शत्रु की खोज मे घर से चल पडा । कुछ ही दिनो मे उसने शत्रु को जीते-जी पकड लिया और अपनी माता के समक्ष उपस्थित करते हुए म्यान से तलवार निकाल कर बोला— 'अरे बन्धुघातक ! बोल, मै तलवार से तुझे कहाँ और कैसे मारूँ ?'

शत्रु ने कम्पित स्वर मे कहा— " मै तुम्हारी शरण मे हूँ, शरणागत जहाँ और जैसे मारे जाते है, वहाँ और वैसे तुम मुझे भी मार दो ।"

शत्रु के इस वचन को सुनकर क्षत्रियपुत्र ने माता की ओर देखा । माता ने दयाभाव से कहा— बेटा ! छोड दो इसे । शरण मे आए हुए को वीर पुरुष मारते नही । वीर पुरुषो की नीति यह होती है— **'सरणागया य वीसत्था, पणया वसणपत्ता य ।**

रोगो अजंगमा चेव, सप्पुरिसा णेव पहरति ॥'

अर्थात्- शरणागत, विश्वस्त, चरणो मे पडे हुए, सकटग्रस्त, रोगी और अपंग, इन छह व्यक्तियो पर सत्पुरुष प्रहार नही करते ।माता के वचन सुनकर क्षत्रिय-पुत्र बोला—" माँ !तब फिर मै अपने क्रोध को कैसे सफल करूँ ?"

माता ने कहा— "पुत्र ! क्रोध सब जगह सफल नही किया जाता । शरणागत शत्रु को क्षमादान देकर, उसको बन्धनमुक्त करके तुम्हे अपने क्रोध को विफल कर देना चाहिए ।" माँ की बात मानकर क्षत्रिय-पुत्र ने शत्रु को क्षमा करके प्रेम से गले लगाया और छोड दिया । इसी प्रकार विनयशील को भी उत्पन्न क्रोध को विफल करके शान्ति का अनुभव करना चाहिए । क्रोध-विजय करने पर ही साधक अपने ज्ञान/दर्शन-चारित्र मे वृद्धि कर सकता है ।

— उत्तराध्ययन अ. १, गाथा १४

(६) प्रिय-अप्रिय पर रागद्वेष न करने वाला तृतीय मांत्रिक

(धारेज्जा पियमप्पियं-गा. १४)

वीतभयनगर मे उन दिनो महामारी फैल गई थी । चिन्तित वीतभय-नरेश ने इसके निवारण के लिए नगर मे ढिंढोरा पिटवाया कि 'जो इस महामारी को शान्त कर देगा, उसे राजा बहुत बडा इनाम देगे ।' यह सुनकर राजसभा मे तीन मात्रिक आए । तीनो यह दावा करने लगे कि हम महामारी को मिटा देगे । राजा ने उनसे पूछा कि "तुम्हारे पास महामारी को दूर करने का क्या उपाय है ?" इस पर एक मान्त्रिक बोला— "राजन् ! मेरे पास मन्त्र से सिद्ध किया हुआ एक भूत है । वह अत्यन्त मनोहर रूप करके नगर मे घूमेगा । उस समय

यदि कोई व्यक्ति उसके सम्मुख देखेगा, वह तत्काल मर जाएगा, और उसे देखकर नीचा मुँह करके चला जाएगा, तो उसके सभी रोग नष्ट हो जाएँगे।"

राजा ने कहा— "ऐसा क्रोधी भूत हमे नही चाहिए।"

तदनन्तर दूसरा मांत्रिक बोला— "मेरे पास जो मन्त्रसिद्ध भूत है, उसकी गर्दन लम्बी है, शरीर पर्वत जितना बड़ा है, पेट विशाल है, उसके पॉच सिर है, उसके एक ही पैर है, उसके इस विकराल रूप और अट्टहास को देखकर जो हॅसता है, उसका सिर तत्काल सात टुकडो में फट जाता है। परन्तु जो मनुष्य उसे देखकर धूप, पुष्प, स्तुति आदि से उसकी पूजा करता है, वह समस्त रोगों से मुक्त हो जाता है।" यह सुनकर राजा ने कहा— "हमे इस भूत की भी कोई आवश्यकता नही है।"

फिर तीसरा मांत्रिक बोला— "महाराज ! मेरे पास एक सधा हुआ भूत है, जो प्रिय करने वाले या अप्रिय करने वाले, दोनो प्रकार के मनुष्यो को रोग रहित कर देता है।" यह सुनकर राजा ने कहा— "आपका उपाय बहुत अच्छा है, इसी प्रकार कीजिए।"

उक्त तृतीय मांत्रिक ने अपना प्रयोग किया। अतः उस नगर मे फैली हुई महामारी नष्ट हो गई। नगर को सर्वरोग-मुक्त देखकर राजा और नगर-जनो ने उस मान्त्रिक का बहुत सत्कार किया, उसे बहुत-सा पारितोषिक देकर विदा किया।

इस तृतीय मात्रिक के प्रयोग के समान साधु को भी प्रिय और अप्रिय (अर्थात् प्रशसा और निन्दा), दोनो स्थितियो में समभाव रखना चाहिए।

— उत्तराध्ययन अ. १, गाथा १४

७ आत्मदमन से सुखी हुए
(अप्पा दंतो सुही होइ- गा. १५)

चोरपल्ली मे चोरो के नायक दो भाई रहते थे। एक वार कुछ निर्ग्रन्थ साधु एक भयकर जंगल से होकर विहार कर रहे थे, किन्तु वर्षाकाल अत्यन्त निकट आ जाने से वे इसी चोरपल्ली मे पहुँचे और दोनो चोरनायक भाइयो से चातुर्मास व्यतीत करने के लिए निवास स्थान की याचना की। दोनो भाइयो ने उन्हे ठहरने के लिए अपना मकान दे दिया। दोनो भाई चातुर्मास काल मे साधुओ के पास आकर बार-बार धर्मोपदेश सुनते थे। चातुर्मास पूर्ण होने के पश्चात् सभी साधुओ ने जब विहार किया तो ये दोनो भाई उन्हे काफी दूर तक पहुँचाने गये। एक जगह विश्राम लेकर साधुओ ने दोनों भाइयो को व्रत-नियम ग्रहण करने का उपदेश दिया। उन्होने अन्य व्रत ग्रहण करने मे अपनी असमर्थता वताकर केवल रात्रिभोजन-त्याग का व्रत

ग्रहण किया । रात्रिभोजन व्रत पालन मे उन्हे दृढ रहने का उपदेश देकर साधुवर्ग वहाँ से आगे विहार कर गया ।

एक बार अपनी सेना सहित दोनो चोर एक गाँव मे पहुँचे, और बहुत-सी गाये-भैसे लूट कर लाए । वहाँ से वापस लौटते समय उनके परिवार वाले कुछ लोग एक भैसे को मार कर पकाने लगे । कुछ लोग मद्य लेने के लिए गाँव मे गये । उस समय मास पकाने वाले लोगो को कुविचार सूझा कि इस मास के आधे हिस्से मे विष डाल दे, ताकि जो गाँव मे गये है, उन्हे दे देगे तो वे मर जाएँगे और उनके हिस्से की गाये-भैसे सब हमारे हिस्से मे आ जाएँगी । उधर जो मद्य लेने गये थे, उन्होने भी कुबुद्धि से प्रेरित होकर आधे मद्य मे विष मिला दिया । वे जब तक मद्य लेकर आये, तब तक सूर्यास्त हो चुका था, सभी लोग एकत्रित हुए । एक दूसरे को मनुहार करके सबने मास-मद्य खिलाया-पिलाया । केवल चोरनायक दोनो भाई निष्कपट थे, और रात्रिभोजन-त्यागी भी । उन दोनो ने मद्य-मास का सेवन नही किया, इसलिए वे बच गये । दूसरे सब विषमिश्रित मद्य-मास के सेवन से मर गये और दुर्गति मे पहुँचे ।

जिस प्रकार वे दोनो रात्रि-भोजन त्याग एव जिह्वेन्द्रिय-दमन के कारण इस जन्म और अगले जन्म मे सुखी हुए, इसी प्रकार जो साधक अपनी इन्द्रियो और मन (आत्मा) का स्वेच्छा से दमन करता है, वह भी सुखी होता है ।

— उत्तराध्ययन अ १, गाथा १५

(८) पर-दमन की अपेक्षा आत्मदमन श्रेष्ठ है
(वरं मे अप्पा दंतो-गा. १६)

एक अटवी मे एक मस्त हाथी अपने यूथ के साथ रहता था । जितने भी नये बच्चे पैदा होते, उन्हे वह मार डालता था । क्योकि उसे यह भय था कि जब वह बडा होगा तो मुझे मार कर स्वय यूथनायक बन जाएगा । एक बार कोई हथिनी गर्भवती हुई तो उसने विचार किया कि 'यदि मेरे बच्चा होगा तो यह गजनायक उसे मारे बिना न रहेगा । अत कोई ऐसा उपाय करूँ, जिससे यह मेरे बच्चे को मार न सके ।' यो विचार कर वह हथिनी लगडाती-लंगडाती धीरे-धीरे चलती, जिससे वह यूथ से बहुत पीछे रहने लगी । यूथपति बहुत देर तक उसका इन्तजार करता, तब वह कभी एक पहर के बाद तो कभी एक दिन और कभी दो दिन के बाद यूथ मे आकर मिल जाती थी । यो करते-करते उसने यूथपति के मन मे विश्वास पैदा कर दिया । जब प्रसवकाल निकट आया तो वह निकटवर्ती तापस-आश्रम मे गई, और वहाँ एक सुरक्षित स्थान मे बच्चे को जन्म दिया । फिर बच्चे को आश्रम मे ही रखकर वह यूथ मे जाकर

मिल गई । बीच-बीच मे वह अपने बच्चो को स्तनपान करा कर वापस लौट जाती । हाथी का बच्चा जब बड़ा हुआ तो तापसकुमारो के साथ-साथ अपनी सूंड मे पानी भरकर वह भी आश्रम के वृक्षो को सींचने लगा । उसने इस सिचन कार्य से तापसो ने उसका नाम 'सेचनक' रख दिया । तापस उसे बहुत प्यार से पालते और उससे प्रसन्न रहते थे । कालान्तर मे जब सेचनक तरुण और बलिष्ठ हो गया तो उसने एक दिन यूथपति को एकान्त मे मार गिराया और स्वय यूथपति बन गया । एक दिन उसने सोचा कि मेरी माँ के समान अन्य कोई हथिनी गुप्त रूप से तापसो के आश्रम मे बच्चा उत्पन्न करेगी तो बडा होने पर वह मुझे मार डालेगा । अतः वह तापस-आश्रम मे आया और आश्रम के वृक्षो को उखाड़ कर उसे उजाड डाला । तापसो ने रुष्ट होकर श्रेणिक राजा से सेचनक हाथी की उद्दण्डता की शिकायत की । श्रेणिकराजा ने तापसो की पुकार सुनकर अपने सैनिको की सहायता से सेचनक को पकड लिया और आलानस्तम्भ पर लौह-शृंखला से कस कर बॉध दिया । एक दिन तापसो ने आकर उसे फटकारा— 'अरे नमक-हरामी ! अब तेरा पराक्रम कहाँ गया ? हमारे प्रति अविनय का फल भोग !' यह सुनकर हाथी क्रोधावेश मे आ गया और बन्धन तुडाकर सीधा आश्रम मे पहुँचा । उसने अनेक तापसो को घायल करके आश्रम को पुन नष्ट-भ्रष्ट कर दिया । श्रेणिक राजा को पता लगा तो इस बार वह स्वयं चतुरगिणी सेनासहित हाथी को पकडने के लिए आ रहा था । इसी दौरान सेचनक के पूर्वभव के मित्रदेव ने आकर उससे कहा— 'गजराज ! तुम दूसरो के द्वारा बार-बार पकडे और बॉधे जाते हो तथा मारे-पीटे जाते हो, इससे तो अच्छा यह है कि दूसरे तुम्हे पकडे और बॉधे, इससे पहले ही तुम जाकर स्वय बॅध जाओ । दूसरो के द्वारा दमन करने की अपेक्षा स्वेच्छा से अपना दमन कर लो क्योकि इस भव मे तुम्हे पराधीनता तो भोगनी ही है ।'

इस प्रकार देव के प्रतिबोध से हाथी स्वयं शान्त होकर श्रेणिक राजा की हस्तिशाला . आलानस्तम्भ के पास आकर खडा हो गया । श्रेणिक राजा ने सेचनक हाथी को आलानस्तम्भ पर शान्त खड़ा देखा तो वे अत्यन्त प्रसन्न हुए, उसे इक्षु आदि का सरस भोजन दिया और सोने के आभूषणोसे अलकृत करके अपना पट्टहस्ती बनाया ।

जिस प्रकार सेचनक हाथी ने स्वेच्छा से अपने आपका दमन कर लिया तो वह सुखी और सम्मानित हुआ, उसी प्रकार जो साधक स्वेच्छा से तप-सयम द्वारा अपने आपका दमन कर लेते है, वे भी सुखी और सम्मानित होते है ।

— उत्तराध्ययन अ. १, गा १६

(९) मर्म प्रकट करने का दुष्परिणाम

(न य मम्ममुदाहरे, न मम्मयं-गा. २५)

एक वणिक् पुत्र पहले बहुत ही धनाढ्य था, किन्तु अचानक व्यापार मे घाटा लग जाने से वह निर्धन हो गया। उसकी पत्नी जो पहले बहुत सुखी और सुकुमार थी, वस्त्राभूषणो से लदी रहती थी, अब घर मे निर्धनता आ जाने से उसे कठोर श्रम करना पडता था। जरा से परिश्रम से वह घबराती थी, और पति किसी कार्य को करने को कहता तो वह वाद-विवाद करने लगती। गरीबी और कष्टसहन से घबराने से पति-पत्नी मे आए दिन नोक-झोक हो जाती। पत्नी इस दु ख से घबराकर विचार करने लगी- ऐसे निर्धन पति के साथ रहने से मुझे सारी जिन्दगी मे आराम नही मिलेगा। इससे तो अच्छा है, मै अपने पीहर मे जाकर सुख से रहूँ। वणिक्पुत्र के सामने एक दिन उसने एक सुझाव रखा— 'यहाँ निर्धनता मे कष्टपूर्वक जिन्दगी बिताने की अपेक्षा आप कही परदेश जाकर कोई व्यापार करे तो निर्धनता भी दूर होगी और अपन सुख से जिन्दगी बिता सकेगे।' वणिकपुत्र ने पहले तो आनाकानी की, परन्तु पत्नी की हठ के सामने उसे झुकना पडा। वणिकपुत्र ने व्यापार के लिए परदेश जाने की तैयारी कर ली तो पत्नी ने कहा— 'आपके बिना मै अकेली यहाँ नही रह सकूँगी। या तो मुझे अपने साथ परदेश ले चलिये, या फिर मुझे मेरे पीहर मे छोडते जाइए।' वणिक्पुत्र ने अपनी पत्नी को पीहर पहुँचा देने की बात स्वीकार की। निर्धन होने से दोनो पति-पत्नी साथ मे कुछ खाने-पीने का सामान लेकर पैदल रवाना हुए। रास्ते मे एक कुँआ और उसके पास छायादार वृक्ष देखकर पति-पत्नी दोनो विश्राम करने बैठे। दोनो ने भोजन किया। भोजन करने के बात पत्नी ने कहा— 'मुझे बहुत जोर की प्यास लगी है। इस कुएँ से पानी लाकर पिलाएँ, तभी मै आगे चल सकती हूँ।' वणिकपुत्र कुएँ से पानी लेने के लिए गया तो पत्नी भी पीछे-पीछे चल पडी। ज्योही वणिक्पुत्र ने कुँए मे झाका, दुर्विचारी पत्नी ने पीछे से जोर से धक्का दिया, जिससे वणिक्पुत्र कुएँ मे गिर पड़ा। सेठानी मन ही मन खुश हुई कि अव तो निर्धन पति से मेरा पिण्ड छूट जाएगा। वह वहाँ से चल पडी और पीहर पहुँची। वहाँ सुख से रहने लगी। पीहर मे लोगो ने उससे पति के बारे मे पूछा तो उसने कह दिया— 'वे परदेश व्यापार करने गये है।'

इधर वणिक्पुत्र के भाग्य से कुँए की दीवार मे एक पत्थर लगा था, जहाँ बैठने की जगह थी। वणिक् पुत्र उसे पकड कर सुरक्षित रूप से बैठ गया। कुछ ही देर बाद बनजारे का काफिला वही कुएँ के पास ठहरा। कुछ व्यक्तियो ने कुँए से पानी निकालने के लिए ज्योही बाल्टी अन्दर डाली त्योही उसने पकड ली। फिर वणिक्पुत्र ने जोर से आवाज दी—

'भाई ! मै किसी कारणवश कुँए मे गिरपड़ा हूँ । मुझे बाहर निकाल दो । मै आपका बहुत एहसान मानूँगा ।' उन लोगो ने कुँए मे रस्सा डालकर उसके सहारे वणिक्पुत्र को बाहर निकाला । वणिक्पुत्र ने बनजारे के साथ परिचय किया और उसके काफिले के साथ चल पड़ा । एक बडे शहर मे पहुँचकर उसने अपना व्यापार शुरु किया । कुछ ही वर्षो मे वणिक्पुत्रने अपना व्यापार जमा लिया । काफी धन कमाया । अब उसे घर की याद आई, उसने शुभ मुहूर्त्त मे अपने गॉव की ओर प्रस्थान किया । उसका ससुराल भी रास्ते मे पड़ता था । इसलिए सोचा-चाहे जो हो, मुझे ससुराल जाकर अपनी पत्नी को साथ मे लेकर घर जाना चाहिए । वह ससुराल पहुँचा । सबने खूब अच्छा स्वागत-सत्कार किया । पत्नी ने उससे क्षमा मागी और साथ ले चलने का आग्रह किया । पिछली सब बातो को भूलकर सेठ उदारतापूर्वक अपनी पत्नी को साथ लेकर अपने गॉव चला आया । यहॉ पहले की तरह सेठ ने अपना व्यापार शुरु किया, और आनन्द से रहने लगा ।

कालान्तर मे सेठ के एक पुत्र हुआ ।वयस्क होने पर योग्य कन्या के साथ उसका विवाह कर दिया । सेठानी की तेज प्रकृति के कारण पुत्रवधू के साथ उसकी पटती नही थी । आए दिन सास-बहू मे आपस मे किसी न किसी बात पर चख-चख हो जाती । पुत्रवधू इसी अवसर की ताक मे थी कि सास की कोई भयंकर भूल पकडी जाये तो फिर मै उसकी बोलती बन्द कर दूँ ।

एक दिन सेठ अपनी बैठक मे भोजन कर रहे थे । गर्मी के दिन थे । खिडकी से प्रवेश करती हुई सूर्य की तेज किरणे सेठ के चेहरे पर पड़ रही थी । पास मे बैठी सेठानी ने पखा झूलना छोड़कर अपनी साडी के छोर से सेठ के मुँह पर छाया कर दी । उस समय सेठानी की अतीत की बात याद आने से सेठ सहसा मुस्कराने लग गये ।

कुछ दूर पर बैठी पुत्रवधू ने सेठ के मुँह पर अचानक हास्य-रेखा देखकर सोचा—शायद ससुरजी मेरी प्रकृति के कारण हंसे होगे । वह इस हंसी का रहस्य जानने की उतावली हो उठी । भोजन के लिए जब श्रेष्ठीपुत्र आया तो उसने कहा—'मुझे देखकर आज ससुरजी क्यों हंसे थे ? इसका रहस्य पूछकर मुझे बताइए तभी मै भोजन करूँगी, अन्यथा नही ।' श्रेष्ठीपुत्र ने उसे बहुत समझाया कि 'बड़ो के आन्तरिक मामलो मे हमें नही पडना चाहिए । उनकी ही कोई अपनी बात होगी, जिस पर वे हँसे होगे । तुम्हे देखकर हँसे हो, ऐसा कोई कारण मुझे नही लगता ।' परन्तु हठीली बहुरानी यो कब मानने वाली थी । वह अपनी हठ से टस से मस न हुई । आखिर त्रियाहठ के सामने श्रेष्ठीपुत्र को झुकना पडा । अवसर पाकर

उसने अपने पिता से इसका रहस्य पूछा तो पहले तो उन्होने टालमटूल करने की कोशिश की, परन्तु जब श्रेष्ठीपुत्र ने अपनी पत्नी के हठ ठानने की बात बताई तो सेठ को कहना ही पडा— 'बेटा ! मै पुत्रवधू को देखकर नही हँसा था । हँसी का कारण यह था कि एक दिन वह था, जब निर्धन अवस्था मे तेरी माँ के साथ मै परदेश जा रहा था । रास्ते मे हम लोग एक कुँए के पास विश्राम लेने बैठ थे । तेरी माँ को प्यास लगी तो मै कुँए पर पानी भरने गया, पीछे से तेरी माँ ने आकर मुझे धक्का दे दिया, मै कुँए मे गिर पडा परन्तु आयुष्यबल के कारण मै जीवित रह गया । आज मेरी आर्थिक स्थिति ठीक है, तो तेरी माँ ने मेरे मुँह पडती हुई सूर्य की किरणो को रोकने के लिए अपनी साडी के पल्ले से छाया कर दी । परिस्थिति-अनुसार बदलती हुई तब और अब की मनोभावना की स्मृति से मुझे हँसी आ गई । और कोई बात नही थी ।'

श्रेष्ठीपुत्र ने इस रहस्य को पाकर गम्भीरतापूर्वक अपने मन मे ही रखना चाहा, परन्तु बहूरानी के अत्याग्रह पर उसे सारी बात उसके आगे कह देनी पडी । अब क्या था ? सास की इस गुप्त भयंकर भूल का पता लग जाने से वह मन ही मन प्रसन्न हो रही थी, वह सोच रही थी, इस बार सास-बहू मे कुछ गर्मागर्मी हुई तो बहु ने अपना अमोघ अस्त्र छोडते हुए कहा— "माँ साहब ! अब आप अधिक मत बोले । वे दिन याद करिये कि आपने ससुरजी को कुएँ मे धकेल दिया था । अब आप सती बनती फिर रही है । मैने आपके जैसे नीच कृत्य तो नही किया है । आप किस मुँह बात कर रही हो ?" यह सुनते ही सास के होश उड गये । वह लज्जा के मारे कुछ न बोल सकी । वह शीघ्र ही ऊपर के कमरे मे गई और गले मे रस्सी का फन्दा डाल कर वही आत्महत्या कर ली । सेठ भोजन करने के लिए घर आए तो सेठानी को देखकर पुत्रवधू से पूछा— "बैटी ! सास कहाँ है ?" वह बोली—"वे तो काफी देर हुई ऊपर के कमरे मे गई है ।" सेठ ने ऊपर जाकर देखा तो मृत पत्नी को देखकर वे मन ही मन पश्चात्ताप करते हुए सोचने लगे— "इस स्त्रीहत्या का निमित्त मै ही हूँ । अगर मै अपनी स्त्री का मर्म प्रकाशित न करता तो इसके प्राण क्यो जाते ? अब मै ससार को क्या मुँह दिखाऊँगा ?" यह सोचकर सेठानी के गले से फन्दा निकाल कर सेठ ने अपने गले मे डाल दिया । थोडी देर बाद श्रेष्ठिपुत्र घर पर आया तो उसने माता-पिता को न देखकर पत्नी से पूछा— "पिताजी कहाँ है ?" बहूरानी ने कहा— "बहुत देर से पिताजी ऊपर के कमरे मे गये है । माताजी और पिताजी दोनो मुझे घर से निकालने की कोई मन्त्रणा कर रहे होगे ।" लडका पिता के साथ ही भोजन करता था । अत. वह तत्काल ऊपर गया तो देखा— 'माँ मरी पडी है । पिताजी गले मे फन्दा डाल कर लटके हुए है ।' श्रेष्ठिपुत्र को माता-पिता के वियोग से

अत्यन्त दु ख हुआ । वह पश्चात्ताप करता हुआ सोचने लगा— 'इस अनर्थ का कारण तो मै ही हूँ । मैने स्त्री की बात पर विश्वास करके घर का गोपनीय मर्म प्रकट कर दिया । पिताजी ने मुझे अपना समझकर अपनी आन्तरिक गुप्त बात भी कह दी, परन्तु मैने दुर्बुद्धिवश स्त्री को यह मर्म बता दिया, जिसका भयकर परिणाम है— मेरे घर का सर्वनाश ! ऐसी स्थिति मे मै समाज के सामने क्या मुँह दिखाऊँगा ?" इसी चिन्ता मे उसने पिता के गले से फन्दा निकाल कर अपने गले मे डाल लिया । जब बहुत देर हो गई तो बहू धीमे कदमो से ऊपर गई तो तीनो को मृत देखकर अवाक् रह गई । सोचने लगी— 'इतने बडे अनर्थ की मूल तो मै ही हूँ । मै ही डाकिन, सारे घर को खा गई । हाय रे दैव ! अगर मै दुर्मति न लाकर सास की तीखी बात को शान्ति से सह लेती और उन्हे मर्मभेदक बात न कहती तो मेरे घर का सर्वनाश न होता । मैने कुलकन्या की मर्यादा के विरुद्ध चलकर सारे घर को उजाड दिया । अब मुझे भी इस ससार मे रहने का क्या अधिकार है ? मै जी कर भी अब क्या करूँगी ? यो सोच कर उसने भी गले मे फन्दा डाल कर आत्महत्या कर ली । सास-बहू दोनो गर्भवती थी, इस कारण एक व्यक्ति के द्वारा मर्म प्रकाशन से घर के ६ प्राणियो की मृत्यु हो गई । यह है— मर्मकारी वचन बोलने का दुष्परिणाम ! इसी कारण विनीत शिष्य के लिए शास्त्र मे कहा गया है— 'मर्मकारी वचन न बोले ।'

— उत्तराध्ययन अ १, गा २५

— उत्तराध्ययन अ. ११, गाथा ४

(१०) बुद्धोपघाती शिष्यों की करतूत
(बुद्धोवघाई न सिया- गा.४०)

आठ प्रकार की गणिसम्पदाओ से युक्त, बहुश्रुत एवं शान्तस्वभावी एक आचार्य थे । वे यद्यपि अप्रतिबद्धविहारी थे, किन्तु अशक्त, दुर्बल एव वृद्ध होने से उनका जघाबल क्षीण हो गया था । वे विहार करने मे असमर्थ होने के कारण किसी एक ही ग्राम मे स्थिरवासी हो गये थे । वहाँ के श्रावकगण उनके विराजने से अपने आपको धन्य समझते थे, आहार-पानी औषधि-पथ्य आदि से उनकी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सेवा करते थे । किन्तु कुछ समय वाद उनके गुरुकर्मा कुशिष्यो ने सोचा— हम कब तक इनकी परिचर्या करते रहेगे । अत. ऐसा उपाय करे जिससे गुरु जी अनशन करले । वे भिक्षा मे जानबूझकर अत्यन्त नीरस आहार लाते और कहते— "भन्ते ! हम क्या करे ? यहाँ के विवेकहीन श्रावक लोग आपके योग्य आहार देते ही नहीं ।" उधर श्रावक लोग भिक्षा के लिए अपने यहाँ पधारने वाले साधुओ को आचार्यश्री के लिए उनके लिए उचित सरस आहार देना चाहते थे, किन्तु वे कुशिष्य श्रावको से कहते—

"आचार्यश्री यह सरस आहार नही लेना चाहते, वे अपने शरीर के प्रति निरपेक्ष होकर अब संलेखनापूर्वक संथारा (अनशन) करना चाहते है।" श्रावको ने जब यह जाना तो वे आचार्य की मेवा मे पहुँचकर निवेदन करने लगे— "भगवन्! आप महाप्रतापी एव लोक उद्योतकारी आचार्य है, इसलिए आप हमारे लिए भारभूत नही है। हम और आपके शिष्य भी यथाशक्ति आपकी सेवा करना चाहते है? फिर आप असमय मे ही क्यो सलेखनापूर्वक अनशन करना चाहते है?" आचार्यश्री ने मनोविज्ञान से यह जान लिया कि यह सब षड्यन्त्र इन कुशिष्यो ने रचा है। उन्होने सारी परिस्थिति जानकर विचार किया— इस अप्रीतिहेतुक प्राणधारण से अब क्या प्रयोजन है? धर्मार्थी पुरुष को किसी के मन मे अप्रीति उत्पन्न करना उचित नही है। अतः किसी की कुछ नुक्ताचीनी किये बिना आचार्य ने कहा—"श्रावको ! मै कब तक स्थिरवासी होकर आप लोगो को और साधुओ को रोके रहूँगा? अत. अच्छा है कि महापुरुषो द्वारा आचरित उत्तम मार्ग का अनुसरण करूँ?" यो श्रावको को समझाकर आचार्यश्री ने समभावपूर्वक अनशन स्वीकार किया और अपना देहत्याग किया।

अत. पूर्वोक्त आचार्य के कुशिष्यो की तरह विनीत शिष्य को बुद्धोपघाती (अनशन आदि के लिए बाध्य करके आचार्य के प्राणो का घात करने वाला) नही होना चाहिए।

— उत्तराध्ययन अ. १, गा ४

॥प्रथम अध्ययन समाप्त॥

द्वितीय अध्ययन : परीषह प्रविभक्ति
(अध्ययन-सार)

प्रस्तुत द्वितीय अध्ययन का नाम 'परीषह प्रविभक्ति' (परीसह-पविभत्ति) है । इसमे साधुजीवन मे सयममार्ग पर चलते समय आने वाले बाईस परीषहो का विभागशः वर्णन कर मुनि को कष्टसहिष्णु होने का उपदेश दिया गया है ।

प्रथम अध्ययन मे विनय की शिक्षा दी गई है, विनयवान् साधक सुख मे नही वरन् दुःख एवं कष्ट के समय मे भी कर्तव्य-पालन मे डटा रहता है और कष्टो का सहर्ष आलिंगन करता है । अतः 'प्रथम विनयश्रुत' अध्ययन के पश्चात् दूसरा अध्ययन 'परीषह-प्रविभक्ति' कहा गया है ।

परीषह का अर्थ है— धर्मपालन करते समय आने वाले कष्टों को, धर्मपथ से विचलित न होकर निर्जरा के लिए धर्मबुद्धि से समभावपूर्वक सहन करना ।[१]

कष्ट तो सभी संसारी जीवों के साथ लगे हुए है; किन्तु अन्तर इतना ही है कि एक तो कष्टो के आने पर हर्ष-शोकादि से प्रभावित हो उठता है, राग-द्वेष आदि करता है, जबकि दूसरा अनुकूल एव प्रतिकूल परिस्थिति मे सम और शान्त रहकर सब कुछ समभावपूर्वक सहता है, राग-द्वेष या हर्ष-शोक आदि से प्रभावित नही होता । यही कष्टसहिष्णुता या तितिक्षा परीषहविजयरूप धर्म है ।

जब तक साधक कष्टसहिष्णु नही होगा, तब तक विनय-धर्म की सम्यक् आराधना नही कर सकेगा । परीषह-सहन और कायक्लेश-तप मे अन्तर है । संचित कर्मो की स्वेच्छा से उदीरणा करके उन्हे क्षय करने हेतु शरीर से आसन, आतापना, केशलोच आदि के कष्ट सहना कायक्लेश तप है; जबकि कर्म के उदय से आये हुए भूख, प्यास, रोग आदि कष्टो को धर्मपथ से विचलित न होते हुए निर्जरा के लिए समभावपूर्वक सहना करना परीषहसहन है । कायक्लेश शारीरिक कष्ट तक ही सीमित रहता है, जबकि परीषह मे आक्रोश, अलाभ, सत्कार, अज्ञान आदि के रूप मे मानसिक कष्ट भी समाविष्ट है । कायक्लेश के अभ्यास से शारीरिक दुःखो को सहने की क्षमता, शारीरिक सुखों के प्रति अनाकांक्षा और क्वचित् प्रवचन-प्रभावना भी होती है, जबकि परीषह-सहन करने से अहिसादि धर्मो की सुरक्षा, धर्म पर डटे रहने की दृढता, एव कर्मो की निर्जरा होती है ।[२]

---

१. मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः । तत्त्वार्थ सूत्र अ.९/८ सू.

२ (क) उत्तराध्ययन अ ३० गा. २७, (ख) औपपातिकसूत्र स. १९

प्रस्तुत अध्ययन के प्रारम्भ मे शास्त्रकार ने बताया है कि परीषहो के स्वरूप और सहिष्णुता से मिलने वाले लाभालाभ को सुन-समझकर उन्हे अभ्यास से परिचित और पराजित करना चाहिए, किसी भी परीषह से आक्रान्त होने पर मुनि को श्रमणधर्म की मौलिक मर्यादाओ से विचलित एवं व्यथित नही होना चाहिए, बल्कि परीषह-सेना के समक्ष एक शूरवीर योद्धा की तरह डटे रहकर शान्ति, धैर्य एव समभाव से उसका सामना करना चाहिए। परीषहो को धैर्य, शान्ति एव समभाव से सहने वाला मुनि प्रचुर-मात्रा मे कर्मो की निर्जरा करता हुआ आत्मा को विशुद्ध बनाकर मोक्षमार्ग की साधना मे प्रगति करता है।

मोक्षप्राप्ति के लिए संयमपथ पर चलने वाले साधक के लिए परीषह बाधक नही, किन्तु श्रमणधर्म के साधक, धर्मत्राता एव उपकारक होते है। इसलिए सच्चा साधक परीषहो के आने पर उद्विग्न, चिन्तित, विक्षुब्ध एव धैर्यच्युत नही होता, किन्तु शरीर और आत्मा के भेदविज्ञान के प्रकाश मे वह वस्तु-स्थिति का ज्ञाता-दृष्टा बनकर उन्हे शान्ति एव समभाव से सहता है। परीषहो के दबाव मे आकर साधक अपनी स्वीकृत सयम-मर्यादाओ से एक इच भी इधर-उधर नही होता। वह विघ्न-बाधाओ के सामने चट्टान की तरह दृढ रहता है, उनके समक्ष हार खाकर घुटने नही टेकता, किन्तु अपने उत्कृष्ट तप, त्याग एवं सयम के बल पर उन्हे पराजित करके वह श्रमणधर्म को सुरक्षित रखता है।[१]

परीषहसहन का अर्थ— शरीर, मन या इन्द्रियो को मारना या व्यर्थ कष्ट देना नही है, न ही आए हुए कष्टो को लाचारी से सहना है, और न प्रतिकूलताओ से घबराकर इधर-उधर भागना है, न वातावरण के प्रभाव मे बहना है, और न संयम-मर्यादाओ को भग करके उनका प्रतीकार करना है, न ही कष्टो से बचने का कोई गलत दोषयुक्त मार्ग अपनाना है, किन्तु तन-मन की आदतो, इन्द्रियो की विषयानुकूलताओ तथा सुख-सुविधाओ की लालसाओ को विवेकपूर्वक छोडकर प्रत्येक प्रतिकूल परिस्थिति को प्रसन्नतापूर्वक स्वेच्छा से निर्भय एव निर्द्वन्द्व होकर स्वीकार करना है।

---

१ धुणिया कुलियं व लेवयं किसए देहमणसणा इह।
अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेइओ ॥- सूत्रकृतांग१/२/१/१४

आगे निम्नलिखित २२ परीषहों का नामोल्लेख करके पद्य में क्रमशः प्रत्येक परीषह को समभावपूर्वक सहन करने का निर्देश किया गया है—

१. क्षुधापरीषह, २. पिपासापरीषह,
३. शीतपरीषह, ४. उष्णपरीषह,
५. दंशमशकपरीषह, ६. अचेलपरीषह,
७ अरतिपरीषह, ८. स्त्रीपरीषह,
९. चर्यापरीषह, १०. निषद्यापरीषह,
११. शय्यापरीषह, १२. आक्रोशपरीषह,
१३. वध परीषह, १४. याचनापरीषह,
१५. अलाभ परीषह, १६. रोगपरीषह,
१७. तृणस्पर्श परीषह, १८. जल्ल (मल) परीषह,
१९. सत्कार-पुरस्कार परीषह, २०. प्रज्ञापरीषह,
२१. अज्ञानपरीषह और २२. दर्शनपरीषह।

इन बाईस परीषहो मे से क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण आदि बीस परीषह तीव्र परिणाम वाले होने से आचाराग सूत्र मे इन्हे प्रतिकूल अर्थात्— 'उष्ण' कहे गये है, तथा स्त्री और सत्कार-पुरस्कार, ये दो परीषह मन्द-परिणाम वाले होने से अनूकूल अर्थात्-'शीत' कहे गए है।[१]

बाईस ही परीषह ज्ञानावरणीय, दर्शन-मोह, चारित्रमोह, अन्तराय और वेदनीय, इन चार कर्मो के उदय से होते हैं। जैसे— प्रज्ञा और अज्ञान, ये ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से, अलाभ-परीषह अन्तराय कर्म के उदय से, दर्शनपरीषह दर्शनमोहनीय के उदय से तथा अरति, अचेल, स्त्री, निषद्या, याचना, आक्रोश और सत्कार-पुरस्कार, ये सात परीषह चारित्रमोह के उदय से होते है। शेष ग्यारह परीषह वेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होते है। नौवे गुणस्थान तक तो ये सभी परीषह हो सकते है, किन्तु दसवे गुण-स्थान मे चारित्रमोहनीय के उदय से अरति आदि सात तथा दर्शन-मोहनीय के उदय से उत्पन्न होने वाले दर्शनपरीषह के सिवाय शेष चौदह परीषह होते है। छद्मस्थ वीतराग यानी ग्यारहवें-बारहवे गुणस्थानवर्ती मुनि मे भी ये चौदह परीषह सम्भव है। केवली मे केवल वेदनीयकर्म के उदय से होने वाले ग्यारह परीषह पाये जाते है।[२]

प्रस्तुत अध्ययन मे बाईस परीषहो के वर्णन में प्रसंगवश श्रमणनिर्ग्रन्थ की चर्या एव मर्यादा का महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन भी हुआ है।

---

१. इत्थी-सक्कार परिग्गहा, य दो भावसीयला एए।
सेसा वीसं उण्हा, परीसहा होंति नायव्वा॥ — आचाराग निर्युक्ति गा. २०२

२. (क) तत्त्वार्थ अ.९ सू.१३ से १६ तक, तथा १० से १२ तक।
(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति गा.७३ से ७८ तक।

द्वितीय अध्ययन : परीषह-प्रविभक्ति
(बिइयं अज्झयणं : परीसह-पविभत्ति)

श्री सुधर्मास्वामी द्वारा परीषह-निरूपण

मूल— १. सुयं मे आउसं ! तेण[1] भगवया एवमक्खायं- इह खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, [2] जे भिक्खू सोच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयंतो [3] पुट्ठो नो विहन्नेज्जा।

संस्कृत-छाया— श्रुत मया आयुष्मन्! तेन भगवता एवमाख्यातम्। इह खलु द्वाविंशति· परिषहा श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता। यान् भिक्षु श्रुत्वा ज्ञात्वा जित्वाऽभिभूय भिक्षाचर्याया परिव्रजन् स्पृष्टो नो विहन्येत ॥१ ॥

पद्यानुवाद— आयुष्मन् ! उन वीर प्रभु ने, बाईस परीषह बतलाए।
सुन जान जिन्हे भिक्षुक भिक्षा मे, पाकर कभी न घबराए ॥

अन्वयार्थ— (श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते है) **आउसं—** हे आयुष्मन् शिष्य !**मे—** मैंने, **सुयं—** सुना है, **तेण-** उन, **भगवया—**(अष्ट महाप्रातिहार्यादि ऐश्वर्य-सम्पन्न) भगवान् ने, **एवं—** इस प्रकार, **अक्खायं-** कहा है, **इह खलु—** इस लोक/निर्ग्रन्थ प्रवचन अथवा श्रमणजीवन मे,**बावीसं परीसहा—** बाईस परीषह होते है, (जो) **कासवेणं—** काश्यपगोत्रीय, **समणेणं भगवया महावीरेणं—** श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा, **पवेइया—** प्रवेदित (बतलाए गए या ज्ञात) है, **जे—** जिन्हे, **सोच्चा—** सुनकर, **नच्चा—** जानकर, **जिच्चा—** बार-बार के अभ्यास से परिचित कर, (तथा) **अभिभूय—**उनके सामर्थ्य को परास्त करके, **भिक्खायरियाए—** भिक्षाचर्या के लिए, **परिव्वयंतो—** पर्यटन करता हुआ, **भिक्खू—** भिक्षु, **पुट्ठो—** उनसे स्पृष्ट-आक्रान्त होने पर, **नो विहन्नेज्जा—** सयम का विघात नही करता, (अथवा सयम से च्युत नही होता)।

---

१. आउसतेण पॉच रूप पॉच अर्थ— (१) आयुष्मता- भगवान् का विशेषण, अर्थात्- आयुष्मान् चिरंजीवी भगवान् ने,(२) आयुष्मता— परार्थ-प्रवृत्ति आदि प्रशस्त आयु को धारण करते हुए भगवान् ने अथवा (३) आवसता— यह सुधर्मास्वामी का अपना (मया का) विशेषण है। अर्थ है- गुरुप्रदर्शित मर्यादापूर्वक गुरु के सान्निध्य में रहते हुए मैंने। (४) आमृशत— गुरु के चरण-कमलों का भक्तिपूर्वक स्पर्श करते हुए मैंने,(५) आजुषमाणेन— श्रवण विधि की मर्यादापूर्वक गुरु की सेवा करते हुए मैंने।

२ पवेइया दो रूप · दो अर्थ-(१) प्रवेदित— कहे है। अथवा (२) प्रविदित = स्वय साक्षात्कार करके प्रकर्परूप से ज्ञात (जाने हुए- अनुभूत।)

३ भिक्खायरियाए परिव्वयतो दो रूप दो अर्थ—(१) भिक्षाचर्या के लिए पर्यटन करता हुआ अथवा (२) भिक्षु (की शास्त्रविहित) चर्या (क्रिया) करने के लिए सर्वत्र विचरण करता हुआ। वृहद्वृत्तिकार के मतानुसार भिक्षाचरी करते समय ही प्राय बाईस परीषह उत्पन्न होते है।

भावार्थ— आयुष्मन् ! मैने सुना है कि उन काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर ने यो कहा था कि इस निर्ग्रन्थ प्रवचन मे बाईस प्रकार के परीषह बताये गये है, जिन्हे सुन-जानकर-जीतकर, उनकी प्रबलता को दबाकर, परिचित कर- भिक्षाटन करता हुआ भिक्षु उनके आक्रान्त होने पर सयममार्ग से विचलित नही होता ।

कथ्य की प्रामाणिकता बताने के लिए यहाँ सुधर्मास्वामी ने स्वय न कहकर केवलज्ञान, वीतरागता, मोहविजय आदि श्रेष्ठ गुणो से युक्त भगवान् महावीर के श्रीमुख से सुनने का उल्लेख किया है ।

परीषहसहन का विधान— उन बाईस परीषहो को गुरु से सुनकर, यथार्थ-रूप से जानकर पुनः-पुनः अभ्यास से परिचित कर, उनके सामर्थ्य को सर्वथा पराजित करके भिक्षाटन करते समय उन परीषहो से आक्रान्त होने पर भिक्षु विविध प्रकार से सयम शरीर से विनष्ट (विचलित) न हो ।

जम्बूस्वामी द्वारा पृच्छा

मूल— **कयरे ते खलु बावीसं परीसहा, समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया ? जे भिक्खू सोच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयंतो पुट्ठो नो विहन्नेज्जा ।**

संस्कृत-छाया— कतरे खलु ते द्वाविंशतिः परिषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिताः यान् भिक्षुः श्रुत्वा ज्ञात्वा जित्वा अभिभूय भिक्षाचर्यायां परिव्रजन् स्पृष्टो नो विनिहन्येत ॥२ ॥

पद्यानुवाद — कहो कौन बाईस परीषह, वीरप्रभु ने बतलाए ।
जिन्हे जान सुन विजित परिचित कर, भिक्षु कभी न घबराये ?

अन्वयार्थ— **ते** — वे, **बावीसं परीसहा**— बाईस परीषह, **कयरे खलु**— वास्तव मे कौन-से है ? (जिन्हे) **कासवेणं**— काश्यपगोत्रीय, **समणेण भगवया महावीरेणं**— श्रमण भगवान् महावीर ने, **पवेइया**— बतलाए है, या केवलज्ञान के प्रकाश मे स्वय जाने है, **जे**— जिन्हे, **सोच्चा**— सुन कर, **नच्चा**— जान कर, **जिच्चा**— अभ्यास के द्वारा परिचित कर, **अभिभूय**— सर्वथा पराजित कर, **भिक्खायरियाए**— भिक्षाचर्या (अथवा भिक्षु की चर्या) के लिए, **परिव्वयंतो**— पर्यटन (या विचरण) करता हुआ, **भिक्खू**— भिक्षु, **पुट्ठो**— इनसे स्पृष्ट-आक्रान्त होने पर, **नो विहन्नेज्जा**— संयम से विनष्ट-विचलित नहीं होता ।

सुधर्मास्वामी द्वारा साधु के लिए परीषह-सहन का अनिवार्यरूप से विधान किये जाने पर श्री जम्बूस्वामी ने इस प्रकार पृच्छा की । जिसका समाधान आगे किया गया है ।

सुधर्मास्वामी द्वारा दिया गया उत्तर

मूल— इमे ते खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, जे भिक्खू सोच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय, भिक्खायरियाए परिव्वयंतो, पुट्ठो नो विहन्नेज्जा ; तं जहा-१-दिगिंछापरीसहे, २-पिवासापरीसहे, ३-सीयपरीसहे, ४-उसिण-परीसहे, ५-दंस-मसय-परीसहे, ६-अचेलपरी सहे, ७-अरइपरीसहे, ८-इत्थीपरीसहे, ९-चरियापरीसहे, १०-निसीहियाप रीसहे, ११-स ज्जापरी- सहे, १२-अक्कोस-परीसहे, १३-वहपरीसहे, १४-जायणापरीसहे, १५-अलाभपरीसहे, १६-रोगपरीसहे, १७-तण-फासप रीसहे, १८-जल्लपरीसहे, १९-सक्कार-पुरक्कार परीसहे, २०-पन्नापरी - -सहे, २१- अन्नाणपरीसहे, २२-दंसणपरीसहे।

संस्कृत-छाया— इमे खलु ते द्वाविंशतिः परिषहा· श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता यान् भिक्षु· श्रुत्वा ज्ञात्वा जित्वा अभिभूय भिक्षाचर्याया परिव्रजन् स्पृष्टो नो विनिहन्येत, ते यथा- १क्षुधापरिषह २ पिपासापरिषह· ३ शीतपरिषह ४ उष्णपरिषह ५ दशमशकपरिषहः ६ अचेलपरिषहः७ अरतिपरिषहः ८ स्त्रीपरिषहः ९ चर्यापरिषहः १० नैषेधिकीपरिषहः ११ शय्यापरिषह· १२ आक्रोशपरिषहः १३ वधपरिषहः १४ याचनापरिषहः १५ अलाभपरिषहः १६ रोगपरिषहः १७ तृणस्पर्शपरिषह· १८ जल्लपरिषहः १९ सत्कारपुरस्कारपरिषह २० प्रज्ञापरिषह· २१ अज्ञानपरिषह· २२ दर्शनपरिषह· ॥३ ॥

पद्यानुवाद— ये है वे बाईस परीषह, प्रभु ने जो बतलाए है।
जिन्हे जान सुन जित परिचित, कर भिक्षु नही घबराए हैं ॥
प्रथम क्षुधा [१] और तृषा [२] दूसरा, जो कि कण्ठ-शोषण करता।
शीत [३] उष्ण [४] और दश-मशक [५] का, पीड़न मन विचलित करता ॥
अचेल [६], अरति [७], स्त्री [८], चर्या [९], शय्या [१०], निषीधिका [११], का है परीषह।
आक्रोश [१२], याचना [१३], वध [१४], अलाभ [१५] और रोग [१६], स्पर्श [१७] तृण का दु·सह ॥
है जल्ल [१८] परीषह अष्टादश, सत्कार-पुरस्कृति [१९] सुखकर है।
प्रज्ञा [२०] प्रखर अह लाती, दर्शन [२१] अज्ञान [२२] भी दु·खकर है ॥

अन्वयार्थ—खलु— वास्तव मे, **इमे—** ये, **ते—** वे, **बावीसं परीसहा—** बाईस परीषह है, (जिन्हे) **कासवेणं—** काश्यपगोत्रीय, **समणेणं भगवया महावीरेणं—** श्रमण भगवान्

महावीर ने, **पवेइया**— बतलाए है, या विशेषरूप से जाने है, **जे**— जिन्हे, **सोच्चा**— सुनकर, **नच्चा**— जानकर, **जिच्चा**— परिचित कर, (और) **अभिभूय**— परास्त करके, **भिक्खायरियाए**— भिक्षाचर्या (या भिक्षुचर्या) के लिए, **परिव्वयंतो**— पर्यटन करता हुआ, **भिक्खू**— साधु, **पुट्ठो**— इन परीषहो से आक्रान्त होने पर भी, **नो विहन्नेज्जा**— सयमपथ से विचलित नही होता । **तं जहा**— वे इस प्रकार हैं—

(१) **दिगिंछापरीसहे**— क्षुधा-परीषह, (२) **पिवासापरीसहे**— पिपासा-परीषह, (३) **सीयपरीसहे**— शीतपरीषह, (४) **उसिणपरीसहे**— उष्ण-परीषह, (५) **दंसमसयपरीसहे**— दंशमशकपरीषह, (६) **अचेलपरीसहे**— अचेल-परीषह, (७) **अरइपरीसहे**— अरति-परीषह, (८) **इत्थीपरीसहे**— स्त्रीपरीषह, (११) **सेज्जापरीसहे**— शय्यापरीषह,(१२) **अक्कोसपरीसहे**— आक्रोश-परीषह,(१३) **वहपरीसहे**— वध-परीषह, (१४) **जायणा परीसहे**— याचना-परीषह, (१५) **अलाभपरीसहे**— अलाभ परीषह, (१६) **रोगपरीसहे** — रोग-परीषह, (१७) **तणफासपरीसहे** — तृणस्पर्शपरीषह, (१८) **जल्लपरीसहे**— जल्ल-परीषह, (१९) **सक्कार-पुरक्कार-परीसहे**— सत्कार-पुरस्कार परीषह (२०) **पन्नापरीसहे**— प्रज्ञापरीषह, (२१) **अन्नाणपरीसहे**— अज्ञान-परीषह (और) (२२) **दंसण-परीसहे**— दर्शन-परीषह ।

विवेचन— इस सूत्र मे श्री सुधर्मास्वामी के द्वारा जम्बूस्वामी को दिया गया उत्तर प्रस्तुत है कि ये, वे (तुम्हारे द्वारा पूछे गये) बाईस परीषह है ।

तत्पश्चात् उन परीषहो के प्ररूपण तथा साधु के द्वारा उन्हे सहन करने का विधि-विधान बताकर बाईस परीषहो का क्रमश· नामोल्लेख किया गया है ।

परीषह का लक्षण— स्वीकृत धर्ममार्ग मे स्थिर रहने के लिए जो स्थिति समभावपूर्वक सहन करने योग्य हो, वह परीषह है ।

संख्या— यद्यपि परीषहो की संख्या संक्षेप मे कम और विस्तार मे अधिक भी कल्पित की जा सकती है, तथापि धर्ममार्ग पर दृढ रहने तथा त्याग का विकास करने की दृष्टि से निश्चित रूप से बाईस परीषह यहाँ बताये गये है, जिसका सकेत 'खलु' शब्द से किया गया है ।

परीषहों का विशेष अर्थ— (१) **क्षुधा परीषह**— दिगिछा शब्द देशीय है, उसका रूपान्तर 'बुभुक्षा' होता है । भूख की वेदना अत्यन्त व्याकुलता उत्पन्न करने वाली हो, फिर भी अगीकृत मर्यादा के विपरीत आहार न लेकर तथा स्वय आहार पकाने-पकवाने आदि की इच्छा का त्याग करके क्षुधा वेदना को समभावपूर्वक सब प्रकार से सहन करना क्षुधा परीषह है ।

(२) पिपासा परीषह— प्यास के मारे अत्यन्त कण्ठ सूख रहा हो, फिर भी अपनी स्वीकृत मर्यादा के विपरीत सचित्त जल न लेकर उक्त कष्ट को समभावपूर्वक सहना ।

(३-४) शीत और उष्ण परीषह— ठण्ड और गर्मी से चाहे जितना कष्ट होता हो, फिर भी उनके निवारणार्थ किसी भी सचित्त या अकल्प्य वस्तु का सेवन न करके समभाव से उन वेदनाओं को सहना ।

(५) दंशमशक— डास, मच्छर, खटमल आदि क्षुद्र जन्तुओ के उपद्रव से खिन्न न होना तथा उन्हे मारने आदि का विचार न करके समभावपूर्वक सहना ।

(६) अचेल— अचेल के दो अर्थ किये जाते है— स्वपर श्रेय के लिए बस्ती मे विचरण करना अनिवार्य होने से अचेल अथवा नग्नत्व का अर्थ भाव से नग्नत्व और द्रव्य से मूर्च्छारहित होकर अल्प-मर्यादित वस्त्र धारण करना तथा कदाचित् वे न मिले या अत्यन्त जीर्ण हो गये हो, तब भी समभावपूर्वक वस्त्राभाव या अल्प या जीर्ण वस्त्र के कारण होने वाले कष्ट को समभाव से सहना ।

(७) अरति— स्वीकृत संयम पथ पर चलने मे अनेक कठिनाइयॉ आने से अरति का प्रसग आने पर भी अरति न लाते हुए धैर्यपूर्वक उसमे रम जाना- लीन हो जाना ।

(८) स्त्री— पुरुष या स्त्री साधक का अपनी साधना मे विजातीय आकर्षण या मोह का प्रसग आने पर न ललचाना, समभाव एव ज्ञानबल से मन को मोडना ।

(९) चर्या— स्वीकृत धर्मजीवन को पुष्ट रखने के लिए सशक्त दशा मे एक स्थान पर वास न करके ग्रामानुग्राम अप्रतिबद्ध विहार करने के कष्ट को सहना ।

(१०) निषद्या— स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि की साधना के अनुकूल एकान्त स्थान मे मर्यादित समय तक स्थिर आसन से बैठे हुए रहने मे कष्ट हो या भय आदि का प्रसग आ जाए तो समभावपूर्वक सहना ।

(११) शय्या— कोमल या कठोर, ऊँची या नीची, जैसी भी जगह निवास के लिए सहजभाव से मिल जाए वहॉ समभावपूर्वक सोना, रहना ।

(१२) आक्रोश— कोई व्यक्ति आक्षेप करे, कठोर वचन कहे, निन्दा या भर्त्सना करे, फिर भी समभावपूर्वक सहना ।

(१३) वध— कोई व्यक्ति मारे-पीटे तब भी समभाव पूर्वक सहना ।

(१४) याचना परीषह— दीनता या अभिमान न रखते हुए, भिक्षावृत्ति (याचकवृत्ति) को धर्म समझकर सयम यात्रा के निर्वाहार्थ स्वीकार करना ।

(१५) **अलाभ परीषह**— याचना करने अथवा भिक्षा के लिए घूमने पर भी आहारादि न मिले या पर्याप्त न मिले अथवा अनुकूल न मिले तो भी उसे समभावपूर्वक सहना ।

(१६) **रोग**— कुष्ठ, केसर, क्षय आदि दुःसाध्य रोग हो जाने पर व्याकुलता न लाते हुए समभाव से वेदना सहना ।

(१७) **तृण-स्पर्श**— अपने संस्तारक मे या अन्यत्र घास या तृण का तीक्ष्ण या कठोर स्पर्श का अनुव होता है उसे समभावपूर्वक सहन करना किन्तु कोमल गुदगुदे गद्दे, पलग आदि की इच्छा न करना ।

(१८) **जल्ल-परीषह**— जल्ल का अर्थ मल है । अर्थात् शरीर पर पसीने से मैल जम जाए, तब भी समभाव से रहना ।

(१९) **सत्कार-पुरस्कार**— चाहे जितना सत्कार (अभ्युत्थान वन्दन या वस्त्रादि या अभिनन्दन-प्रशंसा) हो उससे प्रसन्न न होना, फूलना नही तथा सत्कार न मिलने पर खिन्न न होना ।

(२०) **प्रज्ञा**— चमत्कारिणी बुद्धि होने पर गर्व न करना तथा वैसी बुद्धि न होने पर खेद न करना ।

(२१) **अज्ञान**— विशिष्ट शास्त्रज्ञान से गर्वित न होना तथा उसके अभाव मे हीन भावना न लाना ।

(२२) **दर्शन परीषह**— अपने धर्माचरण, तप आदि का इहलौकिक-पारलौकिक फल न मिलने पर अथवा क्रियावादियों की मान्यता की सुनकर समझ मे न आने पर सम्यक् श्रद्धा या देव-गुरु-धर्म-सिद्धान्त आदि पर आस्था से विचलित न होना, अविचल चित्त होकर सहना ।

विशेष व्याख्या आगे मूल पाठो मे आएगी ही ।

परीषह-प्रभेद-कथन-प्रतिज्ञा—

मूल— परीसहाणं पविभत्ती कासवेणं पवेइया ।
तं भे उदाहरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे ॥१ ॥

संस्कृत-छाया— परिषहाणां प्रविभक्तिः, काश्यपेन प्रवेदिता ।
तां भवतामुदाहरिष्यामि, आनुपूर्व्या शृणुत मे ॥१ ॥

पद्यानुवाद— परीषहो के इस विभाग को, काश्यप ने है बतलाया ।
क्रमवार उसे मै कहता हूँ, सुन प्रभु ने जैसा फरमाया ॥१ ॥

अन्वयार्थ— कासवेणं— काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर ने, **परीसहाणं**— परीषहो का, **पविभत्ती**— विभाग, **पवेइया**— बतलाया है, **तं**-उसे, **भे**— तुम्हे, **उदाहरिस्सामि**— मै कहूँगा, **मे**— मुझसे, (तुम), **आणपुव्विं**— क्रमशः, **सुणेह**— सुनो ।

भावार्थ— परीषहो का जो (पविभत्ती) विभागशः स्वरूप काश्पगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने बताया है, उसे मै तुमसे कहूँगा, तुम मुझसे क्रमश· सुनो ।

१. क्षुधा-परीषह

मूल— दिगिंछा-परिगए देहे, तवस्सी भिक्खू थामवं ।
न छिंदे न छिंदावए, न पए, न पयावए ॥२ ॥

संस्कृत-छाया— क्षुधापरिगते देहे, तपस्वी भिक्षुः स्थामवान् ।
न च्छिद्यात् न च्छेदयेत्, न पचेत् न पाचयेत् ॥२ ॥

पद्यानुवाद— क्षुंधा व्याप्त होने पर तन मे, तपसी मुनि साहस दिखलाए ।
फल-मूलादिक छेदन पाचन, स्वयं करे, ना करवाए ॥२ ॥

अन्वयार्थ—देहे— शरीर, **दिगिंछा परिगए**— भूख से व्याप्त (अत्यन्त व्याकुल) होने पर (भी) **तवस्सी**— तपस्वी, (और) **थामवं**— मनोबल या संयमबल से युक्त, **भिक्खू**— भिक्षु, (फल, मूल आदि का) **न छिंदे**— न तो स्वयं छेदन करे और, **न छिंदावए**— न ही दूसरो से छेदन कराए, **न पए**— न उन्हे पकाए, (और) **न पयावए**— न दूसरो से पकवाए ।

भावार्थ— शरीर भूख से अत्यन्त पीडित हो तो भी तपश्चर्यारत एवं मानसिक या सयमी शक्ति से सम्पन्न साधु फल, मूल आदि सचित्त वनस्पतियो का छेदन-भेदन न तो स्वयं करे, और न दूसरों से कराए । इसी तरह इन्हे न तो स्वयं पकाए और न ही दूसरो से पकवाए । अर्थात्-क्षुधा-परीषह को समभावपूर्वक सहन करे; किन्तु अपनी स्वीकृत साधुमर्यादा भग न करे ।

न छिंदे आदि पदों का तात्पर्य— तपस्वी एवं सयम-शक्तिसम्पन्न साधक छेदन-पाचन करे नही, कराए नही, पकाने और छेदन करने वाले का अनुमोदन भी न करे । इसी तरह वह न खरीदे, न दूसरो के द्वारा खरीदवावे और न खरीदने वाले का अनुमोदन करे, यह भी समझ लेना चाहिए ।

तात्पर्य यह है— क्षुधा से पीडित होने पर भी साधु नवकोटि विशुद्ध आहार ग्रहण करने की मर्यादा भंग न करे । अपितु इस परीषह को कर्म-निर्जरा की दृष्टि से सहन करे । क्षुधापरीषह पर उज्जयिनीवासी हस्तिमित्र के विरक्त एव प्रव्रजित पुत्र हस्तिभूति की कथा द्रष्टव्य है ।

मूल— कालीपव्वंग-संकासे, किसे धमणिसंतए।
मायन्ने असणपाणस्स, अदीणमणसो चरे ॥३ ॥

संस्कृत-छाया— कालीपर्वाङ्गसंकाशः कृशो धमनिसंततः ।
मात्रज्ञोऽशनपानयोः अदीनमनाश्चरेत् ॥३ ॥

पद्यानुवाद— काकजंघ-सम क्षुधाक्षीण, तन नस-ढांचा भर रह जाए ।
अशन-पानमात्रज्ञ साधु, भिक्षा अदीनमन से लाए ॥३ ॥

अन्वयार्थ— (दीर्घकालिक भूख के कारण शरीर) **कालीपव्वंगसंकासे—** कौए की जाघ अथवा काकजंघा (तृणविशेष) के समान, **किसे—** कृश (दुर्बल) हो जाए, **धमणिसंतए—** धमनियो (नसो) का जाल मात्र रह जाए, (तो भी) **असण-पाणस्स मायन्ने—** अशन एव पानरूप आहार की मात्रा को जानने वाला भिक्षु, **अदीणमणसो—** अदीनभाव से, **चरे-** संयम मार्ग मे विचरण करे ।

भावार्थ— लम्बे समय से भूखा रहने के कारण शरीर कौए की जांघ या काकजघा नामक तृण के समान अत्यन्त दुर्बल हो जाए, नसो के जाल से व्याप्त हो जाए, फिर भी आहार-पानी की मात्रा का ज्ञाता मुनि दीनतारहित मन वाला होकर सयममार्ग मे विचरण करे ।

'मायन्ने' और अदीणमणसो' का तात्पर्य— शरीर इतना दुर्बल और नसो का जाल मात्र हो जाने पर क्षुधा से अत्यन्त पीड़ित साधु नवकोटिविशुद्ध आहार मिलने पर भी न तो जिह्वालोलुपतावश अतिमात्रा मे आहार करे और न ही उस विधि से आहार न मिलने पर मन में दैन्यभाव लाए ।

२. पिपासा परीषह

मूल— तओ पुट्ठो पिवासाए, दोगुञ्छी लज्जसंजए[1] ।
सीओदगं[2] न सेविज्जा, [3] वियडस्सेसणं चरे ॥४ ॥

१. लज्जसंजए : तीन रूप : तीन अर्थ (१) लल्जासंयत— लज्जा से जो साधक सम्यक् यत्न करता है, अर्थात् कार्य के प्रति आदरभाव से युक्त होता है, (२) लज्जासंयत— लज्जावान् (असयम या अनाचार का सेवन करने में लज्जित होने वाला), एवं संयत- संयमी साधु । (३) लज्जासयम— लज्जा और सयम, इन दोनों से ओतप्रोत ।

२. 'सीओदग' : भावार्थ— शीतोदक का सामान्यतया अर्थ होता है- ठण्डा पानी । किन्तु यहाँ 'शीतोदक' शब्द उपलक्षण से स्वरूपस्थ सचित्त एवं अप्रासुक (कच्चे) जल के अर्थ में है ।

३. वियडस्स भावार्थ— विकृत का अर्थ यहाँ अग्नि आदि से विकार प्राप्त प्रासुक जल की, एसणं चरे— गवेषणा के लिए तथाविध कुलों में विचरण-पर्यटन करे । अथवा एषणा का अर्थ है एषणासमिति का आचरण करे, इसका तात्पर्य यह है कि एक बार भी एषणा की अशुद्धि होने पर अत्यन्त प्यास लगने पर अनेषणीय पानी ग्रहण करके एषणा का अतिक्रमण न करे ।

संस्कृत-छाया— तत स्पृष्ट· पिपासया, जुगुप्सी लज्जासयत ।
शीतोदक न सेवेत, विकृतस्यैषणा चरेत् ॥४ ॥

पद्यानुवाद— पापभीरु सयम-तत्पर, अत्यन्त तृषा-पीडित होकर ।
शीतोदक-सेवन करे नही, लाए प्रासुक जल शोधन कर ॥४ ॥

अन्वयार्थ— **तओ**— उसके (क्षुधापरीषह के) पश्चात्, **पिवासाए**— प्यास से, **पुट्ठो**— स्पृष्ट(पीडित) होने पर (भी), **दोगुञ्छी**— असयम (या अनाचार) से घृणा करने वाला, **लज्ज-संजए**— लज्जावान् सयमी भिक्षु, **सीओदगं**— शीतोदक-सचित्त जल का, **न सेविज्जा**— सेवन न करे, (किन्तु) **वियडस्स**— विकृत-(प्रासुक अचित्त) जल की, **एसणं चरे**— गवेषणा करे ।

भावार्थ— क्षुधापरीषह के पश्चात् पिपासा से पीडित होने पर असयम मे अरुचि रखने वाला, लज्जाशील एव सयमी मुनि सचित्त जल का सेवन न करे, किन्तु अचित्त प्रासुक जल की एषणा करे ।

मूल— **छिन्नावाएसु पंथेसु, आउरे सुपिवासिए ।**
परिसुक्कमुहेऽदीणे, तं तितिक्खे परीसह ॥५ ॥

संस्कृत-छाया— छिन्नापातेषु पथिषु आतुर सुपिपासित· ।
परिशुष्कमुखोऽदीन त तितिक्षेत् परीषहम् ॥५ ॥

पद्यानुवाद— निर्जन पथ मे यात्रा करते, अत्यन्त तृषातुर हो करके ।
सूखा मुँह मुनि दीनभाव तज, चले प्यास को सह करके ॥५ ॥

अन्वयार्थ— **छिन्नावाएसु**— लोगो के आवागमन से शून्य (छिन्न) (एकान्त निर्जन), **पंथेसु**— मार्गो मे भी, **सुपिवासिए आउरे**— तीव्र प्यास से आतुर (अत्यन्त व्याकुल) **परिसुक्कमुहे**— मुह अत्यन्त सूख जाने पर भी, (मुनि) **अदीणे**— दीनतारहित होकर, **तं परीसहं**— उस पिपासा-परीषह को, **तितिक्खे**— (शान्ति से) सहन करे ।

भावार्थ— जनसचार से शून्य (एकान्त) निर्जन मार्गो मे भी (विहार करता साधु) तीव्र पिपासा से आतुर (आकुल-व्याकुल) हो गया हो; (यहाँ तक कि) मुँह भी अत्यन्त सूख गया हो, (तो भी मुनि) दीनता-रहित होकर उस पिपासा-परीषह को शान्ति से सहन करे ।

विवेचन— **प्रस्तुत गाथा का तात्पर्य**— निर्जन स्थानो मे साधु अकेला हो और तृषा से अत्यन्त बेचैन हो गया हो, प्यास के मारे गला एकदम सूख गया हो, तो भी 'मुझे यहाँ कोई भी नही देखता,' यह सोचकर वह अपनी स्वीकृत मर्यादा (एषणा) का उल्लघन न करे, अर्थात्— सचित्त जल का स्पर्श भी न करे । इस प्रकार करने पर ही पिपासा-परीषह सहन

किया कहलाता है ।

मध्यकाल के मुनि-इतिहास के अनुसार आत्मार्थी मुनि उदय और केशव ने मारवाड-मेवाड़ के सीमावर्ती सिरिआरी गॉव की ओर विहार करते हुए मार्ग मे अचित्त जल न मिलने से सहर्ष प्राण त्याग दिये, किन्तु साधु-मर्यादा का अतिक्रमण करके सचित्त जल का सेवन नही किया ।

अम्बड़ के शिष्यों द्वारा पिपासा परीषह सहन— औपपातिकसूत्र के अनुसार एक बार अम्बड़ परिव्राजक के सात सौ शिष्य ग्रीष्मकाल की तीव्र गर्मी मे गंगा नदी के किनारे विहार करते हुए जा रहे थे । उन्हे तीव्र प्यास लगी, किन्तु नियमानुसार पानी देने वाला दाता न मिलने से उन्होंने वही गंगा नदी के रेतीले मैदान मे अनशन (सथारा) करके प्राण त्याग कर दिये, किन्तु बिना दिया हुआ पानी ग्रहण नही किया । शुभभावो से शरीर का व्युत्सर्ग करके वे सभी पंचम देवलोक में उत्पन्न हुए ।

३. शीतपरीषह

मूल— चरंतं विरयं लूहं, सीयं फुसइ एगया ।
नाइवेलं मुणी गच्छे, सोच्चा णं जिणसासणं ॥६ ॥

संस्कृत-छाया— चरन्तं विरतं रूक्ष, शीतं स्पृशति एकदा ।
नातिवेलं मुनिर्गच्छेत्, श्रुत्वा जिनशासनम् ॥६ ॥

पद्यानुवाद— रूक्षवृत्ति आरम्भविरत मुनि, कभी शीत से पीडित हो ।
न करे मर्यादा उल्लंघन, सुनकर जिनशासन प्रमुदित हो ॥६ ॥

अन्वयार्थ— विरयं— अग्नि आदि सावद्ययोग से निवृत्त, (तथा) **लूह—** तेल आदि की मालिश न करने से रूक्ष शरीर वाले (साधु) को, **चरंतं—** ग्रामानुग्राम (अथवा मोक्षमार्ग मे) विचरण करते हुए, **एगया—** शीतकाल में कभी, **सीअं—** शीत (ठण्ड), **फुसइ—** स्पर्श (पीडित) करे (फिर भी आत्मजयप्रेरक) **जिणसासणं—** जिनशासन (वीतराग भगवान् की शिक्षाओ) को, **सोच्चा णं—** सुनकर, **मुणी—** मुनि, **अइवेलं—** स्वाध्याय आदि के काल का उल्लघन करके दूसरे स्थान मे, (अथवा अपनी यथोचित साधुमर्यादाओ का उल्लंघन करके) **न गच्छे—** नही जाए ।

भावार्थ— पापो से विरत एव (स्निग्ध भोजनादि के अभाव में) रूक्ष शरीर वाले मुनि को विचरण करते हुए कदाचित् शीत (ठण्ड) पीडित करे, तो जिनशासन (वीतराग प्रभु के उपदेश) को सुन-समझ कर मुनिमर्यादा का अतिक्रमण करके न जाए (अथवा स्वाध्याय आदि के काल का उल्लंघन करके दूसरे स्थान मे न जाए) ।

नाइवेलं मुणी गच्छे : व्याख्या— (१) वेला का अर्थ है— मर्यादा या सीमा। अत जिनकल्पी की अपेक्षा से अथवा स्थविरकल्पी की अपेक्षा से जो मर्यादा है, अर्थात्- जिनकल्प की अपेक्षा से जो अतिशय मर्यादा- सर्वथा निरपेक्ष शीतसहनरूप मर्यादा है तथा स्थविरकल्प की अपेक्षा से जो अतिशय मर्यादा-शक्ति की अपेक्षा से शीतसहनरूप मर्यादा है, उसे न तोडे। आशय यह है कि अत्यन्त शीतबाधा होने पर आर्त्त-रौद्र ध्यान करके अथवा वहाँ से हटकर स्थानान्तर कर मर्यादा का उल्लघन करके न जाए। (२) अथवा स्वाध्यायादि के काल की सीमा का अतिक्रमण करके 'मै शीत से पीडित हूँ', ऐसा सोचकर मुनि वहाँ से हटकर दूसरे स्थान पर न जाये।

जिणसासणं : तात्पर्य— जिनागमो मे जिन भगवान् का उपदेश है— आत्मा अलग है, शरीर अलग है तथा नरकादि गतियो मे इस जीव ने इससे भी अनन्तगुणी शीत-वेदना का अनुभव किया है।

मूल— ण मे निवारणं अत्थि, छवित्ताणं न विज्जइ।
'अहं तु अग्गिं सेवामि', इइ भिक्खू न चिंतए ॥७॥

संस्कृत-छाया— न मे निवारणमस्ति, छविस्त्राण न विद्यते।
अह तु अग्नि सेवे, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥७॥

पद्यानुवाद— शीतनिवारक भवन नही, छवि—रक्षक पट भी प्राप्त नही।
पावक से सर्दी दूर करूँ, ऐसा मुनि चिन्तन करे नही ॥७॥

अन्वयार्थ— (सर्दी से पीडित होने पर)**भिक्खू**— मुनि, **इइ**— इस प्रकार, **न**— नही, **चिंतए**— सोचे कि, **मे**— मेरे पास, **निवारणं**— शीत-निवारण के योग्य मकान आदि, **न अत्थि**— नही है, (तथा) **छवित्ताणं**— शरीर को ठण्ड से बचाने के लिए छवित्राण-कम्बल आदि ऊनी वस्त्र भी, **न विज्जइ**— नहीं है, **अहं तु**— तो मै, **अग्गिं**— अग्नि का, **सेवामि**- सेवन क्यो न कर लूँ?

विवेचन— मन में ऐसा चिन्तन भी न करे— साधु को कदाचित् शीत-निवारण के लिए अच्छा स्थान (मकान, उपाश्रय आदि) न मिले अथवा गर्म वस्त्र आदि के साधन न मिले, फिर भी वह इस प्रकार का कदापि चिन्तन न करे 'कि इससे तो अच्छा है, मै आग से शरीर को तपा लूँ!' आशय यह है कि साधु को अग्नि का सेवन करना तो दूर रहा, ऐसा मर्यादाविरुद्ध विचार भी करना नही चाहिए।

इस विषय मे राजगृह नगर के भद्रबाहुस्वामी के पास दीक्षित और एकलविहारप्रतिमा को स्वीकार किये हुए चार समवयस्क मुनियो की कथा द्रष्टव्य है।

४. उष्णपरीषह

मूल— **उसिणपरियावेणं परिदाहेण तज्जिए।**
घिसुं वा परियावेणं, सायं नो परिदेवए ॥८ ॥

संस्कृत-छाया— उष्णपरितापेन, परिदाहेन तर्जितः ।
ग्रीष्मे वा परितापेन, सात नो परिदेवेत ॥८ ॥

पद्यानुवाद— तप्त भूमि के तापो से, या ग्रीष्म भूमि के दाहो से ।
पीड़ित हो सुख के हेतु संत, आकुल न करे मन आहो से ॥८ ॥

अन्वयार्थ— उसिणपरियावेणं— (तपी हुई भूमि, शिला या लू आदि की) उष्णता के परिताप मे, **परिदाहेण—** तथा शरीर (या प्यास) की दाह से, **वा—** अथवा, **घिसुं परियावेणं—** ग्रीष्मऋतु के सूर्य के परिताप से, **तज्जिए—** पीडित (तर्जित) साधक, **सायं—** (ठण्डक आदि की) साता (सुख) के लिए, **नो परिदेवए—** विलाप (आकुलता) न करे ।

भावार्थ— तपी हुई धरती, शिला या लू आदि की गर्मी से, परिताप से तथा बाहर से पसीना, मैल या लुहारशाला के पास खडे हो तो उसकी अग्नि से और अन्दर से प्यास से उत्पन्न हुई दाह से अथवा ग्रीष्मकालिक सूर्य-किरणो के प्रखर ताप से पीडित साधु ठण्डक आदि की सुख-साता के लिए विलाप या व्याकुलता न करे ।

विवेचन— सायं नो परिदेवए : तात्पर्य— उष्णता के परिताप एवं दाह से अत्यन्त पीडित होने पर साधु इस प्रकार का विलाप न करे— 'हाय !कब मुझ अभागे को ठण्डक का सुखानुभव होगा ? अथवा कब और कैसे इस ग्रीष्म ऋतु से छुटकारा होगा और शीतकाल आएगा, या कब चन्द्रमा की शीतल सुखोत्पादक किरणे मुझे प्राप्त होंगी ?' यही इस पंक्ति का तात्पर्य है ।

मूल— **उण्हाहितत्ते मेहावी, सिणाणं णो वि पत्थए।**
गायं णो परिसिंचेज्जा, ण वीएज्जा य अप्पयं[१] ॥९ ॥

संस्कृत-छाया— उष्णाभितप्तो मेधावी, स्नान नापि प्रार्थयेत् ।
गात्रं नो परिसिंचेत्, न वीजयेच्चात्मानम् ॥९ ॥

पद्यानुवाद— उष्ण ताप से तप्त प्राज्ञमुनि, स्नानेच्छा ना मन लाए ।
करे न गीला तन जल से, पंखे से न हवा खाए ॥९ ॥

१. अप्पय : दो अर्थ— (१) थोड़ी सी भी (२) अपने शरीर पर ।

अन्वयार्थ— उण्हाहितत्ते— गर्मी के ताप से तप्त (परेशान) होने पर भी, **मेहावी—** बुद्धिमान (या मर्यादाशील) साधु, **सिणाणं—** स्नान की, **नोवि पत्थए—** इच्छा मात्र भी न करे, **गायं—** जल से शरीर को, **नो परिसिंचेज्जा—** न सीचे, (गीला न करे) **य—** और, **न—** नही, **अप्पयं—** अपने शरीर पर, **वीएज्जा—** पखे आदि से हवा करे।

विवेचन— गर्मी से अत्यन्त पीडित मर्यादा का अतिक्रमण करके मुनि मुख्यतया निम्नोक्त त्रिविध प्रतीकार न करे— (१) स्नान की इच्छा न करे (२) शरीर पर पानी न डाले और (३) पखे आदि से हवा न करे।

इस विषय मे अर्हन्नक मुनि की कथा द्रष्टव्य है। जिस प्रकार अर्हन्नक मुनि ने उष्णपरीषह सहन किया था, इसी प्रकार दूसरे साधुओ को भी सहन करना चाहिए। (कथा परिशिष्ट मे देखें)

५. दंशमशक परीषह

मूल— पुट्ठो य दंसमसएहिं, सम एव महामुणी।
नागो संगामसीसे वा, सूरो अभिहणे परं ॥१०॥

संस्कृत-छाया— स्पष्टश्च दंशमशकैः, सम एव महामुनिः।
नाग सग्रामशीर्षे इव, शूरोऽभिहन्यात् परम् ॥१०॥

पद्यानुवाद— दशमशक से छूने पर, समरस हो मुनि दु ख सहन करे।
सग्रामशीर्ष पर शूर नाग, ज्यो शत्रु सैन्य पर विजय करे ॥१०॥

अन्वयार्थ— दंसमसएहिं— डास, मच्छर के उपद्रवो से पीडित होने पर भी महामुनि, **समरेव—** समभाव मे ही स्थित रहे, **संगामसीसे वा—** जिस प्रकार युद्ध के मोर्चे पर, **सूरो—** शूरवीर, **णागो—** हाथी, **परं—** शत्रु का हनन करता है, वैसे ही मुनि भी दंशमशकपरीषह रूप सैन्य का हनन करे।

विवेचन— दंसमसएहिं : उपलक्षण से— डास, मच्छर तथा उपलक्षण से जू, खटमल आदि क्षुद्र जन्तुओ के उपद्रवो से।

'णागो संगामसीसे वा' उपमा— जैसे युद्ध के मोर्चे मे रहकर शूरवीर हाथी बाणो की कुछ भी परवाह न करता हुआ शत्रु सैन्य का हनन करता है, वैसे ही महामुनि भी परीषहो के आक्रमण की कुछ भी परवाह न करते हुए रागद्वेष रूपी अन्तरंग शत्रुओ का हनन करे।

मूल— न संतसे, न वारेज्जा, मणं पि न पओसए।
उवेहे, न हणे पाणे, भुंजंते मंस-सोणियं ॥११॥

संस्कृत-छाया— न सत्रसेत् न वारयेत्, मनोऽपि न प्रदूषयेत्।

उपेक्षेत न हन्यात्प्राणिनः, भुञ्जानान्मांसशोणितम् ॥११ ॥

पद्यानुवाद— त्रस्त न हो, ना दूर हटाए, मन मे भी ना द्वेष करे ।

रक्त-मांस खाते ना मारे, सतत उपेक्षाभाव धरे ॥११ ॥

अन्वयार्थ— (मुनि उन डांस और मच्छरो से) **न संतसे—** संत्रस्त (उद्विग्न) न हो, **न वारेज्जा—** न उन्हे हटाए, **मणं पि—** मन मे भी, **न पओसए—** उनके प्रति द्वेषभाव न लाए, **मंस-सोणियं—** अपना मांस और रक्त, **भुंजंते—** खाने-पीने पर भी, **पाणे—** उन प्राणियो के प्रति, **उवेहे—** उपेक्षाभाव रखे, **न हणे—** उन्हे मारे नही ।

विवेचन— आशय— अत्यन्त पीड़ित करने वाले डांस, मच्छर आदि क्षुद्र प्राणियो के प्रति साधु यह विचार करे कि ये बेचारे असज्ञी और आहारार्थी जीव है, मेरा शरीर इनका भोज्य है, फिर इस शरीर पर अनेक प्राणियो का अधिकार है, इसलिए यह सर्वसाधारण है, इस कारण यदि ये प्राणी इसका भक्षण करे तो मुझे उन पर द्वेष क्यो करना चाहिए ? यह सोच कर उनके प्रति उपेक्षाभाव रखे, किन्तु उनका विघात न करे ।

इस विषय मे सुमनोभद्र मुनि की कथा परिशिष्ट में देखे ।

६. अचेल-परीषह

मूल— **परिजुण्णेहिं वत्थेहिं, होक्खामि त्ति अचेलए ।**

अदुवा सचेलए होक्खं, इइ भिक्खू न चिंतए ॥१२ ॥

संस्कृत-छाया— परिजीर्णैर्वस्त्रैः भविष्यामीत्यचेलकः ।

अथवा सचेलको भविष्यामि इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥१२ ॥

पद्यानुवाद— फटे-जीर्ण वस्त्रो के कारण, वस्त्र रहित हो जाऊँगा ।

मन मे भाव न ऐसा लाए, अब नये वस्त्र को पाऊँगा ॥१२ ॥

अन्वयार्थ— परिजुण्णेहिं वत्थेहिं— वस्त्रो के अत्यन्त जीर्ण हो (फट) जाने से **अचेलए—** मै अचेलक (नग्न), **होक्खामि—** हो जाऊँगा, **त्ति—** ऐसा, **अदूवा—** अथवा (नया वस्त्र मिलने पर फिर मै), **सचेलए—** सचेलक (सवस्त्र), **होक्खं—** हो जाऊँगा, **इइ—** इस प्रकार, **भिक्खू—** साधु, **न चिन्तए—** न सोचे ।

विवेचन— "मेरे वस्त्र अब अत्यन्त जीर्ण हो गये है, इनके सिवाय अन्य वस्त्र मेरे पास है नही । ये वस्त्र तो थोड़े दिन ही चलेगे । कोई दाता भी तो नहीं दिखता, ऐसी स्थिति मे मुझे निर्वस्त्र होना पड़ेगा' । भिक्षु इस प्रकार का दैन्य मन मे न लाये और न यह सोचकर मन मे हर्षित हो कि "मेरे जीर्ण वस्त्र देखकर कोई श्रद्धालु श्रावक मुझे नये वस्त्र दे देगा । अहा ! फिर मै नये वस्त्रो से सुसज्जित हो जाऊँगा ।" इस प्रकार हर्ष भी नहीं करे अपितु दैन्य और हर्ष से

दूर रहे ।

प्रस्तुत गाथा मे जीर्णादि वस्त्र के कारण सचेलक स्थविरकल्पी साधु की अपेक्षा से अचेल परीषह बताया है ।

मूल— एगयाऽचलेए होइ, सचेले यावि एगया ।
एयं धम्महियं नच्चा, नाणी नो परिदेवए ॥१३ ॥

संस्कृत-छाया— एकदाऽचेलको भवति, सचेलको वाऽपि एकदा ।
एतं धर्म हितं ज्ञात्वा, ज्ञानी नो परिदेवेत ॥१३ ॥

पद्यानुवाद— कभी अचेलक होता है, स्थितिवश सचेल भी हो जाता ।
दोनो को धर्मार्थ जान, ज्ञानी अदीनमन बन जाता ॥१३ ॥

अन्वयार्थ— एगया— (विभिन्न एवं विशिष्ट परिस्थितियो के कारण) कभी (मुनि), **अचेलए—** अचेलक, **होइ—** होता है, और **एगया-सचेले यावि —** कभी सचेलक भी होता है ।(अत.)**एयं—** ये (अचेलक अवस्था और सचेलक अवस्था) दोनो ही (स्थितियॉ, यथाप्रसग), **धम्महियं—** सयम-धर्म के लिए हितकारक, **नच्चा—** जान कर, **नाणी—** ज्ञानी मुनि, **नो परिदेवए—** खेद न करे ।

विवेचन— 'अचेलकता-सचेलकताःदोनों में समभाव रखे'— चूर्णि और वृहद्वृत्ति के अनुसार- साधु जिनकल्प अवस्था मे अचेलक होता है और स्थविरकल्प अवस्था मे भी जब वस्त्र दुर्लभ हो जाते है या सर्वथा मिलते ही नहीं अथवा वस्त्र फट जाते है तब वह अचेलक हो जाता है । इसके अतिरिक्त चूर्णिकार के मतानुसार स्थविरकल्पी मुनि वस्त्र होने पर भी वर्षारात्र (वर्षाऋतु- भाद्रपद और आश्विन) शिशिररात्र (पौष और माघ) अथवा वर्षा गिरते समय तथा प्रभातकाल मे भिक्षा के लिए जाते समय मे सचेलकता के सिवाय स्थविरकल्पी अवस्था मे दिन मे, ग्रीष्मऋतु मे या वर्षाऋतु मे वर्षा आने तक भी वह अचेलक रहता है । लगभग ऐसा ही अभिमत शांत्याचार्य एव नेमिचन्द्राचार्य का है ।

इस विधान से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि एक ही (स्थविरकल्प कोटि का) मुनि अपने जीवन मे अचेलक-सचेलक— दोनो अवस्थाओ मे रहता है ।

आचारांग सूत्र मे बताया है कि तथाविध अभिग्रहधारी मुनि तीन, दो या एक वस्त्र को धारण करके रहने की अथवा निर्वस्त्र रहने की स्वेच्छा से प्रतिज्ञा लेता है । वह अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ रहे, किन्तु अपने से अधिक या न्यून वस्त्र रखने वाले या निर्वस्त्र रहने वाले की निन्दा या उससे घृणा न करे, उसे भी भगवदाज्ञापरायण साधु माने, क्योकि स्थिति-विशेष से अचेलकता और सचेलकता दोनो ही अवस्थाएँ अवस्था-औचित्यवश साधुधर्म के लिए

हितकारक व उपकारक है ।

ये दोनो ही अवस्थाएँ धर्म के लिए हितकारी कैसे है ? इसके लिए स्थानाग एव आचाराग सूत्र के प्रमाण देखिये । स्थानाग के पचम स्थान मे बताया है कि पॉच स्थानो (कारणो) से अचेलक प्रशस्त होता है— (१) उसके प्रतिलेखना अल्प होती है, (२) उसका लाघव (उपकरण तथा कषाय का अल्पत्व) प्रशस्त होता है, (३) उसका रूप-वेष वैश्वासिक (विश्वास योग्य) होता है । (४) उसका तप प्रतिसलीनता— (उपकरण-प्रतिसंलीनता) जिनानुज्ञात होता है, (५) उसके विपुल इन्द्रिय-निग्रह होता है । इसी प्रकार स्थानाग के तृतीय स्थान मे तीन कारणो से (मूर्च्छारहित) होकर वस्त्र धारण का विधान है— (१) लज्जानिवारणार्थ (२) जुगुप्सा-घृणा निवारणार्थ और (३) परीषह निवारणार्थ ।

आचाराग सूत्र मे मुनि के लिए हेमन्त व्यतीत हो जाने तथा ग्रीष्म के आ जाने पर एक शाटक या अचेल हो जाने का विधान है, साथ ही रात को हिम, ओस आदि के जीवो की हिंसा से तथा बरसात मे जलीय जीवो की हिसा से बचने के लिए वस्त्र पहनने-ओढने का भी विधान है । वस्त्र के ये सब विधि-निषेध साधुधर्म के पालन की दृष्टि से है ।

आगे चौतीसवी एव पैतीसवी गाथा मे जो वस्त्रनिषेध फलित होता है, वह जिनकल्पी या विशिष्ट अभिग्रहधारी मुनि की अपेक्षा से समझना चाहिए । सचेलकता भी अग्नि आदि के आरम्भ की निवारक एवं सयम-पालन मे सहायक होने से संयमफलस्वरूप है, इसलिए वह भी धर्मोपकारी है । इन सब दृष्टियो से मुनि इस प्रकार के ज्ञानबल से चिन्तन करके खेद निवारण करे कि— तिर्यञ्च और नारक जीव प्राय. नग्न ही रहते है । अत. इन दोनो भवो मे उत्पत्ति के भय से मुझे वस्त्र होते हुए भी निर्वस्त्र रहने का अभ्यास करना चाहिए । ऐसा अभ्यास हो जाने पर कदाचित् वस्त्र नही मिलने पर या अल्प होने पर पूर्वोक्त बोधवान् मुनि इस प्रकार के दैन्य को फटकने नही देगा कि अचेल हो जाने पर अब शीत आदि से पीडित हो जाने पर मेरा क्या होगा ? किसका सहारा होगा ?

अचेल परीषह के विषय मे आर्यरक्षित आचार्य के ससारपक्षीय पिता प्रव्रजित सोमदेव मुनि की कथा द्रष्टव्य है ।

७. अरति परीषह

मूल— गामाणुगामं रीयंतं, अणगारं अकिंचणं ।
अरइ अणुप्पविसे,[1] तं तितिक्खे परीसहं ॥१४॥

---

१. अणूप्पविसेज्जा— लुधियाना से प्रकाशित ।

संस्कृत-छाया— ग्रामानुग्राम रीयमाण, अनगारमकिचनम् ।
अरतिरनुप्रविशेत्, त तितिक्षेत् परिषहम् ॥१४ ॥

पद्यानुवाद— ग्रामानुग्राम विचरण करते, अनगार अकिचन व्रतधारी ।
मन मे अरति हो सयम के प्रति, सहे परीषह समताधारी ॥१४ ॥

अन्वयार्थ— गामाणुगामं— एक गॉव से दूसरे गॉव, **रीयंतं—** विचरण (विहार) करते हुए, **अकिंचणं—** अकिचन (परिग्रहरहित), **अणगारं—** अनगार (निर्ग्रन्थ मुनि) चित्त मे कदाचित्, **अरइ—** (सयम के प्रति अरुचि), **अणुप्पविसे—** प्रविष्ट (उत्पन्न) हो जाए तो, **तं—** उस, **परीसहं—** परीषह को, **तितिक्खे—** (समभाव से) सहन करे ॥

विवेचन—अरति का अर्थ— यहॉ मोहनीयकर्म प्रकृतिरूप, सयम विषयक अरुचि है । अरति धर्म मे विघ्न डालने वाली है । इसलिए मन मे स्थान पाने से पहले ही उसे ज्ञानबल से निकाल दे । उसे निकालने मे समभावपूर्वक मन को मोडना और उसकी गति को बदलना पडता है, वही अरति परीषह-सहन है ।

मूल— अरइं पिट्ठओ किच्चा, विरए आयरक्खिए ।
धम्मारामे निरारम्भे, उवसंते मुणी चरे ॥१५ ॥

संस्कृत-छाया— अरति पृष्ठत· कृत्वा, विरत आत्मरक्षक ।
धर्मारामे निरारम्भ, उपशान्तो मुनिश्चरेत् ॥१५ ॥

पद्यानुवाद— हिंसादिविरत आत्मारक्षित हो, अरतिभाव को पीठ करे ।
धर्मोद्यान मे निरारम्भ हो, उपशान्तभाव से मुनि विचरे ॥१५ ॥

अन्वयार्थ— विरए— हिंसादि से निवृत्त (या विषयासक्ति से विरक्त) **आयरक्खिए—** आत्मा (या आत्मभाव) की रक्षा करने वाला, **निरारंभे—** आरम्भ-प्रवृत्ति (असत्क्रिया) से दूर रहने वाला, **धम्मारामे—** धर्म मे रमण करने वाला अथवा धर्मरूपी आराम- उद्यान मे स्थित होकर, **मुणी—** मुनि, **अरइं—** अरति (सयम मे अरुचि) को, **पिट्ठओ किच्चा—** पीठ पीछे (दूर) करके, **उवसंते—** उपशान्तभाव से, **चरे—** विचरण करे ।

विवेचन—अरति—परीषह को सहन करने का उपाय— प्रस्तुत परीषह को सहन करने के लिए सप्तसूत्री उपाय बताया गया है— (१) हिसादि से या विषयासक्ति से विरत हो, (२) आत्म-भाव रक्षक हो, (३) श्रुत-चारित्र धर्मरूपी उद्यान मे रमण करे, (४) आरम्भ-प्रवृत्ति से दूर रहे, (५) शात रहे, (६) हिताहित या वस्तुतत्त्व का मनन करता रहे, एवं (७) सर्वविरति प्रतिज्ञाधारक मुनि अरति आते ही उसे पीठ पीछे करके सयम-मार्ग पर मन को मोड दे ।

अरति परीषह पर प्रव्रजित पुरोहितपुत्र और राजपुत्र की कथा द्रष्टव्य है ।

८. स्त्रीपरीषह

मूल— **संगो एस मणुस्साणं, जाओ लोगंमि इत्थिओ।**
जस्स एया परिन्नाया, सुकडं तस्स सामण्णं ॥१६॥

संस्कृत-छाया— सग एष मनुष्याणां या लोके स्त्रियः।
येनैताः परिज्ञाताः, सुकृतं तस्य श्रामण्यम् ॥१६॥

पद्यानुवाद— है नर के लिए बन्धकारण, ये स्त्रियाँ लोक मे बहुत सबल।
लेता है जान बात जो यह, उसका जग मे साधुत्व सफल ॥१६॥

अन्वयार्थ— लोगम्मि— लोक मे, **जाओ—** जो, **इत्थिओ—** स्त्रियाँ है, **एस—** ये, **मणुस्साणं—** पुरुषो के लिए, **संगो—** संग अर्थात् बन्धनरूप है, **जस्स—**जिसकी, **एया—** यह, **परिण्णाया**[१]— परिज्ञा (ज्ञपरिज्ञा से वस्तुस्वरूप को जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उसे त्याग ने की बुद्धि) हो जाती है, **तस्स—** उसका, **सामण्णं —** श्रामण्य(साधुत्व), **सुकडं**[२]— सुकृत-सफल है।

विवेचन—स्त्रियाँ संगरूप है-संग का अर्थ है— रागादि के वश जीव के द्वारा होने वाला आसक्ति का अनुभव। सचमुच, अपरिपक्व साधक के लिए स्त्री आसक्ति का कारण है। यहाँ 'जाओ' विशेषण से देवी, मानुषी और तिर्यञ्चिनी सभी स्त्रियो का ग्रहण किया गया है।

मूल— **एवमादाय मेहावी, पंकभूयाओ इत्थिओ।**
नो ताहिं विणिहन्नेज्जा, चरेज्जत्तगवेसए ॥१७॥

संस्कृत-छाया— एवमादाय मेधावी, पकभूता स्त्रिय ।
नो ताभिर्विहन्येत, चरेदात्मगवेषकः ॥१७॥

पद्यानुवाद— है पंकभूत नारी मुनिहित, यह बात सदा ही ध्यान धरे।
ना संयम-घात करे उनसे, निज आत्मगवेषी हो विचरे ॥१७॥

---

१. परिण्णाया (परिज्ञाता) : दो व्याख्या— (१) जिसने इन स्त्रियों को सर्व प्रकार से जान लिया है, (२) जिसने स्त्रियो को ज्ञपरिज्ञा से इहलोक-परलोक में महान् अनर्थ की हेतु तथा स्त्रीसंसर्ग को तालपुट विषवत् जान लिया है तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञा से इनके प्रति आसक्ति का त्याग करने में जो तत्पर है।

२ सुकड तस्स सामण्णं - तीन अर्थ— (१) उसका श्रामण्य सुकृत है, (२) सुकर है, अर्थात्— सुखपूर्वक वह साधुत्व का पालन कर सकता है और (३) उसका साधुत्व सुकृत-सफल है।

अन्वयार्थ—(ब्रह्मचारी के लिए)**इत्थिओ**—स्त्रियाँ, **पंकभूया**— पक(दलदल) के समान है, **मेहावी**— मेधावी साधु, **एवमादाय**— इस बात को भली-भाँति जानकर, **ताहिं**—उनसे, **नो विणिहन्नेज्जा**—अपने संयमी-जीवन का विनिघात न होने दे, **ओ**—किन्तु, **अत्तगवेसए**— आत्मस्वरूप की गवेषणा (खोज) करता हुआ, **चरेज्ज**— विचरण करे।

विवेचन—पंकभूया— साधको के लिए स्त्रियो को 'पकभूत' इसलिए कहा गया है कि ये मुक्ति-मार्ग मे प्रवृत्त अपरिपक्व साधको को दलदल की तरह आगे बढने से रोक देती है, विषयपक मे फँसा देती है तथा कीचड़ की तरह साधक के संयम को मलिन कर देती है।

अत्तगवेसए : आत्मगवेषक : तीन अर्थ— (१) मेरी आत्मा का भव से कैसे निस्तार होगा ?, इस प्रकार आत्मा की गवेषणा करने वाला, (२) मुझे, आत्मस्वरूप की प्राप्त कैसे होगी ? इस प्रकार का गवेषक, (३) अथवा जो आत्मा का ही अन्वेषण करता है, अर्थात् चित्राकित या साक्षात् स्त्री को देखते ही मन मे दुर्विकार आने से पहले ही उस स्त्री को शुद्ध आत्मा के रूप मे ही जो देखता है वह आत्म-गवेषक है।

इस विषय मे स्थूलभद्रमुनि और उनके सिंहगुफावासी गुरुभ्राता की कथा द्रष्टव्य है।

९. चर्यापरीषह

मूल— एग एव [१] चरे [२] लाढे [३], अभिभूय परीसहे।
गामे वा नगरे वावि, निगमे वा रायहाणीए ॥१८॥

संस्कृत-छाया— एक एव चरेल्लाढ, अभिभूय परिषहान्।
ग्रामे वा नगरे वापि, निगमे वा राजधान्याम् ॥१८॥

पद्यानुवाद— हो एकाकी सम्यक् विचरे, मुनि जीत परीषह को जग मे।
गाँव, नगर या राजधानी मे, शुद्धाहारी जनपद मे ॥१८॥

अन्वयार्थ—लाढे— निर्दोष आहार से निर्वाह करने वाला साधु, **एग एव**— अकेला ही, **परीसहे**— परीषहो को, **अभिभूय**— पराजित कर, **गामे वा**— ग्राम मे अथवा, **नगरे वावि**— नगर मे, अथवा, **निगमे**—निगम (व्यापारिक केन्द्र-मण्डी) मे, **रायहणीए वा**— अथवा राजधानी मे, **चरे**— विचरण करे।

---

१. एग एव : दो अर्थ— (१) द्रव्यत : एकाकी— सहायक रहित, तथा (२) भाव से राग-रहित। वैसे 'एक' शब्द के इसी अध्ययन के २० वें श्लोक में दो अन्य अर्थ भी मिलते हैं— (१) एकल विहार प्रतिमा का आचरण करने के लिए अकेला जाने वाला (२) एक यानी मोक्ष की प्राप्ति के अनुकूल प्रवृत्ति करने वाला।

२. चरे— अप्रतिबद्ध विहार करे।

३ लाढे : तीन अर्थ—(१) प्रासुक एवं एषणीय आहार से जीवनयापन करने वाला,(२)साधुत्व के गुणों से युक्त होकर जीवनयापन करने वाला और (३) शुद्धचर्या से लाढ-प्रशंसित।

मूल— **असमाणो [1] चरे भिक्खू, नेव कुज्जा परिग्गहं।**
असंसत्तो गिहत्थेहिं, अणिएओ परिव्वए ॥१९॥

संस्कृत-छाया— असमानश्चरेद् भिक्षु:, नैव कुर्यात् परिग्रहम्।
असंसक्तो गृहस्थैः, अनिकेतन: परिव्रजेत् ॥१९॥

पद्यानुवाद— नही गृही-सम विचरे मुनिवर, ममता का ना भाव धरे।
रहे गृहीजन से अलिप्त और अनिकेतन होकर विचरे ॥१९॥

अन्वयार्थ—भिक्खू— साधु, **असमाणो** [2] — असाधारण (गृहस्थादि से विलक्षण) होकर, **चरे—** विचरण करे, **परिग्गहं** [3] परिग्रह (वस्तुओ पर ममत्वभाव), नेव कुज्जा — नहीं करे। **गिहत्थेहिं—** गृहस्थो से, **असंसत्तो—** असंसक्त (निर्लिप्त) रहे, **अणिएओ** [4]— अनियतवासी (अथवा) **अनिकेत—**घर-बार रहित होकर, **परिव्वए—** परिभ्रमण करे।

भावार्थ— भिक्षु (गृहस्थादि से) असमान-असाधारण होकर विचरण करे। वह वस्तुओ (सजीव-निर्जीव) के प्रति ममत्वभाव न करे तथा गृहस्थो के संसर्ग से दूर रहे और गृहबन्धन से रहित अथवा अनियतवासी होकर परिभ्रमण करे।

इस विषय मे (चर्यापरीषह पर) संगम नामक स्थविर आचार्य की कथा ज्ञातव्य है।

२०. निषद्या-परीषह

मूल— **सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व एगओ।**
अकुक्कुओ निसीएज्जा, न य वित्तासए परं ॥२०॥

संस्कृत-छाया— श्मशाने शून्यागारे वा, वृक्षमूले चैककः।
अकुक्कुच निषीदेत्, न च वित्रासयेत् परम् ॥२० ॥

---

1. असमाणे- लुधियाना से प्रकाशित।
2. असमाणो : चार अर्थ— (१) असमान- जो गृहस्थ के समान गृहादि में मूर्च्छित नही है, (२) समान— अनि ...नयुक्त नही है, (३) असन्— जिसके पास कुछ भी सन्निहित- संगृहीत नही है, और (४) अनियत होने के कारण जिसका विहार अन्यतीर्थिकों के समान नही है, उनसे भिन्न है।
3. नेव कुज्जा परिग्गहं : आशय— यद्यपि निर्ग्रन्थ साधु परिग्रह का त्यागी होता है, तथापि अपरिग्रहव्रती साधु भी ग्राम, नगर, देश, घर अथवा भक्त-भक्ता, शिष्य-शिष्या इत्यादि में उसका ममत्वभाव हो जाता है, यहाँ उसका निषेध है कि साधु ग्राम, नगर, घर, देश, शिष्य-शिष्या, भक्त-भक्ता आदि किसी में भी ममत्वभाव न करे तथा उपकरण आदि भी पर ममत्व न रखे, न ही संग्रह करे।
4. अणिएओ : दो रूप : दो अर्थ— (१) अनिकेत : जिसका अपनी मालिकी का कोई घर नही है, जो घर बाँधकर एक जगह बँधकर नही रहता। (२) अनियत— जो किसी एक देश, ग्राम आदि को नियत करके विहार नही करता, अनियत-अप्रतिबद्ध विहार करता है। जो देश, ग्राम आदि नियत करके उन्ही में विहार करता है, उसे उस देश आदि में ममत्वबुद्धि होने की सम्भावना है।

पद्यानुवाद— तरुमूल शून्यघर या मसाण, रागादिरहित हो ध्यान धरे ।
चाचल्यरहित होकर बैठे, ना अन्य किसी को त्रस्त करे ॥२० ॥

अन्वयार्थ— सुसाणे— श्मशान में, **सुन्नगारे—** सूने मकान मे, **वा—** अथवा, **रुक्खमूले—** वृक्ष के नीचे (मूल मे), **एगओ व—** द्रव्य से एकाकी, भाव से रागद्वेषरहित केवल आत्मभाव मे स्थित होकर, **अकुक्कुओ—** अचपलभाव से, **निसीएज्जा—** बैठे (अथवा ध्यान या कायोत्सर्ग करे), **य—** और, **परं—** आस-पास के अन्य किसी प्राणी को, **न वित्तासए—** त्रस्त (भयभीत) न करे ।

शब्दार्थ— श्मशान मे, सूने घर मे, अथवा वृक्ष के नीचे द्रव्य से अकेला और रागद्वेषरहित केवल आत्मभाव मे लीन, अचपल होकर बैठे या कायोत्सर्ग करे, किन्तु आस-पास के किसी दूसरे प्राणी को भयभीत न करे, या कष्ट न दे ।

विवेचन—श्मशान में निषद्या:कब और किस प्रकार?— प्रस्तुत गाथा मे मुनि के लिए श्मशानादि एकान्त स्थान मे अकेले निषद्या (बैठने) का विधान है, साथ ही बैठने की विधि बताई गई है कि वह स्वय भयकर उपसर्ग आने पर भयभीत होकर चचल न हो या अशिष्ट चेष्टायुक्त न हो और न ही दूसरे जीवो को भयभीत करे, या कष्ट दे । वह शान्त और स्थिर होकर बैठे । यद्यपि स्थविरकल्पी साधु के लिए उपाश्रय मे निवास का विधान है, किन्तु यहॉ निवास का विधान न होकर एकाको निषद्या (एक जगह बैठने) का विधान है, इसलिए वह भिक्षु-प्रतिमाधारी या मोक्ष प्राप्ति योग्य किसी विशिष्ट साधना करने वाले के लिए है ।

मूल— तत्थ से चिट्ठमाणस्स [1] उवसग्गाभिधारए ।
संकाभीओ न गच्छेज्जा, उट्ठित्ता अन्नमासणं ॥२१ ॥

संस्कृत-छाया— तत्र तस्य तिष्ठत, उपसर्गानभिधारयेत् ।
शकाभीतो न गच्छेत्, उत्थायान्यदासनम् ॥२१ ॥

पद्यानुवाद— उन स्थानो मे बैठे मुनि को, उपसर्ग कदाचित् आ जाए ।
शका से भयभीत चित्त हो, अन्यत्र न उठ करके जाए ॥२१ ॥

अन्वयार्थ—तत्थ— उन (श्मशानादि पूर्वोक्त) स्थानो मे, **चिट्ठमाणस्स—** (कायोत्सर्गादि मे) बैठे हुए, **से—** साधु को (कदाचित्), **उवसग्गा—** दिव्य, मानुष या तिर्यञ्च, कोई उपसर्ग आ जाऍ तो उन्हे, **अभिधारए—**(समभावपूर्वक) धारण-सहन करे, (किन्तु) **संकाभीओ—** अनिष्ट की शका से भयभीत होकर, **उट्ठित्ता—** वहॉ से उठकर, **अन्नं आसणं—** अन्य आसन-स्थान पर, **न गच्छेज्जा—** न जाए ।

१ अत्थमाणस्स— लुधियाना से प्रकाशित ।

विवेचन-अभिधारए : दो अर्थ— (१) उन उपसर्गो का सामना करे । जैसे- कोई शत्रु मानो सुसज्जित होकर आया हो, इस दृष्टि से साधु भी समभाव से सुसज्ज एव अभिमुख होकर उपसर्गो के सामने डट जाए । (२) अथवा जब उपसर्ग आएँ तो मन मे ऐसा चिन्तन (अभिधारणा) करे कि मेरा चित्त अविचलित है, तो ये मेरा क्या अनिष्ट करेगे ।.

निषद्या परीषह पर एकलविहार प्रतिमाधारी कुरुदत्त मुनि की कथा द्रष्टव्य है ।

११. शय्यापरीषह

मूल— उच्चावयाहिं सेज्जाहिं, तवस्सी भिक्खू थामवं ।
नाइवेलं विहन्नेज्जा, पावदिट्ठी विहन्नई ॥२२ ॥

संस्कृत-छाया— उच्चावचाभिः शय्याभिः, तपस्वी भिक्षु· स्थामवान् ।
नातिवेलं विहन्यात्, पापदृष्टिर्विहन्यात् ॥२२ ॥

पद्यानुवाद— अच्छी बुरी वसति पाकर, तपसी मुनि मन मे धैर्य धरे ।
मर्यादा-लघन करे नही, जो पापदृष्टि अतिक्रमण करे ॥२२ ॥

अन्वयार्थ—उच्चावयाहिं सेज्जाहिं— ऊँची-नीची (ऊबड-खाबड) या अच्छी-बुरी **शय्या-वसति(उपाश्रय)** —पाकर, **तवस्सी**— तपस्वी (एव) **थामवं**— सर्दी-गर्मी आदि सहन करने मे समर्थ, **भिक्खू**— भिक्षु, **अइवेलं**— मर्यादा का अतिक्रमण करके, **न विहन्नेज्जा**— समता या संयम का घात (भंग) न करे । **पावदिट्ठी**— पापदृष्टि वाला साधु ही (हर्ष-शोक से अभिभूत होकर), **विहन्नई**— मर्यादा को तोडता है ।

विवेचन—न अइवेलं विहन्नेज्जा:दो व्याख्याएँ— (१) अतिवेला करके समता भग न करे । आशय यह है कि उच्च-अनुकूल शय्या को पाकर हर्षित होना कि अहो !मै कितना भाग्यशाली हूँ । मुझे सभी ऋतुओ मे सुखकर शय्या (उपाश्रय) मिली है तथा अंवच- प्रतिकूल शय्या को पाकर विषाद पाना कि आह ! मै कितना मन्दभागी हूँ । शीतादि से रक्षा करने वाली भी न पा सका । इस प्रकार हर्ष-विषाद आदि करके अन्यतीर्थिको के सिद्धान्तो से बढकर अतिशायिनी समतारूप मर्यादा का उल्लंघन या भग न करे । अथवा (२) शीत-आतपादि सहने मे समर्थ तपस्वी साधु शीत आदि से पीडित होने पर स्वाध्यायादि की वेला का अतिक्रमण करके दूसरे स्थान पर न जाए ।

मूल— पइरिक्कुवस्सयं लद्धुं, कल्लाणं अदुव पावगं[1] ।
किमेगरायं करिस्सइ, एवं तत्थ ऽहियासए ॥२३ ॥

---

१. पावयं— लुधियाना से प्रकाशित ।

संस्कृत-छाया— प्रतिरिक्तमुपाश्रयं लब्ध्वा, कल्याणमथवा पापकम् ।
किमेकरात्र करिष्यति, एव तत्राधिसहेत ॥२३ ॥

पद्यानुवाद— पशु-पण्डक-नारी-रहित स्थान, भी अच्छा या प्रतिकूल मिले ।
एक रात मे क्या होगा ? यो, ज्ञान भाव से दुःख सह ले ॥२३ ॥

अन्वयार्थ— (साधु)**पइरिक्कं**— स्त्री-पशु-नपुसकरहित विविक्त, **उवस्सयं**— उपाश्रय (धर्मस्थानक), **कल्लाणं**— अच्छा, **अदुव**— अथवा, **पावगं**— बुरा, **लद्धुं**— पाकर, **किमेगरायं करिस्सइ ?**— एक रात मे यह क्या (सुख-दुःख उत्पन्न) करेगा ? अर्थात्- मेरा एक रात मे क्या बनेगा-बिगडेगा ? **एवं**— इस प्रकार सोचकर, **तत्थ**— उसी (अच्छे या बुरे उपाश्रय) मे (रहकर), **अहियासए**— (शय्या परीषह को- सुख या दुःख को समभाव से) सहन करे ।

भावार्थ— स्त्री आदि के ससर्ग से रहित विविक्त उपाश्रय पाकर, भले ही वह अच्छा हो या बुरा, उसमे मुनि समभावपूर्वक यह सोचकर रहे कि एक रात मे यह क्या सुख-दुःख उत्पन्न करेगा ? तथा वहॉ जो भी अनुकूल-प्रतिकूल परीषह आए, उसे समभाव से सहन करे ।

विवेचन—कल्लाणं अदुव पावगं : अभिप्राय— ये दोनो उपाश्रय के विशेषण है, इनका शब्दश· अर्थ होता है— कल्याणरूप या पापरूप उपाश्रय । इनके दो अभिप्राय प्रतीत होते है— (१) एक तो यह कि जो उपाश्रय शीत, आतप आदि के निवारण मे उपयोगी है, तथा जहॉ आस-पास कसाईखाना, मदिरालय या वेश्यागृह जैसे बीभत्स एवं पापजनक स्थान नहीं है, आस-पास कोलाहल आदि का वातावरण भी नही है, तथा कोई दैवी या मानुषी उपद्रव भी वहॉ नही है, ऐसा शान्त एकान्त स्थान कल्याणमय है । तथा जिसमे आसपास कोलाहल हो, अथवा पूर्वोक्त पापजनक स्थान हो, शीत-आतप आदि के निवारण मे भी जो उपयोगी न हो, जिसमे कोई दैवी या मानुषी उपद्रव हो, वह पापरूप स्थान है । (२) दूसरा अर्थ यह भी है जो वृहद्वृत्तिकार ने किया है— किसी पुण्यशाली भक्त ने ऐसा स्थान बनाया है- जो शीतादि निवारण मे समर्थ तथा हवा एवं प्रकाश से समृद्ध है, साथ ही इसकी पक्की और मजबूत दीवारे रूपहरी अथवा चॉदी-सी सफेद हो, जिसमे मणि-निर्मित खभे लगे हो, जो मणि किरणो से जगमगाता हो, जो साफ-सुथरा हो, वह कल्याण रूप उपाश्रय है; किन्तु जो जीर्ण-शीर्ण हालत मे हो, जिसके द्वार ठूँठ से ढके जाते हो, जिसकी दीवारो मे दरारे पडी हो, जिसके अन्दर घास, कचरा, धूल, राख आदि के ढेर यत्र-तत्र पडे हो, जिसमे जगह-जगह चूहो ने बिल बना रखे हो, जिसमे मल-मूत्र एव गन्दगी की दुर्गन्ध आ रही हो ऐसा उपाश्रय पापरूप है ।

किमेगरायं करिस्सइ ? : व्याख्या— अच्छा या बुरा उपाश्रय पाकर साधु यह विचार करे कि मुझे आज ही तो इस उपाश्रय मे रहना है, कल दूसरा कोई उपाश्रय मिल जाएगा अत·

एक रात्रि के लिए क्या हर्ष-विषाद करना है ? उपाश्रय अच्छा हो या बुरा, मुझे तो मुनिधर्म के निर्वाह के लिए स्त्री आदि से रहित विविक्त उपाश्रय ही खोजना है, अन्य बातो से क्या मतलब है ? 'एकरात्र' शब्द प्रतिमा कल्प की अपेक्षा से कहा गया है, स्थविरकल्प की अपेक्षा से तो कतिपय रात्रियाँ उपलक्षित होती है ।

शय्या परीषह पर सोमदत्त और सोमदेव मुनि की कथा द्रष्टव्य है ।

१२. आक्रोशपरीषह

मूल— अक्कोसेज्ज[1] परो भिक्खुं, न तेसिं पडिसंजले ।
सरिसो होई बालाणं, तम्हा भिक्खू न संजले ॥२४ ॥

संस्कृत-छाया— आक्रोशेत् परो भिक्षु, न तस्मै प्रतिसज्वलेत् ।
सदृशो भवति बालाना, तस्माद् भिक्षुर्न संज्वलेत् ॥२४ ॥

पद्यानुवाद— आक्रोश करे कोई मुनि को, उस पर मन मे ना रोष धरे ।
क्रोधी होता है बालसदृश, इसलिए भिक्षु न क्रोध करे ॥२४ ॥

अन्वयार्थ—(यदि) **परो**— कोई मनुष्य, **भिक्खुं**— भिक्षु पर, **अक्कोसेज्ज**— आक्रोश करे—दुर्वचनो या अपशब्दो से तिरस्कार करे तो, **तेसिं**— उस पर (स्वय), **न पडिसंजले**— क्रोध न करे, (क्योकि क्रोध करने वाला भिक्षु), **बालाणं**— अज्ञानियो के, **सरिसो**— सदृश, **होइ**— हो जाता है । **तम्हा**— इसलिए, **भिक्खू**— साधु, **न संजले**— क्रोध न करे ।

भावार्थ— यदि कोई मनुष्य साधु का दुर्वचनो से तिरस्कार करता (गाली देता) है, तो वह उस पर रोष न करे, क्योकि रोष करने वाला साधु बालको-अज्ञानियो के सरीखा हो जाता है । इसलिए साधु कोप न करे ।

विवेचन— परो अक्कोसेज्ज : व्याख्या— 'पर' का अर्थ यहाँ 'दूसरा' है अर्थात्- जो व्यक्ति परधर्मी हो, द्वेषी हो अथवा धर्म की अपेक्षा से धर्म बाह्य हो अथवा नास्तिक (आत्मादि न मानता) हो और साधु को देखकर— 'धिक्कार है मुण्ड ! तू यहाँ किसलिए आया है ?' इस प्रकार का तिरस्कार युक्त दुर्वचन कहे या झिडके ।

पडिसंजले— किसी ने गाली दी, झिडका, उसका प्रतिवाद या प्रतीकार करने के लिए उसको गाली देना, झिडकना, मारना-पीटना, शरीर जला देना या उस पर लाल-पीला होना इत्यादि रूप से उसकी क्रोधाग्नि भडका देना प्रति-संज्वलन है ।

इस विषय मे ब्राह्मण और तपस्वी साधु की कथा द्रष्टव्य है ।

---

१. अक्कोसेज्जा- लुधियाना से प्रकाशित ।

मूल— सोच्चाणं फरुसा भासा, दारुणा गामकंटका[१] ।
तुसिणीओ उवेहेज्जा, न ताओ मणसीकरे ॥२५ ॥

संस्कृत-छाया— श्रुत्वा परुषा भाषा., दारुणा ग्रामकण्टका. ।
तूष्णीक उपेक्षेत, न ता· मनसि कुर्यात् ॥२५ ॥

पद्यानुवाद— दारुण कठोर अप्रिय भाषा, सुनकर न सयमी क्रोध करे ।
मौन भाव धर करे उपेक्षा, उनका मन मे ना ध्यान धरे ॥२५ ॥

अन्वयार्थ—दारुणा— दारुण (असह्य), **गामकंटका—** कर्ण आदि इन्द्रियो को काटे की तरह चुभने वाली और **फरुसा भासा—** स्नेहरहित कठोर भाषा को, **सोच्चाणं—** सुनकर (भिक्षु), **तुसिणीओ—** मौन रहे, **उवेहेज्जा—** उसके प्रति उपेक्षा भाव रखे, **ताओ—** उसे, **मणसीकरे—** मन मे भी न लाए ।

विवेचन—गामकंटका:तीन अर्थ— (१) ग्राम-इन्द्रिय समूह को काटो की तरह चुभने वाली, (२) कानो मे काटो की भॉति चुभने वाली, अथवा (३) ग्राम्य लोगो की काटो के समान चुभने वाली भाषा ।

तुसिणीओ उवेहेज्जा : आशय— इन दोनो शब्दो का आशय यह है, कि कोई व्यक्ति कठोर एव असह्य भाषा बोले तो भी मोक्षार्थी साधु उसका प्रतिवाद न करे बल्कि चुप रहे, उसके प्रति उपेक्षा करे, न ही मन मे उस बात को लाए, क्योकि प्रतिवाद करने से प्रतिपक्षी भी अत्यधिक बकवास करेगा, फलत मन मे संक्लेश बढेगा । इसलिए ऐसे मौके पर शान्ति और धैर्य से मौन रहकर समभावपूर्वक सहन करे । तभी कर्म-निर्जरा होगी । प्रतिवाद करने से तो कर्मबन्ध अवश्यम्भावी है ।

इस (आक्रोश) परीषह पर राजगृहवासी अर्जुन मुनि की कथा द्रष्टव्य है ।

१३. वध-परीषह

मूल— हओ न संजले भिक्खू, मणंपि न पओसए ।
तितिक्खं परमं नच्चा, भिक्खु[२] धम्मं विचिंतए ॥२६ ॥

संस्कृत-छाया— हतो न संज्वलेद् भिक्षुः, मनोऽपि न प्रदूषयेत् ।
तितिक्षां परमा ज्ञात्वा, भिक्षुर्धर्म विचिन्तयेत् ॥२६ ॥

पद्यानुवाद— पीटा जाकर ना क्रोध करे, मानस भी दूषित करे नही ।
क्षमाभाव को श्रेष्ठ जान, मुनिधर्मभाव मन धरे सही ॥२६ ॥

१ कंटगा— लुधियाना से प्रकाशित ।
२ भिक्खू— लुधियाना से प्रकाशित ।

अन्वयार्थ— हओ— लट्ठी आदि से मारे-पीटे जाने पर भी, **भिक्खू—**साधु, **न संजले—** क्रोध न करे, तथा **मणंपि—** मन को भी, **न पओसए—** (उस पर) दूषित (द्वेष युक्त) न करे। **तितिक्खं—** तितिक्षा (क्षमा) को, **परमं—** साधना का परम अंग, **नच्चा—** जानकर, **भिक्खुधम्मं—** मुनिधर्म का, **विचिंतए—** चिन्तन करे।

विवेचन— संजले : व्याख्या— पत्थर, लाठी आदि से मारे-पीटे जाने पर भी मुनि संज्वलन न करे, अर्थात्-काया से क्रोधवश शरीर को कंपाए नही और न ही मारने वाले पर प्रहार करे तथा वचन से प्रत्याक्रोश आदि अपने आप को जलता हुआ-सा न दिखाए।

भिक्खुधम्मं : व्याख्या— (१) भिक्षु के क्षमा आदि दशविध धर्मो मे तितिक्षा-क्षमा परमधर्म है, अथवा (२) भिक्षु अपने क्षमा आदि धर्म का अथवा वस्तुस्वरूप का चिन्तन करे। जैसे कि— मुनिधर्म का मूल क्षमा है। यह (मारने वाला) व्यक्ति मेरे निमित्त से कर्म बॉध रहा है, यह भी मेरा ही दोष है, अतः इस पर कोप करना उचित नही है, यो दीर्घदृष्टि से विचार करे।

मूल— समणं संजयं [१] दंतं, [२] हणेज्जा कोइ कत्थई।
नत्थि जीवस्स नासुत्ति, एवं पेहेज्ज संजए ॥२७॥

संस्कृत-छाया— श्रमण संयतं दान्तं, हन्यात् कोऽपि कुत्रचित्।
नास्ति जीवस्य नाश इति, एवं चिन्तयेत् संयतः ॥२७॥

पद्यानुवाद— श्रमण जितेन्द्रिय मुनिवर पर, यदि कोई कही प्रहार करे।
है नाश जीव का कभी नही, मुनि ऐसा चिन्तन किया करे ॥२७॥

अन्वयार्थ— संजयं— संयत, और **दंतं—** दान्त (इन्द्रियजयी), **समण—** श्रमण को, **कोइ—** यदि कोई व्यक्ति, **कत्थई—** कही (ग्राम, नगर आदि मे) **हणेज्जा—** मारे-पीटे, (तब) **संजए—** संयत होकर (वाणी, मन और काया पर सयम रखकर) **एवं—** इस प्रकार, **पेहेज्ज—** अनुप्रेक्षण-चिन्तन करे कि, **जीवस्स—** जीव (आत्मा) का, **नासुत्ति नत्थि—** नाश नही होता।

१. संजय : भावार्थ— सयत अर्थात्- पृथ्वीकाय-संयम आदि १७ प्रकार का संयम पालन करने वाला।
२. दंत : दांत-भावार्थ— इन्द्रिय और नो-इन्द्रिय (मन) का दमन करने वाला— जितेन्द्रिय

नत्थि जीवस्स नासुत्ति : एक अनुप्रेक्षण— (१) मेरे शरीर पर प्रहार करने से मेरा (आत्मा का) तो नाश नही होता, प्रत्युत समभावपूर्वक सहने से कर्म-निर्जरा ही होगी। (२) कोई सिर्फ दुर्वचन कहता है तो मन मे यह चिन्तन करे कि— यह दुर्वचन ही कहता है, प्रहार तो नही करता। प्रहार किये जाने पर यह चिन्तन करे कि यह केवल मेरे अग पर प्रहार ही करता है, मेरे समस्त प्राणो का वियोग तो नही करता। अगर जान से कोई मार डालने को उद्यत हो तो यह सोचे कि यह केवल मारता ही है, मेरा धर्म— आत्मधर्म तो नष्ट नही करता, न ही कर सकता, अथवा यह मार कर केवल शरीर को ही नष्ट कर देगा, मेरी आत्मा को तो नष्ट नही कर सकेगा, क्योकि वह तो अजर-अमर है। इस प्रकार के उत्तरोत्तर अनुप्रेक्षण से मुनि वधपरीषह पर विजय प्राप्त कर सकता है।

वध परीषह-विजय के विषय मे स्कन्दकाचार्य के शिष्यो की कथा परिशिष्ट मे देखे।

१४. याचना-परीषह

मूल— **दुक्करं खलु भो निच्चं, अणगारस्स भिक्खुणो।**
सव्वं से जाइयं होइ, नत्थि किंचि अजाइयं ॥२८॥

संस्कृत-छाया— दुष्कर खलु भो नित्यम्, अनगारस्य भिक्षो·।
सर्व तस्य याचित भवति, नास्ति किंचिदयाचितम् ॥२८॥

पद्यानुवाद— दुष्कर है अनगार भिक्षु का, नित्य याचना कर खाना।
याचनाधीन है अशनादिक सब, मागे बिना न कुछ पाना ॥२८॥

अन्वयार्थ— **भो**— अहो ! **अणगारस्स**— अनगार, **भिक्खुणो**— भिक्षु की (यह चर्या), **खलु**— वास्तव मे, **निच्चं**— सदा से ही (या यावज्जीवन), **दुक्करं**—दुष्कर—अत्यन्त कठिन रही है कि, **से**— उसे, **सव्वं**— आहार, वस्त्र आदि सब-कुछ, **जाइयं**— याचना से प्राप्त, **होई**— होता है, (उसके पास) **नत्थि किंचि वि**— कोई भी वस्तु ऐसी नही है, जो, **अजाइयं**— अयाचित (बिना मागे प्राप्त हुई) हो।

विवेचन— आशय यह है कि साधु को याचना-परीषह-विजय के लिए ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि जो घर-बार छोडकर स्वय पचन-पाचनादि क्रियाओ से निवृत्त है, उस भिक्षाजीवी साधु के लिए, निर्दोष भिक्षावृत्ति से ही नियमानुसार आवश्यक सभी वस्तुएँ प्राप्त करनी होती है। यह याचना-वृत्ति कठिन अवश्य है, किन्तु साधु के लिए सहज एव धर्म्य है।

मूल— **गोयरग्गपविट्ठस्स, पाणी नो सुप्पसारए।**
सेओ अगारवासु त्ति, इइ भिक्खू न चिंतए ॥२९॥

संस्कृत-छाया— गोचराग्रप्रविष्टस्य, पाणिः न सुप्रसारकः।

श्रेयानगारवास इति, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥२९ ॥

पद्यानुवाद- गोचराग्र मे गए साधु का, कर पसारना सरल नही ।
'श्रेष्ठ अतः अगारवास है', मुनि चिन्तन यों करे नही ॥२९ ॥

अन्वयार्थ— गोयरग्गपविट्ठस्स— गोचरी (भिक्षाचर्या) के लिए गृहस्थ के घर मे प्रविष्ट साधु के लिए, **पाणी नो सुप्पसारए**— गृहस्थ के सामने आहार ग्रहण करने के लिए हाथ फैलाना सरल नही है । (अतः) **अगारवासुत्ति सेओ**— 'गृहवास ही श्रेष्ठ है', **इइ**— इस प्रकार, **भिक्खू**— साधु, **न चिंतए**— विचार न करे ।

भावार्थ— गोचरी के लिए गृहस्थ के यहाँ प्रविष्ट साधु के लिए गृहस्थ के सामने (आहारादि के लिए) हाथ पसारना आसान नहीं है । (अतः याचना के मानसिक कष्ट से घबराकर) साधु ऐसा विचार न करे कि इससे तो गृहवास ही अच्छा है ।

विवेचन—सेओ अगार वासुत्ति : व्याख्या— याचना मे दूसरे के सामने हाथ पसारना होता है, इसमे लज्जा, अपमान, घृणा आदि की सम्भावना से मानसिक व्यथा होती है । अतः इससे घबराकर साधु ऐसा विचार न करे कि इससे तो गृहस्थावस्था में रहना श्रेयस्कर है, क्योकि वहाँ किसी के सामने याचना के लिए हाथ पसारना नही है, उसमे अपनी भुजाओ के बल पर धनोपार्जन करके दीन-दुःखियो आदि को सविभाग (दे) करके उपयोग किया जाता है, ऐसा विचार उचित नही है, क्योकि गृहस्थजीवन सावद्यबहुल है, निरवद्यवृत्ति के लिए उसका परित्याग करना आवश्यक है । तत्पश्चात् अपने लिए पचन-पाचनादि मे प्रवृत्त गृहस्थो से निर्दोष भिक्षावृत्ति से आहारादि ग्रहण करना न्यायोचित है ।

याचना-परीषह पर बलदेव मुनि की कथा द्रष्टव्य है ।

१५. अलाभपरीषह

मूल— परेसु घासमेसेज्जा, भोयणे परिणिट्ठिए ।
लद्धे पिंडे अलद्धे वा, नाणुतप्पेज्ज पंडिए[1] ॥३० ॥

संस्कृत-छाया— परेषु ग्रासमेषयेत्, भोजने परिनिष्ठिते ।
लब्धे पिण्डे अलब्धे वा, नानुतपेत् पण्डितः ॥३० ॥

पद्यानुवाद— गृहस्थ-गृह भोजन बनने पर, अन्नादि-एषणा श्रमण करे ।
चाहे पिण्ड मिले न मिले तो भी, मुनि मन मे ना अनुताप करे ॥३० ॥

१. संजए— महासभा से प्रकाशित ।

अन्वयार्थ— परेसु— गृहस्थो के घरो मे, **भोयणे परिणिट्ठिए—** भोजन तैयार हो जाने पर, **घासमेसेज्जा—** आहार की गवेषणा (ग्रासैषणा) करे । **पिंडे लद्धे—** गृहस्थो से आहार (थोडा) मिलने पर, **अलद्धे वा—** अथवा नही मिलने पर, **पंडिए—** बुद्धिमान साधु, **न अणुतप्पेज्ज—** अनुताप— पश्चात्ताप (खेद) न करे ।

भावार्थ— गृहस्थो के यहाँ भोजन पक जाने पर साधु आहार की गवेषणा करे । गृहस्थो से आहार (थोडा) मिलने पर अथवा न मिलने पर सद्-असद् विवेकशील साधु खेद न करे ।

विवेचन—आशय— इस गाथा का आशय यह है कि आहार-प्राप्ति के लिए साधु भोजन न पकावे, न पकवावे, न खरीदे, न खरीदवावे किन्तु गृहस्थो ने अपने लिए जो आहार बनाया है, वह उनके यहाँ पूरी तरह से तैयार हो जाने पर ही भिक्षा के लिए जाए, पहले नही; क्योकि भोजन तैयार होने से पहले गृहस्थ के यहाँ जाने पर सम्भव है, भक्तिवश साधु के निमित्त विशिष्ट भोजन तैयार कर दे, अथवा पर्याप्त भोजन न मिलने पर गृहस्थ (दाता) को भी दु ख हो, साधु के मन मे भी सक्लेश हो । इसलिए गृहस्थो के यहाँ भोजन तैयार हो जाने पर ही माधुकरी वृत्ति से वह आहार की गवेषणा करे । ऐसी स्थिति मे यदि गृहस्थो से आहार न मिले तो इस प्रकार का पश्चात्ताप न करे— अहो ! मै कितना अभागा हूँ कि मुझे कुछ भी आहार न मिला, अथवा आहार मिला भी तो रूखा-सूखा या तुच्छ मिला या थोडा-सा मिला, इस प्रकार का खेद न करे ।

मूल— अज्जेवाहं न लब्भामि, अवि लाभो सुए सिया ।
जो एवं पडिसंचिक्खे, अलाभो तं न तज्जए ॥३१ ॥

संस्कृत-छाया— अद्यैवाहं न लभे, अपि लाभ श्व स्यात् ।
य एव प्रतिसमीक्षेत, अलाभस्त न तर्जयेत् ॥३१ ॥

पद्यानुवाद— आज नहीं कुछ मिला मुझे तो, सभव है, कल मिल जाएगा ।
जो इस प्रकार चिन्तन करता, उसे अलाभ ना दु.ख देगा ॥३१ ॥

अन्वयार्थ— अहं— मुझे, **अज्जेव—** आज ही तो, **न लब्भामि—** कुछ नही मिला, **अवि—** सम्भव है, (शायद) कि, **सुए—** कल, **लाभो सिया—** भिक्षालाभ मिल जाए, **एवं—** इस प्रकार, **जो—** जो साधु, **पडिसंचिक्खे—** (अलाभ के सम्बन्ध मे दैन्यरहित होकर) विचार करता है, **तं—** उस साधु को **अलाभो—** अलाभपरीषह, **न तज्जए—** पीडित नही करता ।

भावार्थ— आज ही तो मैने कुछ आहार नही पाया, सम्भव है, कल प्राप्त हो जाए । जो साधु इस प्रकार दीनतारहित होकर अलाभ की अपेक्षा से विचार करता है, उसे अलाभ-परीषह व्यथित नही करता ।

विवेचन— पश्चात्ताप निवारण के लिए चिन्तन— प्रस्तुत गाथा मे दिया गया है अलाभ परीषह विजय के लिये यह सर्वोत्तम उपाय है। इसका निष्कर्ष यही है कि अलाभ की स्थिति मे साधु मन मे दीनता न लाए, न ही हीनभावना लाए।

अलाभ परीषह-विजय पर ढंढणकुमार मुनि की कथा द्रष्टव्य है।

१६. रोग परीषह

मूल— नच्चा उप्पइयं दुक्खं, वेयणाए दुहट्टिए।
अदीणो ठावए पन्नं, पुट्ठो[१] तत्थऽहियासए ॥३२॥

संस्कृत-छाया— ज्ञात्वोत्पतितं दुःखं वेदनया दुःखार्दितः।
अदीनः स्थापयेत् प्रज्ञां स्पृष्टस्तत्राधिसहेत ॥३२॥

पद्यानुवाद— उत्पन्न रोग के होने पर, तन-पीड़ा से मन आर्ति धरे।
दीनभाव तज स्थिरमति हो, मुनि कष्ट हृदय मे सहा करे ॥३२॥

अन्वयार्थ—दुक्खं— ज्वरादि रोग को, **उप्पइं—** कर्मो के उदय से उत्पन्न हुआ, **नच्चा—** जान कर, **वेयणाए—** उसकी वेदना के कारण, **दुहट्टिए—** दुःख से पीडित साधु, **अदीणो—** दीनता रहित होकर, **पन्नं—** अपनी प्रज्ञा को, **ठावए—** ('यह मेरे ही कर्मो का फल है', ऐसी तत्त्वबुद्धि मे) स्थिर करे। **पुट्ठो—** और रोग से स्पृष्ट (व्याप्त) होने पर, **तत्थ—** उस तत्त्वबुद्धि मे प्रज्ञा स्थापित कर, **अहियासए—** उसे समभाव से सहन करे।

भावार्थ— ज्वरादि रोग (के दुःख) को कर्मो के उदय से उत्पन्न हुआ जानकर उसकी वेदना से पीडित साधु दीनता रहित होकर अपनी प्रज्ञा को स्थिर करे। रोग से स्पृष्ट (आक्रान्त) होने पर उसी (तत्त्वबुद्धि) मे स्थिर होकर उसे समभाव से सहन करे।

व्याधि की पीड़ा से विचलित होती हुई प्रज्ञा को— 'यह मेरे अपने ही किए कर्मो का फल है', ऐसी तत्त्वबुद्धि मे स्थिर करे।

मूल— तेगिच्छं नाभिनंदेज्जा, संचिक्खत्त[२] गवेसए।
एवं खु तस्स सामण्णं, जं न कुज्जा, न कारवे ॥३३॥

संस्कृत-छाया— चिकित्सां नाभिनन्देत्, संतिष्ठेदात्मगवेषकः।
एवं खलु तस्य श्रामण्यं, यन्न कुर्यात् न कारयेत् ॥३३॥

१. पुट्ठो तत्थऽहियासए : दो भावार्थ— (१) प्रज्ञा स्थिर होने पर रोग से स्पृष्ट—आक्रान्त साधु उसे समभाव से सहन करे, (२) पूर्वोक्त स्थिर प्रज्ञा से पुष्ट हुआ साधु रोगजनित दुःख को समभाव से सहन करे।
२. संचिक्खत्त : दो रूप : दो व्याख्या— समाधिपूर्वक रहे, किन्तु रोग की वेदना से पीड़ित होने पर रुदन या विलाप न करे तथा चिल्लाए नही। (२) रोग होने पर समीक्षा करे कि यह स्वकृतकर्म का ही फल भोगा जा रहा है, यह सोचकर चिकित्सा न करे, न कराए।

पद्यानुवाद— सावद्य चिकित्सा ना चाहे, ना करे, करावे, दुःख सहे ।
निश्चय उसका श्रामण्य यही, आत्मान्वेषी ससमाधि रहे ॥३३ ॥

अन्वयार्थ— अत्तगवेसए— आत्मगवेषक मुनि (रोग उत्पन्न होने पर), **तेगिच्छं**— चिकित्सा का, **नाभिनंदेज्जा**— अभिनन्दन- अनुमोदन न करे । **संचिक्खे**— समाधिपूर्वक रहे । **तस्स**— उसका, **सामण्णं खु**— निश्चय (शुद्ध), श्रमणभाव, **एयं**— यही, **जं**— कि (रोग उत्पन्न होने पर चिकित्सा), **न कुज्जा**— न करे, **न कारवे**— न करावे (उपलक्षण से अनुमोदन भी न करे) ।

भावार्थ— रोग होने पर (चारित्ररूप आत्मा का अन्वेषक) आत्मगवेषक मुनि रोगप्रतीकाररूप चिकित्सा का अनुमोदन न करे, किन्तु समाधिपूर्वक रहे । निश्चय से उसका शुद्ध श्रमणभाव (श्रमणत्व का आदर्श) यही है कि वह रोगोत्पत्ति होनेपर न तो स्वयं चिकित्सा करे, न ही करावे, उपलक्षण से उसका अनुमोदन भी न करे ।

विवेचन— चिकित्सा का सर्वथा निषेध है या विधान भी? बृहद्वृत्तिकार के अनुसार— यह सूत्र जिनकल्पिक आदि की अपेक्षा से है, स्थविरकल्पी साधु के लिए सावद्य-चिकित्सा करने, कराने तथा अनुमोदन करने का निषेध है । आशय यह है कि स्थविरकल्पी श्रमण का आदर्श है सावद्य का परिहार करना । चिकित्सा प्राय. सावद्य होती है इसलिए उसका अनुमोदन- अभिनन्दन करने का निषेध है, किन्तु यह निषेध उत्सर्ग रूप से है । अपवाद-मार्ग मे गाढ़ कारणवश सावद्य चिकित्सा भी स्थविरकल्पी के लिए अनुमत है किन्तु वह यह सोचकर कि शरीर स्वस्थ हो जाएगा तो मै प्रायश्चित्त लेकर आत्म-शुद्धि कर लूँगा, क्योकि शरीर स्वस्थ होगा तो तप, स्वाध्याय, शास्त्राध्ययन, ध्यान, महाव्रतपालन, समिति-गुप्तिपालन आदि सब हो सकेगे ।

इस विषय मे मथुरानरेश के पुत्र रोग-परीषहविजयी कालवैशिक कुमार श्रमण की कथा परिशिष्ट मे देखे ।

१७. तृणस्पर्श-परीषह

**मूल— अचेलगस्स लूहस्स, संजयस्स तवस्सिणो ।
तणेसु सयमाणस्स, हुज्जा गायविराहणा ॥३४ ॥**

संस्कृत-छाया— अचेलकस्य रूक्षस्य, सयतस्य तपस्विनः ।
तृणेषु शयानस्य, भवेद् गात्रविराधना ॥३४ ॥

पद्यानुवाद— जो रूक्षशरीर अचेलक है, उस सयत घोर तपस्वी को ।
तृण पर सोने से होती है, तन-पीड़ा संत यशस्वी को ॥३४ ॥

अन्वयार्थ— अचेलगस्स— अचेलक (और) **लूहस्स—** रूक्ष शरीर वाले, **संजयस्स—** सयत, **तवस्सिणो—** तपस्वी साधु को, **तणेसु—** घास पर, **सयमाणस्स—** सोने से, **गायविराहणा—** शरीर को पीड़ा (चुभन), **हुज्जा—** होती है ।

भावार्थ— अचेलक एव तेल आदि न लगाने से रूक्ष शरीर वाले सत्रह प्रकार के संयम-पालक तपस्वी मुनि को घास, दर्भ आदि के संस्तारक (बिछौने) पर सोने (या बैठने) से शरीर को अत्यन्त चुभन (पीडा) होती है । यही तृण-स्पर्श-परीषह है ।)

विवेचन— यह गाथा भी जिनकल्पी साधु की अपेक्षा से है, क्योकि स्थविरकल्पी साधु के लिए तो मर्यादित अल्प वस्त्रो का विधान है । स्थविरकल्पी साधु की अपेक्षा से 'अचेलकस्स' का अर्थ होगा अत्यन्त जीर्ण एव अल्प वस्त्रधारी ऐसे साधु को भी घास, दर्भ आदि के संस्तारक पर सोने से शरीर मे चुभन होती है अथवा घास के सस्तारक पर असंयमी सुकुमार साधु के सोने से उसके भी शरीर मे चुभन होगी ।

मूल— आयवस्स निवाएणं, अउला हवइ वेयणा ।
एवं नच्चा न सेवंति, तंतुजं तणतज्जिया ॥३५ ॥

संस्कृत-छाया— आतपस्य निपातेन, अतुला भवति वेदना ।
एवं ज्ञात्वा न सेवन्ते, ततुजं तृणतर्जिताः ॥३५ ॥

पद्यानुवाद— ग्रीष्मकाल आतप गिरने से, अतुल वेदना पाते है ।
यह जान तृणो से पीडित मुनि, पट का उपयोग न लेते है ॥३५ ॥

अन्वयार्थ— आयवस्स— ग्रीष्मकाल मे तेज धूप के, **निवाएणं—** गिरने से, **वेयणा अउला हवइ—** अतुल(असह्य) वेदना होती है, **एवं नच्चा—** ऐसा जानकर, **तणतज्जिया—** घास या दर्भ से पीड़ित मुनि, **तंतुजं—** तन्तुओ (सूत के रेशो) से निष्पन्न वस्त्र का, **न सेवंति—** सेवन नही करते ।

विवेचन— जिनकल्पी मुनि की अपेक्षा से यह वस्त्र-सेवन निषेध है । क्योकि उन्हे ही नगे एवं सूखे वर्दन पर सूर्य की प्रखर किरणे पडने से पीडा होती है, स्थविरकल्पी साधु को तो सवस्त्र होने के कारण सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि उतनी नही सताती ।

जिनकल्पी मुनि के परीषह सहन का उपाय— घास पर सोने से छिले हुए रूखे शरीर पर तीव्र आतप (सूर्य की तेज धूप) पडने पर भी मुनि सूती या ऊनी वस्त्रो का उपयोग न करे, अपितु इस प्रकार के चिन्तन से उक्त परीषह को समभावपूर्वक सहन करे कि "नरक मे तो मैने परवश होकर इससे भी अनन्तगुनी भयंकर वेदनाएँ अनुभव की (भोगी) है । यह वेदना तो उसके सामने कुछ भी नही है । फिर यह तो स्ववश (स्वेच्छा से) वेदना सहनी है । अत

समभावपूर्वक सहने से मुझे महान लाभ है।"

तृण-स्पर्श परीषहविजय पर भद्रर्षि की कथा द्रष्टव्य है।

१८. जल्ल-परीषह (मल परीषह)

मूल— **किलिन्नगाए मेहावी, पंकेण व रएण वा।**
घिंसु वा परितावेण, सायं नो परिदेवए ॥३६ ॥

संस्कृत-छाया— क्लिन्नगात्रो मेधावी, पङ्केन वा रजसा वा
ग्रीष्मे वा परितापेन, सात नो परिदेवेत ॥३६ ॥

पद्यानुवाद— पक, धूल या ग्रीष्म-ताप से, गीले तन पर मल जमा करे।
परिताप-खिन्न मेधावी मुनि, साताहित न विलाप करे ॥३६ ॥

अन्वयार्थ— घिंसु— ग्रीष्मऋतु मे, **पंकेण व—** मैल से(या पक से), **रएण वा—** अथवा धूल से, **वा परितावेण—** या परिताप से, **किलिन्नगाए—** शरीर के, **क्लिन्न—** गीले या लिप्त हो जाने पर, **मेहावी—** मेधावी(मर्यादाशील) मुनि, **सायं—** सुख-साता के लिए, **नो परिदेवए—** विलाप न करे।

भावार्थ— मैल से (पसीने आदि के कारण जमे हुए मैल या पक से) या रज से, अथवा ग्रीष्म ऋतु के परिताप से शरीर के गीले (या पसीने से तरबतर) हो जाने पर मेधावी मुनि सुखसाता के लिए विलाप न करे।

मूल— **वेएज्ज निज्जरापेही, आरियं धम्मऽणुत्तरं।**
जाव सरीर भेउत्ति, जल्लं काएण धारए ॥३७ ॥

संस्कृत-छाया— वेदयेन् निर्जराप्रेक्षी, आर्य धर्ममनुत्तरम्।
यावत् शरीरभेद इति, जल्ल कायेन धारयेत् ॥३७ ॥

पद्यानुवाद— सहे कष्ट मुनि निर्जरार्थी, श्रेष्ठ धर्म निर्दोष यही।
तन वियोग तक हर्षित मन से, मैल बदन पर धरे सही ॥३७ ॥

अन्वयार्थ—निज्जरापेही— निर्जरापेक्षी (कर्मक्षय का इच्छुक) मुनि, **वेएज्ज—** (जल्ल-मल-जनित कष्ट को) सहन करे। (इस) **आरियं—** आर्य-निर्दोष (पापरहित) (एव) **अनुत्तरं—** अद्वितीय (श्रेष्ठ), **धम्मं—** (श्रुत-चारित्ररूप) धर्म को (पाकर प्रसन्न मन से भावमुनि), **जाव सरीर भेउत्ति—** जब तक शरीर से प्राण न छूटे तब तक, **काएण—** शरीर पर, **जल्लं—** (इस प्रकार के) मैल को, **धारए—** धारण करे।

भावार्थ— निर्जरार्थी मुनि (पूर्वोक्त मलजनित) कष्ट को सहन करे। इस आर्य एव अनुत्तर (अद्वितीय) धर्म को पाकर भावमुनि जब तक शरीर न छूटे तब तक शरीर पर सहज

रूप से जमे हुए इस प्रकार के मैल को सहर्ष धारण करे ।

विवेचन— निज्जरापेही वेएज्जःव्याख्या— पूर्वोक्त मलजनित कष्ट को क्यो और किस प्रकार सहन करे ? इस विषय मे शास्त्रकार ने 'निर्जरापेक्षी' शब्द प्रस्तुत किया है । अर्थात्— सकाम निर्जरा-स्वेच्छा से कर्मो के आत्यन्तिक क्षय की अपेक्षा रखने वाला मुनि इसे अनायास प्राप्त, निष्पाप एवं श्रेष्ठ धर्म जानकर यावज्जीव इस मलपरीषह को सहन करे । इस विषय मे मुनि इस प्रकार का चिन्तन न करे कि जगत मे कितने ही लोग विद्युत्पात और अग्नि से प्रज्वलित होने पर पर्वतशिखर की तरह शरीर से काले हो गये है, तथा कितने ही लोगों के शरीर सर्दी, गर्मी, वायु और धूप आदि से शुष्क और परिदग्ध हो जाते हैं, कितने ही लोग अपने शरीर पर भस्म रमा लेते है, या कई लोगो के शरीर कठोर श्रम के कारण पसीने और मैल से लथपथ हो जाते है, परन्तु इन सब अतिकष्टों की वे लोग बिना मन से, अनिच्छा से निरुपाय होकर सहते हैं, फलतः उनके अकामनिर्जरा होती है, सकामनिर्जरा नही, जिससे कोई विशेष लाभ नही होता, जब कि मुझे तो इस सहज-प्राप्त कष्ट को सम्यक्रूप से, सहर्ष-समभावपूर्वक स्वेच्छा से सहन करने से सकामनिर्जरारूप महान् फल प्राप्त होगा ।

मलपरीषह न सहने के परिणाम के विषय मे सुनन्द श्रावक की कथा द्रष्टव्य है ।

१९. सत्कार-पुरस्कार-परीषह

मूल— अभिवायणमब्भुट्ठाणं, सामी कुज्जा निमंतणं ।
जे ताइं पडिसेवंति, न तेसिं पीहए मुणी ॥३८ ॥

संस्कृत-छाया— अभिवादनमभ्युत्थानं, स्वामी कुर्यान् निमंत्रणम् ।
ये तानि प्रतिसेवन्ते, न तेभ्यः स्पृहयेन्मुनिः ॥३८ ॥

पद्यानुवाद— सत्कार, निमत्रण, अभिवादन, जो भक्तजनो से प्राप्त करे ।
उनकी वांछा न करे मन मे , ना धन्य शब्द मुख से उचरे ॥३८ ॥

अन्वयार्थ— (किन्ही अन्यतीर्थिक साधुओ की)**सामी—** राजा आदि (शासक वर्गीय धनाढ्य, राजनेता आदि), **अभिवायण—** अभिवादन, **अब्भुट्ठाणं—** अभ्युत्थान (उनके सत्कार मे खडा होना) (एवं) **निमंतणं—** निमंत्रण, **कुज्जा—** करते है, (और) **ताइं—** उन (अभिवादनादि)को, **जे—** जो(अन्यभिक्षु), **पडिसेवंति—** स्वीकार करते है, (उन्हें देखकर) **मुणी—** आत्मार्थी मुनि, **तेसिं—** वैसे अभिवादन-सत्कार आदि की, **न पीहए—** स्पृहा न करे ।

विवेचन— अभिवादनादि के प्रति मुनि की निस्पृहता हो— प्रस्तुत गाथा का आशय यह है कि अन्यतीर्थिक, स्व-सम्प्रदायी अन्य साधुओ की पूजा-प्रतिष्ठा या प्रसिद्धि होती देखकर उत्तम अनगार उस प्रकार की पूजा-प्रतिष्ठा या प्रसिद्धि की ललक मन में न रखे, कि

ये धन्य है, ये पुण्यवान है, कि इस प्रकार के अभिवन्दनादि के द्वारा इनका सत्कार-सम्मान हो रहा है। प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि की कामना से मुनि सत्कार-पुरस्कार परीषह से पराजित हो जाएगा।

मूल— **अणुक्कसायी अप्पिच्छे[१], अन्नाएसी अलोलुए।**
रसेसु नाणुगिज्झेज्जा, नाणुतप्पेज्ज पन्नवं ॥३९॥

संस्कृत-छाया— अणुकषायो अल्पेच्छ, अज्ञातैषी अलोलुप।
रसेषु नानुगृध्येत्, नानुतप्येत् प्रज्ञावान् ॥३९॥

पद्यानुवाद— मंदकषायी, अल्पचाह, अज्ञात एषणा करता है।
रसगृद्ध न बनता हो लोलुप, और प्राज्ञ खेद ना करता है ॥३९॥

अन्वयार्थ— अणुक्कसाई— जो मन्द-कषायी है, **अप्पिच्छे—** अल्प इच्छा वाला है, **अण्णाएसी**[२]—अज्ञात, अपरिचित कुल की भिक्षा ग्रहण करता है, **अलोलुए—** और अलोलुप है, वह **पण्णवं—** प्रज्ञावान मुनि, **रसेसु—** स्वादु रसो मे, **नाणुगिज्झेज्जा—** आसक्ति न करे, तथा (दूसरो को सत्कार पाते देख) **नाणुतप्पेज्ज**[३]— पश्चात्ताप न करे।

भावार्थ— जो मंदकषायी, अल्प इच्छावाला, अज्ञात-अपरिचित कुलो से भिक्षा लेने वाला तथा अलोलुप है, वह प्रज्ञावान् साधु दूसरो को सरस आहार मिलते देख स्वादु-रसो मे गृद्ध-आसक्त न हो एव दूसरो को सम्मान पाते देखकर मन मे अनुताप-पश्चात्ताप न करे।

विवेचन—अणुक्कसायी : तीन रूप:तीन अर्थ— (१) अणुकषायी— अल्पकषाय वाला, (२) अनुत्कशायी जो सत्कारादि के विषय मे उत्कण्ठित न हो, (३) अनुत्कषायी— अर्थात् जो सत्कारादि न करने वालो के प्रति कुपित नही होता और न ही सत्कार-सम्मान आदि मिलने पर अहंकारी बनता है। आशय यह है कि नि:स्पृह साधु सत्कार-सम्मान, वन्दना-पूजा को महाविघ्न (पलिमन्थु) समझता है और मद को सूक्ष्म शल्य समझकर मद नही करता।

---

१. अप्पिच्छे : अल्पेच्छ : चार अर्थ—(१) जो धर्मोपकरण के अतिरिक्त कुछ भी पाने की अभिलाषा नही करता। (२) पूजा, सत्कार आदि की वांछा नही करता। (३) थोड़ी इच्छावाला। (४) इच्छारहित, निरीह।
२. अण्णाएसी— अज्ञातैषी: दो अर्थ— (१) जो अज्ञात रहकर, तप, जाति या ज्ञान आदि का परिचय दिये बिना आहार की एषणा करता है, (२) जो अपरिचित कुलों से एषणा करता है।
३. नाणुतप्पेज्ज पण्णवं : आशय— राजा आदि के द्वारा अन्यतीर्थीय साधुओं को सम्मान-सत्कार पाते देख मन में पश्चात्ताप न करे कि मैं इतनी बड़ी पूजा-प्रतिष्ठा को ठुकराकर यहाँ (इस निर्ग्रन्थ मुनिधर्म में) क्यों दीक्षित हो गया।

इस गाथा का निष्कर्ष— यह है कि प्रज्ञावान्- हेय-उपादेय विवेकवान् साधु को सत्कार करने वालो के प्रति तोष और तिरस्कार करने वालो के प्रति रोष अर्थात्— राग और द्वेष, न करके समभावपूर्वक इस परीषह को सहन करना चाहिए ।

सत्कार-पुरस्कार— परीषह के विषय मे मुनि और उनके अन्धभक्त श्रावक की कथा द्रष्टव्य है । एक ने इस परीषह को जीता है, जबकि दूसरा इससे पराजित हुआ है ।

२०. प्रज्ञा-परीषह

मूल— से नूणं मए पुव्वं, कम्माणाणफला कडा ।
जेणाऽहं नाभिजाणामि, पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥४० ॥

संस्कृत-छाया— स नून मया पूर्व, कर्माण्यज्ञातफलानि कृतानि ।
येनाह नाभिजानामि, पुष्ट· केनाऽपि कस्मिन् ॥४० ॥

पद्यानुवाद— निश्चय ही मैंने कर्म किये है, ज्ञाननिरोधक दु·खकारी ।
पूछा जाने पर कही किसी से, मै जान न पाता हितकारी ॥४० ॥

अन्वयार्थ— से नूणं— अहो ! निश्चय ही, **मए**— मैंने, **पुव्वं**— पहले—अर्थात् पूर्वजन्म में, **अण्णाणफला**— अज्ञान रूप फल देने वाले (ज्ञानावरणीय), **कम्मा**— कर्म, **कडा**— किये है । **जैण**— जिससे, **केणइ**— किसी के द्वारा, **कण्हुई**— किसी (जीवादि के) विषय मे, **पुट्ठो**— पूछे जाने पर, **अहं**— मै, **नाभिजाणामि**— कुछ भी उत्तर देना नही जानता ।

भावार्थ— अहो ! निश्चय ही मैंने पूर्व जन्म मे अज्ञानरूप फल देने वाले ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध किया है, जिस कारण किसी के द्वारा किसी विषय मे पूछे जाने पर मै कुछ भी उत्तर देना नही जानता ।

विवेचन—प्रज्ञा-परीषह का स्वरूप— प्रस्तुत गाथा मे प्रज्ञा-परीषह का स्वरूप बताया गया है कि साधक जब किसी प्रश्न को पूछने पर उसके विषय मे कुछ स्मरण नही कर सकता, ही उसे कुछ स्फुरणा होती है, तब वह निश्चय कर सकता है कि मेरे ही पूर्वकृत ज्ञानावरणीय का फल है । परन्तु इस प्रकार के अज्ञानरूप फल को पाकर उसे मन मे हीन-भावना नही आने देनी चाहिए, न ही यह सोचना चाहिए कि अब तो मै कुछ भी ज्ञान प्राप्त नही कर सकता । उसे मासतुष मुनि की तरह उक्त ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए ।

मूल— अह पच्छा उइज्जंति, कम्माणाणफला कडा ।
एवमस्सासि अप्पाणं, नच्चा कम्मविवागयं ॥४१ ॥

संस्कृत-छाया— अथ पश्चादुदेष्यन्ति, कर्माण्यज्ञानफलानि कृतानि ।
एवमाश्वासयात्मानं ज्ञात्वा कर्मविपाकम् ॥४१ ॥

पद्यानुवाद— अज्ञानफलप्रद कर्म किये, जो उदय समय पर आते है।

यो कर्मविपाक समझ मुनिवर, मन को आश्वस्त बनाते है ॥४१ ॥

अन्वयार्थ— अण्णाणफला— अज्ञानरूप फल देने वाले, **कडा कम्मा—** पूर्वकृत कर्म, **अह पच्छा—** अबाधाकाल व्यतीत हो जाने (परिपाक हो जाने) पर, **उइज्जंति—** उदय मे आते है। **एवं—** इस प्रकार, **कम्मविवागयं—** कर्म के विपाक को, **नच्चा—** जानकर (मुनि) **अप्पाणं—** अपनी आतमा को, **अस्सासि—** आश्वासन दे।

विवेचन—आशय— यह और पूर्वोक्त ४० वी गाथा अल्पप्रज्ञावान् की अपेक्षा से कही गई है। इसके दो आशय है- (१) ज्ञानावरणीय कर्म के कारण प्रज्ञा अतिमन्द हो तो उपर्युक्त उपाय से अपने आपको आश्वस्त करना चाहिए, अथवा (२) यदि ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के कारण अतिशय प्रज्ञा प्राप्त हो तो उसका गर्व न करे।

प्रज्ञापरीषह पर भद्रमतिमुनि एवं सागरचन्द्राचार्य की (दोनो) कथाएँ परिशिष्ट मे देखे।

२१. अज्ञान-परीषह

मूल— निरट्ठगम्मि विरओ, मेहुणाओ सुसंवुडो।

जो सक्खं नाभिजाणामि, धम्मं कल्लाण-पावगं ॥४२ ॥

संस्कृत-छाया— निरर्थकमस्मि विरत, मैथुनात्सुसवृत ।

यः साक्षान्नाभिजानामि, धर्मकल्याणपापकम् ॥४२ ॥

पद्यानुवाद— मै व्यर्थ हुआ मैथुन निवृत्त, इन्द्रिय-मन-गोपन व्यर्थ किया।

है धर्म सुखद या पापजनक, प्रत्यक्ष न इसका ज्ञान लिया ॥४२ ॥

अन्वयार्थ—निरट्ठगम्मि— मै निरर्थक (निष्प्रयोजन) ही, **मेहुणाओ—** मैथुन से, **विरओ—** निवृत्त हुआ (तथा व्यर्थ ही) **सुसंवुडो—** मैने इन्द्रिय और मन का सवरण किया। (क्योकि) **धम्मं—** धर्म, **कल्लाणं—** कल्याणकारी है, (अथवा) **पावगं—** पापकारी, **जो—** इसे भी, (मैं) **सक्खं—** साक्षात्(प्रत्यक्षरूप से), **नाभिजाणामि—** नही जानता।

विवेचन— अज्ञानरूप परीषह का स्वरूप— जब साधक के जीवन मे अज्ञान रूप परीषह आता है, तब वह इसी प्रकार ऊटपटाग सोचने लगता है और अनिश्चित एव सशयग्रस्त स्थिति मे रहता है। वह अपने गृहीत व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान, सवर, निर्जरा, धर्म आदि सब कल्याणकारी आचारो को सशय की दृष्टि से देखने लगता है, इन सबके परिणाम के विषय मे शका करने लगता है। अगर इस पर शीघ्र ही ज्ञानबल का अंकुश नही लगाया जाता है तो वह साधक पूर्वोक्त सशय के अनुसार झटपट सक्रिय होकर साध्वाचार एव सयम को छोडकर पतन के गड्ढे मे गिर जाता है, यही अज्ञानपरीषह से पराजय है।

(इनसे), न विहन्नेज्जा— पराजित न हो ।

त्ति बेमि— ऐसा मै कहता हूँ ।

भावार्थ— काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर ने इन सभी परीषहो का प्ररूपण किया है । इन्हे जानकर कही भी, किसी भी परीषह से आक्रान्त होने पर मुनि इनसे पराजित न हो ।— ऐसा मै कहता हूँ ।

विवेचन— परीषहों के साथ संग्राम में साधु हार न खाए— शास्त्रकार का आशय यह है कि भगवान् महावीर ने स्वयं अनुभव करके इन २२ परीषहो का भली-भांति निरूपण किया है कि निर्ग्रन्थ साधुओ को कही भी, किसी भी चर्या मे प्रवृत्त होते समय इनमे से कोई भी परीषह उपस्थित हो जाए तो घबराकर भागे नही, न ही अपनी साधु मर्यादा भंग करके अन्य पतन मार्ग को अपनाए, अपितु उनके सामने डटे रहकर समभाव से उन्हे सहन करे, उनसे हार न खाए बल्कि उन्हे पराजित करके स्वय परीषहविजयी बने ।

॥परीषह प्रविभक्ति : द्वितीय अध्ययन समाप्त ॥

द्वितीय अध्ययन का परिशिष्ट (कथा भाग)

(१) संयमभ्रष्ट अर्हन्नक उष्ण-परीषह विजयी बना

(सायं नो परिदेवए-अ.२, गा.८-९)

तगरानगरी मे उन दिनो अर्हन्मित्र नामक आचार्य अपनी शिष्य-मण्डली सहित पधारे हुए थे । नगरी निवासी सेठ दत्त, उनकी पत्नी भद्रा और उनका पुत्र अर्हन्नक, ये तीनो आचार्यश्री की सेवा मे दर्शन एव वन्दन के लिए पहुँचे । उनका वैराग्यपूर्ण धर्मोपदेश सुनकर तीनो व्यक्ति संसार के कामभोगो से विरक्त हो गये । तीनो ने आचार्यश्री से भागवती दीक्षा ग्रहण कर ली । पिता-पुत्र दोनो गुरु-चरणो मे रहकर विनयपूर्वक ज्ञानार्जन करते हुए मुनिधर्म का निर्दोषरूप से पालन करने लगे । दत्त मुनि पुत्रवात्सल्यवश अर्हन्नक मुनि को भिक्षाचरी आदि के लिए नही जाने देते थे । उनका विचार यह था कि जब तक मै जीवित हूँ, तब तक अर्हन्नक मुनि दत्तचित्त होकर शास्त्रो का अध्ययन करके पारंगत हो जाए, फिर तो सारी जिन्दगी पडी है, भिक्षाचर्या आदि करने के लिए । परन्तु इसका परिणाम उलटा आया । अर्हन्नक मुनि से भिक्षाटन आदि कोई भी कार्य न कराये जाने से वह अत्यन्त सुखसील एव सुकुमार हो गये ।

कालान्तर मे दत्त मुनि का स्वर्गवास हो गया । दूसरे मुनि अब अर्हन्नक को भिक्षाचरी आदि के लिए भेजने लगे । एक दिन ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्नकाल मे अर्हन्नक मुनि भिक्षा के लिए उपाश्रय से निकले । ऊपर से सूर्य तवे की तरह तप रहा था, नीचे से धरती । सुकुमार अर्हन्नक मुनि के पैरो मे छाले पड गये । सिर गर्म हो गया । तेज धूप मे चलने के कारण प्यास के मारे कण्ठ सूखने लगा । थकान भी आ गई थी । अतः थोडी देर विश्राम करने के लिए वे एक धनिक के विशाल भवन की छाया मे खडे हो गये । गृहस्वामी परदेश गया हुआ था । गृहिणी ने ज्यो ही अर्हन्नक मुनि को देखा, वह उनके रूप-लावण्य पर मोहित हो गई । उसने अपनी दासी को भेजकर मुनि को ऊपर भवन मे बुला लिया । बडी आवभगत करते हुए उसने मुनि को आसन पर बिठाकर पूछा— "भगवन् ! आप ऐसी भयकर गर्मी मे क्यो घूम रहे है ? आपको क्या चाहिए ?"

अर्हन्नक मुनि ने कहा— "भद्रे ! मै भिक्षा के लिए घर-घर घूम रहा हूँ ।"

गृहिणी बोली— "अजी ! इसकी बिलकुल चिन्ता न करिये । मेरे यहाँ सभी वस्तुएँ तैयार है । आपको इधर-उधर कही जाने की जरूरत नही है । यथेष्ट भोजन, पेय, वस्त्र, शय्या, आसन आदि सब कुछ आपको मिलेगा । आप आराम से यही रहिये ।"

मुनि उस कामातुर महिला की चिकनी-चुपडी बातो मे आ गये । उष्णता के परीषह से

सतप्त मुनि संयम से विचलित होकर सुन्दरी के प्रेमपाश मे फँस गये। उसी भवन मे रहकर वे सभी प्रकार के विषय-सुखो का उपभोग करने लगे।

अर्हन्नक मुनि की माता भद्रा साध्वी दोपहर बाद साधुओ के उपाश्रय मे आई, वहाँ अपने पुत्र अर्हन्नक को न देखकर आचार्यश्री ने पूछा— "गुरुदेव ! अर्हन्नक मुनि कहाँ है ?" आचार्यश्री ने कहा— "वह कुछ समय पहले भिक्षा के लिए गया था, किन्तु अभी तक वापस लौटकर नही आया।"

यह सुनते ही साध्वी माता अत्यन्त चिन्ताग्रस्त होकर स्वयं अर्हन्नक को ढूँढने निकल पडी।

साध्वी माता तगरानगरी की गली-गली मे यो विलाप करती हुई घूम रही थी— 'अर्हन्नक ! ओ मेरे अर्हन्नक !' यो जोर-जोर से चिल्लाती हुई वह उस भवन के पास पहुँची, जहाँ अर्हन्नक रह रहा था। अर्हन्नक ने साध्वी माता की आवाज पहचान कर रुदन करती हुई माता को झरोखें से देखा तो तत्काल महल से नीचे उतरकर आए और माता के चरणो मे गिरकर बोले— "माँ, मै हूँ आपका अर्हन्नक !" साध्वी माता आश्चर्यचकित होकर बोली— "अर्हन्नक ! तेरी यह दशा कैसे हुई, वत्स ?" अर्हन्नक ने कहा— "माँ ! मै अब चारित्र-पालन करने मे असमर्थ हूँ।" साध्वी माता— "यदि ऐसी बात है तो अनशन करके इस शरीर को छोड़ दो। महापुरुषो ने यही सर्वोत्तम मार्ग बताया है-

"वरं पवेसो जलिए हुयासणे, न यावि भग्गं चिरसंचियं वयं।
वरं हि मच्चू सुविसुद्धकम्मओ, न यावि सीलक्खलियस्स जीवणं ॥"

अर्थात्- "प्रज्वलित अग्नि मे प्रवेश करना अच्छा है, किन्तु चिरकाल संचित व्रत(संयम) भंग करना अच्छा नही। संयम की शुद्ध क्रिया करते हुए मृत्यु प्राप्त हो जाए तो अच्छा है, किन्तु शीलभ्रष्ट होकर जीना अच्छा नही है।"

साध्वी माता की ओजस्वी वाणी सुनकर अर्हन्नक का सुप्त मन जागृत हो गया। उसने अपने भूतकालीन दोष के प्रायश्चित्तस्वरूप आत्म-विशुद्धि हेतु तपी हुई शिला पर आमरण अनशन करके समाधिभावपूर्वक शरीर को त्याग दिया और प्रथम देवलोक मे पहुँचा।

इसी प्रकार जो साधक उष्णपरीषह के समय संयम मार्ग मे भ्रष्ट न होकर सुखशीलता का परित्याग करके समाधिभाव से परीषह सह लेते है, वे अवश्य ही सुगति प्राप्त करते है।

— उत्तराध्ययन अ.२, गाथा ८

(२) दंश-मशक-परीषह-विजय का दूरगामी सुपरिणाम
(न संतसे, न वारेज्जा— अ. २, गाथा ११)

भव्यजीव-प्रतिबोधक स्वपरकल्याणकर्त्ता आचार्य धर्मघोष विहार करते हुए अपनी शिष्यमण्डली सहित चम्पानगरी पधारे। चम्पानगरी के राजा रिपुमर्दन का इकलौता पुत्र सुदर्शन भी जनसमूह के साथ आचार्यश्री के दर्शन-वन्दन के लिए पहुँचा। आचार्यश्री ने उपस्थित जनता को वैराग्यपूर्ण धर्मोपदेश दिया। आचार्यश्री के उपदेश को सुनकर राजपुत्र सुदर्शन ने जान लिया कि "ये सांसारिक सुख-भोग, ऐश्वर्य आदि सब तुच्छ एव नाशवान है, ससार-परिभ्रमण बढाने वाले है, वीतराग-प्ररूपित मुनिधर्म ही आत्म-कल्याणकारी है। अतएव मुझे सांसारिक कामभोगो से विरक्त होकर मुनिदीक्षा लेनी चाहिए।" ऐसा सकल्प करके अपने परिवार से दीक्षा की अनुज्ञा प्राप्त करके राजकुमार सुदर्शन ने वैराग्यभाव से आचार्य धर्मघोष से मुनिदीक्षा ग्रहण की।

'आचार्यश्री के चरणो मे रहकर सुदर्शन मुनि ने विनयपूर्वक शास्त्रो का अध्ययन किया। तत्पश्चात् शास्त्रपारंगत, दृढ पराक्रमी सुदर्शन मुनि ने गुरुदेव से आज्ञा प्राप्त करके एकल-विहार प्रतिमा अङ्गीकार की।

एक बार शरदऋतु मे एकाकी विहार करते हुए वे एक अटवी मे पहुँचे। रात्रि प्रारम्भ होते ही मुनि ने पॉच प्रहर का कायोत्सर्ग धारण कर लिया। रात्रि के प्रथम प्रहर मे सुई की नोक जैसे तीक्ष्णमुख वाले हजारो लघुकाय मच्छर उनके शरीर को चारो ओर से काटने लगे। दूसरे प्रहर मे उनसे भी बडे कीडो ने काटा। तीसरे और चौथे प्रहर मे उनसे भी बडे डास-मच्छर आदि कीटो ने मुनि के शरीर पर एक साथ आक्रमण करके तीव्र वेदना उत्पन्न कर दी। रात्रि समाप्त होने आई तो पॉचवे प्रहर मे सूर्योदय होने के साथ ही उधर से गुजरता हुआ मधुमक्खियो का वडा झुण्ड मुनि के खुले बदन पर चिपट कर काटने लगा।

अनेक प्रकार डांस, मच्छर, कीट आदि के भयकर उपद्रव कारण मुनि के शरीर मे हजारो बिच्छुओं द्वारा काटने जैसी तीव्र-असह्य वेदना हो रही थी, किन्तु दश-मशक-परीषह-विजेता सुदर्शन मुनि ने न तो उन डांस मच्छर आदि को किसी प्रकार का त्रास पहुँचाया और न ही हाथ से उन्हे हटाया, किन्तु शरीर के प्रति ममत्व-विसर्जन के दृढ अभ्यासी सुदर्शन मुनि इस प्रकार विचार करने लगे— "हे आत्मन्! वर्तमान मे जो वेदना हो रही है, वह तेरे द्वारा नरक एव निगोद के भवो मे भोगी हुई वेदना की तुलना मे कुछ भी नही है। इससे भी अन्तगुणी वेदना नरक मे अनन्त बार तूने सहन की है। असिपत्र, क्षुरपत्र एवं कदम्बचीरिका-पत्र से छेदे जाने पर; भाला, वाण, छुरी एव सूई के अग्रभाग से तथा कपिकच्छु, क्रोंच की फली आदि से

और बिच्छु के डक से भेदे जाने पर तथा जलती हुई आग मे जलाये जाने पर जो वेदना होती है, इससे भी अनन्तगुणी वेदना नरक मे प्रतिक्षण होती है। इसी प्रकार निगोद के भव मे भी अपार दुःख सहन किया है। निगोद मे सूई के अग्रभाग प्रमाण कन्द आदि मे असख्यात श्रेणियाँ होती है। एक-एक श्रेणी मे असख्यात प्रतर होते है, एक-एक प्रतर मे असंख्यात गोले होते है और एक-एक गोले मे असंख्यात निगोद-शरीर होते है। फिर एक-एक निगोद-शरीर मे अनन्त जीव रहते है। वे एक ही साथ श्वासोच्छ्वास लेते है, एक-एक श्वासोच्छ्वास मे वे निगोदराशि के जीव साढे सत्रह बार जन्मते है और उतनी ही बार मरते हैं। इस दृष्टि से हे जीव! तूने निगोद के भव मे अनन्त बार, अनन्त जन्म-मरण का दुःख परवश होकर सहन किया है, उन दुःखो की अपेक्षा इन दंश-मशको के उपद्रव से होने वाला दुःख कितना नगण्य है, कितना अल्प है? फिर यह शरीर और आत्मा दोनो पृथक्-पृथक् है, इस प्रकार का भेद-विज्ञाता होकर भी मै इस शरीर पर कैसे ममत्व कर सकता हूँ? अतः इस नाशवान् शरीर से अगर इन डांस-मच्छर आदि जीवो की तृप्ति होती हो तो, इसमे भी शुभ भावना से मेरा कल्याण है।"

इस प्रकार से उत्कृष्ट शुभ अध्यवसाय से दशमशक-परीषह को सहन करते हुए सुदर्शन मुनि ने शुक्लध्यान एवं शुभ परिणामो की धारा से केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। तत्पश्चात आयुष्य के अन्त मे समस्त कर्मो को क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होकर अनन्त, अव्याबाध एवं शाश्वत सुख के धाम-मोक्ष में विराजमान हो गए।

अत. सुदर्शन मुनि की तरह अन्य मुनियो को भी समभाव से उत्कृष्ट अध्यवसायपूर्वक दंश-मशक-परीषह सहन करना चाहिये। — उत्तराध्ययनसूत्र अ.२, गाथा११

(३) वध-परीषहविजयी मुनियों को अव्याबाध सुख की प्राप्ति

(समणं संजयं दंतं हणेज्जा को वि कत्थइ.....अ.२, गा.२७)

श्रावस्तीनगरी के राजा अरिमर्दन की धारिणी रानी से एक पुत्र हुआ जिसका नाम रखा गया था-स्कन्दक ; स्कन्दक कुमार के एक बहन भी थी, जिसका नाम था-पुरन्दरयशा। पुरन्दरयशा का विवाह कुम्भकारकटक के राजा दण्डक के साथ हुआ। दण्डक राजा का राजपुरोहित पालक अत्यन्त मिथ्याभिमानी एवं मिथ्यादृष्टि था।

एक बार वीसवे तीर्थङ्कर भगवान् मुनिसुव्रतस्वामी भव्य आत्माओ को प्रतिवोध देते

एव कल्याण करते हुए श्रावस्तीनगरी मे पधारे। भगवान् का पदार्पण सुनकर श्रावस्ती के सभी नागरिक परिवार सहित उनके दर्शन, वन्दन एव उपदेश-श्रवण के लिए बरसाती नदी की तरह उमड पडे। भगवान् की अमृतवाणी से जीवादि तत्त्वो को सम्यक् रूप जानकर कुमार स्कन्दक ने उनसे श्रावकधर्म ग्रहण किया और निष्ठापूर्वक व्रत-पालन करने लगा।

इसके कुछ ही दिनो वाद एक दिन दण्डक राजा के आदेश से पुरोहित पालक कुम्भकारकटक से श्रावस्ती आया। राजसभा मे उसने अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करते हुए जैनसिद्धान्तो का खण्डन किया। सभा मे उपस्थित सभी सभासद उसके तर्कों का खण्डन न कर सकने के कारण निरुत्तर हो गए। किन्तु जैन तत्त्वज्ञाता कुमार स्कन्दक से न रहा गया। उसने पालक के सभी तर्कों का युक्तिपूर्वक खण्डन करके जैन-सिद्धान्तो का निरुपण किया। इसके कारण पालक राजसभा मे निरुत्तर हो गया। निरुत्तर पालक ने स्वयं को अपमानित समझकर यथासमय कुमार स्कन्दक से अपने अपमान का बदला लेने की गाँठ बाँध ली।

कालान्तर मे तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतस्वामी का श्रावस्ती मे पुन पदार्पण हुआ। उनका अमृतमय उपदेश सुनकर स्कन्दक को ससार के विषय-भोगो से विरक्ति हो गई। उसने ४९९ कुमारो सहित भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी से भगवती दीक्षा ग्रहण की। उनकी असीम कृपा से स्कन्दक मुनि शास्त्रपारंगत हो गये। भगवान् ने योग्य समझकर स्कन्दक मुनि को उनके साथ दीक्षित हुए ४९९ साथियो का आचार्य नियुक्त कर दिया।

एक दिन आचार्य स्कन्दक ने भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी से सविनय निवेदन किया— "भगवन्! आपकी आज्ञा हो तो मै शिष्य समुदाय सहित अपनी सासारिक बहन को दर्शन देने कुम्भकारकटक जाऊँ।"

भगवान् ने कहा— "वहाँ जाने से तुम सबको वधपरीषह के सन्दर्भ मे मरणान्त कष्ट सहना पडेगा।"

भगवान् के मुख से यह सुनकर स्कन्दकाचार्य क्षण भर स्तब्ध हो गए फिर पूछा— "भगवन्! इस उपसर्ग मे हम आराधक होगे या विराधक? इस पर भगवान् ने कहा— "एक तुम्हारे सिवाय सभी शिष्य आराधक होगे।"

इस प्रकार भगवान् के कहने पर भी भवितव्यतावश स्कन्दकाचार्य ने अपने शिष्य समुदाय सहित उनसे आज्ञा प्राप्त कर कुम्भकारकटक की ओर विहार कर दिया। स्कन्दकाचार्य के आगमन का समाचार सुनकर पालक पुरोहित अत्यन्त प्रसन्न हुआ और अपने अपमान का बदला लेने का षड्यन्त्र रचने लगा। कुम्भकारकटक नगर के बाहर जिस उद्यान

मे स्कन्दकाचार्य अपने शिष्य मण्डल सहित ठहरे हुए थे, वहाँ कई स्थानो पर रात्रि मे अपने अनुचरो की सहायता से पालक ने विविध प्रकार के अनेको शस्त्रास्त्र जमीन मे गडवा दिए और ऊपर से भूमि को समतल करवा कर वह दुष्ट तुरन्त राजा दण्डक के पास पहुँचा। उसने राजा से निवेदन किया— "राजन्! नगर के बाहर उद्यान मे ५०० योद्धाओ सहित स्कन्दक मुनिवेष मे ठहरा हुआ है। वह आप पर आक्रमण करके आपका राज्य हथियाना चाहता है। मुझे गुप्तचरो से पता लगा कि वे अपने शस्त्रास्त्रो को भूमि में गाड रहे थे। अत आप सावधान हो जाइए।"

इस बात की सत्यता जानने के लिए राजा स्वय प्रात:काल पुरोहित पालक के साथ उस उद्यान मे पहुँचा, जहाँ स्कन्दकाचार्य ठहरे हुए थे। पालक ने जहाँ शस्त्रास्त्र गडवाए थे, उस जगह को तुरन्त खुदवाकर राजा के सामने शस्त्रास्त्रो का ढेर उपस्थित कर दिया। ये शस्त्रास्त्र देखकर राजा स्कन्दकाचार्य आदि मुनियो पर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और आवेश मे आकर उसने पुरोहित पालक से कहा— "पालक! अच्छा हुआ इन दुष्टो से तुमने मेरा राज्य बचा लिया। अत: इन पाँच सौ छद्मवेषधारी मुनियो को मै तुम्हारे सुपुर्द करता हूँ। तुम इनके साथ चाहे जैसा दण्ड आदि व्यवहार कर सकते हो।"

इस प्रकार मनचाहा आदेश पाकर पालक अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने अपने अपमान का भयकर से भयंकर बदला लेने का सुअवसर समझकर सभी मुनियो को गिरफ्तार करके तेल पीलने की घाणी के पास सबको खडा कर दिया। फिर उसने स्कन्दकाचार्य को सम्बोधित करते हुए कहा— "ऐ स्कन्दक! तूने मेरा भरी सभा मे अपमान किया था। अत. उसका फल भोगने के लिए तैयार हो जा। मै तेरे सामने ही तेरे एक-एक शिष्य को घाणी मे पील कर मौत के मुँह मे पहुँचाऊँगा। इनका मरणान्त कष्ट देखकर तुझे घोर पीडा होगी और सबसे अन्त मे तेरा भी इसी प्रकार का अन्त होगा।" स्कन्दकाचार्य ने प्रत्येक मुनि को वधपरीषह समभाव से सहने, मन-वचन-काया से अपने श्रमणधर्म पर दृढ़ रहने एव पालक के प्रति मन मे जरा भी रोष-द्वेष न लाने का आत्महितकारक उपदेश दिया। पालक जब प्रत्येक मुनि को घाणी मे पीलने लगता, तब वह मुनि इस प्रकार चिन्तन करता— 'इसने तो इस शरीर का अन्त करने का उपक्रम किया है, परन्तु मेरी आत्मा का तो यह अन्त नही कर सकेगा। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं अनन्तशक्ति से सम्पन्न आत्मा तो सदैव अविनाशी है, शाश्वत है, अनादि-अनन्त है। शरीर आत्मा से भिन्न है, यह रहे चाहे जाए इससे मेरी आत्मा में क्या फर्क पड़ता है? और फिर एक दिन तो यह शरीर देर-सवेर नष्ट होने ही वाला था। आज हो रहा

है तो क्या हुआ। मेरे लिए अच्छा अवसर है, समभाव से कर्मफल भोगकर कर्मो से तथा जन्ममरण से सर्वथा मुक्त होने का !' इस प्रकार विचार करते हुए प्रत्येक मुनि ने शुक्लध्यान के प्रभाव के चारो घाति कर्मो का क्षय करके केवल-ज्ञान-दर्शन प्राप्त कर लिया। फिर शरीर छूटने के साथ ही समस्त कर्मो का सर्वथा क्षय करके ४९८ शिष्य क्रमश सिद्ध-बुद्ध मुक्त होते गये।

पालक द्वारा इस प्रकार अपने ४९८ शिष्यो के होते हुए वध को स्कन्दकाचार्य ने समभाव से सहन किया किन्तु जब अन्तिम और सबसे छोटे अल्पवयस्क शिष्य को घाणी की ओर ले जाया जा रहा था, तब स्कन्दकाचार्य उसकी अत्यन्त अल्प वय एव कोमल काया को देखकर पालक से कहने लगे— "पालक ! इस अत्यन्त अल्पवयस्क, सुकोमल शरीर वाले, निर्दोष बालक को मत मारो। मै इस सुकोमल एवं निर्दोष शिष्य का इतना भयकर अन्त देख नही सकूँगा। अतः पहले मुझे घाणी मे पील दो, बाद मे जो चाहो सो करना।"

इस पर दुष्ट पालक ने दांत पीसते हुए कहा— "मै तो यही चाहता हूँ कि तुम्हे अपने सामने तीव्र से तीव्र पीड़ा का अनुभव कराऊँ।" यो कहते हुए उसने स्कन्दकाचार्य के अन्तिम अल्पवयस्क लघु शिष्य को भी घाणी मे पील ही दिया। बालक मुनि भी समभाव से उस मरणान्तक वधपरीषह को सह कर अव्याबाध सुखसम्पन्न सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गया।

अपने प्रिय अल्पवयस्क शिष्य का इस प्रकार क्रूरतापूर्वक वध होते देख स्कन्दकाचार्य समभाव से विचलित हो गए, उनके मन मे उद्विग्नता के साथ पालक एवं दण्डक आदि के प्रति अत्यधिक रोष उत्पन्न हुआ। मन ही मन उन्होने इस प्रकार का निदान (नियाण) कर लिया कि अगर मेरे मुनि व्रत और तप का कोई फल हो तो मुझे आगामी जन्म मे इससे बदला लेने की शक्ति मिले।' पालक ने अन्त मे, स्कन्दकाचार्य को भी पकड कर घाणी मे पील दिया। आचार्य के भव मे निदान करने के कारण स्कन्दक अगले भव मे अग्निकुमार देव बने।

सयोगवश स्कन्दकाचार्य के रक्तलिप्त रजोहरण को मनुष्य का हाथ जानकर एक गिद्ध ने चोच से उसे उठाकर पुरदरयशा के महल के सामने डाल दिया। रानी पुरदरयशा ने उसे देखा तो वह पहचान गई कि यह मेरे भ्राता स्कन्काचार्य का रजोहरण है अतः उसने सेवको को भेजकर चारो ओर साधुओ की खोज कराई, परन्तु पहले तो उनका कोई पता नही लगा किन्तु अन्त मे लगा कि राजा और पालक पुरोहित ने मिलकर ५०० ही साधुओ को घाणी मे पीलकर मार डाला है। इससे रानी पुरन्दरयशा कॉप उठी। राजा को उसने धिक्कारते हुए कहा 'साधुओ की क्रूरतापूर्वक हत्या करने वाले अधम व्यक्ति का मै मुख भी नही देखना

चाहती। मुझे अब इस पापमय राजमहल और अत्याचारमय राजपरिवार मे नही रहना है। संसार से मुझे विरक्ति हो गई है। अब मैं दीक्षा लूँगी।" इस प्रकार का निश्चय करके पुरन्दरयशा ने मुनिसुव्रतस्वामी से दीक्षा ले ली।

उधर अग्निकुमार देव अपने पूर्वभव का समग्र वृत्तान्त जानकर कोपायमान हुआ और उसने कुम्भकारकटक सहित समस्त प्रदेश को जलाकर भस्म कर डाला, जो बाद मे जनशून्य होने के कारण अरण्य हो गया और दण्डक राजा के नाम पर वह 'दण्डकारण्य' नाम से प्रसिद्ध हो गया।

अतः स्कन्दकाचार्य के उन ४९९ शिष्यो के समान सभी मुनियो को समभाव से वध-परीषह सहन करना चाहिए। — उत्तराध्ययन अ. २, गा.२७

(४) कालवैशिक मुनि के समान रोग परीषह सहन करे

(तेगिच्छं नाभिनंदेज्जा— अ.२, गाथा ३३)

मथुरा नगरी के राजा जितशत्रु के अन्तःपुर मे 'काला' नाम की सर्वाङ्गसुन्दरी वेश्या थी। उस वेश्या से राजा के एक पुत्र और एक पुत्री हुई। पुत्र का नाम रखा— कालवैशिक। कालवैशिक की बड़ी बहन का विवाह मुद्गशैल नगर-नरेश हतशत्रु के साथ कर दिया गया।

एक दिन युवक कालवैशिक कुमार ने रात को सियार की आवाज सुनकर अपने सेवको से पूछा— "यह किसकी आवाज है ?" सेवको ने कहा— "स्वामिन् ! यह सियार बोल रहा है।" कुमार ने कहा— "इसे बांध कर मेरे पास ले आओ।" सेवक सियार को बाधकर ले आये और कुमार को सौप दिया। कालवैशिक कुमार उसे लकडी से निर्दयतापूर्वक मारने लगा। ज्यो-ज्यो वह मारता था, त्यो-त्यो सियार दुःखित होकर 'खी-खी' शब्द करता हुआ जोर-जोर से चिल्लाता था। उसकी करुण आवाज को सुनकर कुमार अत्यन्त हर्षित होता था। इस प्रकार के निर्दय प्रहार के कारण बेचारा सियार मर गया और इस अकामनिर्जरा के फलस्वरूप वह मरकर व्यन्तरदेव हुआ।

मथुरा मे एक बार आचार्य प्रभास पधारे। युवक कालवैशिककुमार ने उनका धर्मोपदेश सुना तो उसकी सोई हुई अन्तरात्मा जागृत हो गई। पूर्वकृत अशुभ कृत्यो के कारण बँधे हुए पापकर्मो को क्षय करने की इच्छा जागी। सांसारिक विषयो एवं क्रोधादि कषायो से कालवैशिक को विरक्ति हो गई। अतः प्रबल वैराग्यभाव से आचार्य प्रभास से उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। गुरुदेव से शास्त्रो का अध्ययन किया। विशिष्ट ज्ञानी एव संयम मे सुदृढ महामुनि कालवैशिक ने गुरुदेव से एकाकी विहार प्रतिमा अङ्गीकार की और अकेले ही

ग्रामानुग्राम विचरण करने लगे। एक बार विहार करते हुए वे मुद्गशैल नगर मे पधारे। वहाँ उन्हे भयकर बबासीर रोग उत्पन्न हो गया। इस भयकर रोग के कारण उन्हे अत्यन्त पीडा होती थी, फिर भी मुनि के मन मे कभी ऐसी इच्छा नही हुई कि वैद्य आए और इस व्याधि की चिकित्सा करे, और न ही मन मे कभी ऐसा विकल्प उठता था कि यह रोग कब नष्ट होगा? प्रत्युत् वे यही चिन्तन करते थे कि 'यह मेरे अपने ही किये हुए कर्म का फल है। कृत कर्म का फल भोगे बिना कोई छुटकारा नही है।' इस प्रकार रोगजनित परीषह को वे दृढ अध्यवसायपूर्वक बडी वीरता से सहन करते जा रहे थे।

मुद्गशैल नगर नरेश की रानी मुनिराज की ससार-पक्षीय बहन थी। उसने जब यह सुना कि मेरे भ्राता मुनि को अर्श-रोग हुआ है और चिकित्सा न कराने का उनका अभिग्रह है, तो उसने भाई के मोहवश औषध मिश्रित आहार तैयार करके रखा। सयोगवश एक दिन मुनिवर भिक्षाटन करते-करते राजमहल मे पहुँच गये। वहाँ उनकी सासारिक बहन (रानी) ने उन्हे भिक्षा मे वह औषध मिश्रित आहार दे दिया। इस बात से अनभिज्ञ मुनि उपाश्रय मे आकर जब उस आहार का सेवन करने लगे तो मालूम हुआ कि यह आहार औषधमिश्रित है। यह जानकर मुनि को अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ कि 'अहो! मै अनजान मे औषधमिश्रित आहार ले आया उसका सेवन भी कर लिया। मेरे तो चिकित्सा तक न करवाने का अभिग्रह था, किन्तु इस प्रकार के आहार-सेवन से मेरा अभिग्रह भंग हो गया। अतः इस दोष के प्रायश्चित्तस्वरूप मुझे अभी से ही जीवनपर्यन्त आहार का त्याग करना उचित है।' यो विचार करके वे मुद्‌गशैल नगर से निकलकर निकटवर्ती पर्वत पर चले गये। वहाँ उन आत्मबल सम्पन्न मुनिवर ने चतुर्विध आहार एव अठारह पापस्थानो का यावज्जीवन के लिए सर्वथा त्याग करके पादपोपगमन अनशन ग्रहण कर लिया।

इसी अवसर पर वह व्यन्तरदेव, जिसका मुनि ने अपनी कुमारावस्था मे क्रूरतापूर्वक वध किया था, अपने विमान से कही अन्यत्र जा रहा था, किन्तु ज्यो ही विमान मुनिराज के अनशन स्थल के ऊपर से होकर जाने लगा, त्यो ही उसकी गति रुक गई। विमान को अकस्मात् रुकता हुआ जानकर उस व्यन्तरदेव को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उसन अवधिज्ञान से विमान अकस्मात् रुकने का कारण मुनिराज के पादपोपगमन अनशन को जानने के साथ ही अपने पूर्वभव का वृत्तान्त भी जान लिया। पूर्वभव मे अपने वध का कारण मुनिराज को जानकर उसे उन पर अत्यन्त क्रोध उत्पन्न हुआ। मुनिराज से पूर्वभव के वैर का बदला लेने के अभिप्राय से उक्त व्यन्तरदेव ने वैक्रियशक्ति ने अनेक बच्चो वाली एक सियारनी बनाई। वह सियारनी

'खी-खी' शब्द करती हुई अपने बच्चो सहित तीखे दातो से मुनिराज के सारे शरीर को काटने लगी। काटने के बाद वह बच्चो सहित मुनिराज के चारो ओर घूम-घूम कर विरस शब्द करती थी। जब मुनिराज को असह्य पीडा होने लगी, तब वह व्यन्तरदेव उनके निकट आकर उनके द्वारा कुमारावस्था मे किये हुए शृगाल-वधरूप पापकर्म का स्मरण कराकर उन्हे पुनः-पुनः दुःखित करने लगा। परन्तु मुनिराज तो सबसे क्षमायाचना करके सर्वभूतमैत्री-भाव मे लीन थे। उन्होने व्यन्तरदेव के प्रति जरा भी रोष या द्वेष नही किया। इधर शृगाली द्वारा किये हुए उपसर्ग के कारण वे मरणासन्न दशा मे पहुँच गये थे, तीसरी ओर बबारी रोग की भी भयंकर वेदना थी, परन्तु मुनिराज इन घोर दु.सह वेदनाओ को धैर्यपूर्वक समभाव से सहते जा रहे थे। पन्द्रह दिन व्यतीत हो चुके थे। सोलहवे दिन शुक्लध्यान के प्रभाव से मुनिराज को केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हुआ। उसी दिन आयुष्य पूर्ण होने के साथ ही वे सर्वकर्म क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये।

जिस प्रकार कालवैशिक महामुनि ने रोगपरीषह को समभावपूर्वक सहन किया, इसी प्रकार अन्य मुनियो को रुग्णावस्था मे चिकित्सा तथा व्याधिनाश का विकल्प न करके समभावपूर्वक रोग परीषह सहन करना चाहिए।

— उत्तराध्ययन अ.२, गाथा ३३

(५) प्रज्ञापकर्ष परीषह-भद्रमति मुनि

(से नूणं मए पुव्वं..... अ०२, गा० ४०-४१)

चम्पानगरी मे उन दिनो भव्यजीव प्रतिबोध, स्व-पर-कल्याणकामी पुष्पदन्ताचार्य पधारे हुए थे। उनकी शिष्य-मण्डली मे भद्रमति नाम का एक शिष्य था, जो अत्यन्त मन्दबुद्धि था। उसने आवश्यकसूत्र का अध्ययन पूर्ण करने के पश्चात् दशवैकालिक सूत्र का अध्ययन प्रारम्भ किया, परन्तु ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय से उसे एक भी गाथा याद न हुई। किन्तु इससे हताश होकर आर्त्तध्यान करने के बदले वह आशावादी बन कर चिन्तन करे लगा— "मैं पूर्वधर आचार्य का शिष्य हूँ। पूज्य गुरुदेव स्नेहपूर्वक मुझे शास्त्रवाचना देते है। अन्य मुनि भी मुझ पर अत्यन्त अनुग्रह रखते है, वे समय-समय पर मुझे गाथाएँ याद करने मे सहायता देते है, फिर भी मेरे पूर्वार्जित प्रबल ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के कारण मुझे याद नहीं होता। मेरे कई साथी मुनिवर ऐसे है, जिन्हे एक बार या दो बार सुनने मात्र से याद हो जाता है। कई मुनिराज दिन भर मे १००-१०० गाथाएँ और कई तो २००-२०० गाथाएँ तक कण्ठस्थ कर लेते है। कई मुनिवर एक पूर्वधर हैं तो कोई दो, तीन, चार यावत् चौदह पूर्वधर भी है। समस्त

मुनिमण्डल मे मै ही अकेला इतना मन्दबुद्धि हूँ कि कितनी ही बार याद करने पर भी मुझे एक गाथा भी याद नही होती। मालूम होता है, यह मेरे तीव्र ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध का फल है अत मुझे प्रज्ञा का असद्भावरूप परीषह शान्तभाव से सहन करना चाहिए, जो अधिक विद्वान् है, उनसे मुझे क्लेश या द्वेष न करके, उनके प्रति प्रमोदभाव रखकर उन ज्ञानीजनो का विनय करना तथा दत्तचित्त होकर मनोयोगपूर्वक पढने-सीखने का प्रयत्न करना चाहिए, इसी मे मेरा कल्याण है।'

इस प्रकार भद्रमति मुनि अपने पूर्वकृत ज्ञानावरणीय कर्मो की निन्दा करते हुए शान्तभाव से परीषह सहन करने लगे, परन्तु सीखने और पढने का पुरुषार्थ कम नही किया। केवल 'धम्मो मगलमुक्किट्ठ', यह गाथा सतत बारह वर्षो तक याद करते रहे, फिर भी वह याद नही रहती थी, क्योकि एक बार गाथा याद हो जाने के बाद जब वे दूसरे कार्य मे सलग्न होकर उस गाथा को स्मरण करना छोड देते तो फिर भूल जाते थे। फिर भी हतोत्साह न होकर भद्रमति मुनि ने एक दिन यह विचार किया कि 'भले ही मै बारह वर्षो के सतत प्रयास के बाद भी एक गाथा याद न कर सका, तो कोई बात नही, अगले बारह वर्षो मे तो मै अवश्य ही इस गाथा को याद कर लूँगा।'

ऐसा सोचकर भद्रमति मुनि ने समभाव से प्रज्ञापरीषह सहन किया। फलत शुभ अध्यवसायपूर्वक क्षपक श्रेणी का आरोहण कर भद्रमति मुनि ने केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया।

अत मुनि को भद्रमति मुनि के समान प्रज्ञापकर्ष-परीषह शान्तभाव से सहन करना चाहिए एव अपने से अधिक विद्वान् अन्य मुनिवरो के प्रति द्वेष-क्लेश नही करना चाहिए, साथ ही- 'मुझे शास्त्रपाठ याद नही होता,' विचार से मुनि को हताश होकर सीखने-पढने या याद करने का प्रयत्न बन्द या मन्द नही करना चाहिए।

— उत्तराध्ययन अ.२, गा.४०

(६) कालकाचार्य की तरह प्रज्ञाप्रकर्ष-परीषहजयी बनो

(अह पच्छा उइज्जंति..... गा.४१)

कालकाचार्य अपने अतिप्रमादी शिष्यो को उज्जयिनी मे छोडकर अपने पौत्र शिष्य सागरचन्द्र मुनि के पास सुवर्णभूमि पधारे। सागरचन्द्र मुनि अपने दादा-गुरु को नही पहचान पाए। इसलिए वे उनके साथ सामान्य साधु जैसा व्यवहार करने लगे। कालकाचार्य ने अपने प्रशिष्य के इस प्रकार के व्यवहार पर कुछ भी ध्यान नही दिया, न ही अपना परिचय किसी

को दिया। वे चुपचाप सागरचन्द्र मुनि द्वारा दी जाने वाली वाचना सुनते रहे।

एक दिन सागरचन्द्र मुनि ने आगमनिर्णीत तत्त्वो पर सारगरर्भित प्रवचन दिया, जिसे सुनकर श्रोता प्रसन्नता से झूम उठे और मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करने लगे। किन्तु कालकाचार्य को चुप देखकर सागरचन्द्र मुनि पुलकित वदन हो उनसे पूछने लगे— "मुनिवर ! आपने मेरा व्याख्यान सुना ? वह कैसा लगा आपको ?" कालकाचार्य ने कहा— "बहुत सुन्दर था।"

इस तरह वार्तालाप करते-करते दोनो मे तर्कशास्त्र पर विवाद छिड गया। सागरचन्द्र मुनि उनके अकाट्य तर्को का प्रत्युत्तर न दे सके, अत उनके अगाध ज्ञान से वे अत्यन्त प्रभावित तो हुए, किन्तु अहंकारवश उनका परिचय नही पूछा।

उधर जिन प्रमादी शिष्यो को कालकाचार्य उज्जयिनी में छोडकर चले आए थे। स्थानीय श्रावकवर्ग ने जब ये समाचार जाने तो उनकी बहुत ही भर्त्सना की। इस पर शिष्यो ने अपने भूल के लिए क्षमा मॉगने के लिए वहॉ से विहार कर दिया। बहुत दिनो तक विभिन्न गॉवो-नगरो मे गुरुजी की तलाश करते हुए अन्त मे वे सुवर्णभूमि के निकट पहुॅचे। सागरचन्द्र मुनि को जब अपने गुरु-भ्राताओ के आगमन का समाचार मिला तो वे उनके स्वागत के लिए नगर के बाहर पहुँचे। यथायोग्य वन्दना नमस्कार के पश्चात् सागरचन्द मुनि से उनके गुरुभाइयो ने पूछा— "मुनिवर ! क्या यहॉ कालकाचार्य पधारे है ?" इस पर सागरचन्द्र मुनि ने कहा— "उनका तो मुझे पता नही पर एक वृद्ध तपस्वी तो उपाश्रय मे ठहरे हुए है।" आगन्तुक मुनिगण ने उपाश्रय मे प्रवेश करते ही वृद्ध मुनिराज को दूर से देखते ही— 'मत्थएण वदामि गुरुदेव !' कहा तो सागरचन्द्र मुनि यह जानकर बहुत लज्जित हुए कि 'ये ही वृद्ध मुनिराज आचार्य भगवन् है। फिर वे भक्तिभावपूर्वक वन्दना-नमस्कार करके आचार्यश्री से क्षमा मॉगते हुए बोले— "कृपासिन्धो, श्रुतसागर भगवन् ! मैने आपको न पहचान कर आपका बहुत ही अविनय-आशातना की है। इसके लिए मुझे क्षमा कीजिए।"

इस प्रकार वार-बार क्षमायाचना करके सागरचन्द्र मुनि ने पूछा— "विश्ववन्द्य गुरुदेव ! यह तो फरमाइए कि मै शास्त्रो की व्याख्या कैसी करता हूँ। कोई त्रुटि हो, तो वताइए।" कालकाचार्य ने कहा— "वत्स ! तू शास्त्रो की व्याख्या तो अच्छी करता है, परन्तु ज्ञान का गर्व करता है, यह उचित नही।" फिर उन्होने निकटवर्ती सूखी नदी मे से एक मुट्ठी रेत मॅगाई और उसे एक जगह डलवा दी, फिर वहॉ से दूसरी, तीसरी, चौथी, यो अलग-अलग कई जगह रेत डलवाई। इस प्रकार अलग-अलग कई जगह रेत डालने से थोडी-थोडी रेत कम होते-होते, वहुत कम हो गई। रेत के इस दृष्टान्त के आधार पर कालकाचार्य ने सागरचन्द्र मुनि आदि

को प्रतिबोध देते हुए कहा— "वत्स ! जैसे नदी मे स्वाभाविक रूप से प्रचुर मात्रा मे रेत है, वैसे वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र मे स्वभावत. अनन्तज्ञान है, किन्तु जैसे नदी मे से एक मुट्ठी रेत ली, वैसे जिनेन्द्रो के अनन्तज्ञान मे से गणधरो ने थोडा श्रुतज्ञान लिया, फिर जैसे उसमे से रेत लेकर अलग-अलग अनेक स्थानो मे डालने से वह कम होती गई, वैसे ही गणधरो से उनके शिष्य, प्रशिष्य आदि अल्प-अल्प बुद्धि वाले साधको द्वारा उत्तरोत्तर ग्रहण करते-करते विस्मृति के कारण वर्तमान मे श्रुत (शास्त्रज्ञान) अत्यल्प रह गया है, क्योकि तीर्थङ्कर देव जो वचन फरमाते है, गणधर उसका अनन्तवॉ भाग ही ग्रहण कर पाते है, और गणधरो से उनके शिष्य-प्रशिष्य अनन्तवॉ भाग ग्रहण करते है। अत. जब गणधर भी भगवद्वाणी को पूर्णत ग्रहण नही कर पाते, तब दूसरे साधको की तो बात ही क्या ? इसलिए श्रुतमद नही करना चाहिए।"

सागरचन्द्र मुनि ने जैसे पहले श्रुतमद किया था, वैसे दूसरो को नही करना चाहिए, परन्तु कालकाचार्य की तरह प्रज्ञा के प्रकर्ष मे भी श्रुतमद न करके प्रज्ञापरीषह-विजयी बनना चाहिए।

— उत्तराध्ययन अ २, गाथा ४०-४१

॥ द्वितीय अध्ययन समाप्त ॥

तृतीय अध्ययन : चतुरंगीय

(अध्ययन सार)

ससारी जीवो की जन्म-मरणरूप ससारयात्रा अनन्तकाल से चली आ रही है, आगे भी कितने लम्बे काल तक चलेगी, इसका कोई ठिकाना नही है । ऐसी यात्रा मे कभी-कभी उनकी जीवन नौका सौभाग्य से कभी ऐसे तट पर पहुँच जाती है, जहाॅ उसे इस दीर्घ एव दु खद यात्रा की परेशानी से मुक्त होने का तथा आत्मशुद्धि एव आत्मविकास करके इस यात्रा का अन्त करने का सुअवसर मिलता है ।

इस सुदीर्घयात्रा मे सर्वप्रथम दुर्लभ अवसर मिलता है— मनुष्य जन्म से । कर्ममलिन आत्मा से, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परम आत्मा बनने का एक मात्र अवसर मिलता है— मनुष्य शरीर से । मनुष्य शरीर के अतिरिक्त और किसी भी शरीर से मुक्ति की आराधना एवं प्राप्ति नही हो सकी ।

नैरयिक जीव, अहर्निश दुःखो से पीडित रहते है, उनमे सद्धर्म-विवेक जागृत नही होता । तिर्यञ्च और उनमे भी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चो मे से किसी विरले पशु-पक्षी आदि के पूर्व-संस्कारो से प्रेरित होने से क्वचित् किंचित् धर्माचरण हो सकता है, परन्तु वह मुक्ति तक नही पहुँचा सकता, देव-लोक मे भी देवगण धर्म की पूर्ण आराधना नही कर पाते । उनका जीवन सासारिक सुखभोगो मे अधिक लीन होता है, इसलिए वे श्रमणदीक्षा के योग्य नही होते । मनुष्य की देह से तो आध्यात्मिकता की पहली सीढी-मानवता अल्प-प्रयास से सम्भव है, जो अन्य देहो से प्राप्त होनी असम्भव है ।

यही कारण है कि सर्वप्रथम दुर्लभ घाटी (१) मनुष्यत्व की है, उसके पश्चात् (२) धर्मश्रवण (३) श्रद्धा और (४) संयम मे पराक्रम, ये ही चार अंग दुर्लभ है, जिनका नामोल्लेख इस अध्ययन की प्रथम गाथा मे किया गया है और इन्ही चार दुर्लभ अंगो पर से इस अध्ययन का नाम 'चतुरंगीय' रखा गया है ।

मनुष्यत्व दुर्लभ क्यो है ? इसका कारण दूसरी से सातवी गाथा तक मे बताते हुए कहा गया है कि संसारी जीव अपने कृतकर्मो के अनुसार चार गतियो और चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करता है, कभी कही जन्म लेता है, कभी कही । दुष्कर्मबन्ध के प्रभाव से प्राय मनुष्येतर योनियो मे जन्म लेते है, जहाॅ अत्यन्त दु.ख और वेदना होती है, कदाचित् अत्यन्त सुखभोग वाले देवलोक मे या राजा-चक्रवर्ती या धनाढ्य के यहाॅ जन्म हुआ तो अत्यन्त वैषयिक सुखभोग के कारण संसार से विरक्ति नही पाते । बहुत पुरुषार्थ के पश्चात् प्रकृतिभद्रता,

प्रकृतिविनीतता, सदयता (दयाशीलता) एव अमत्सरता (परगुण सहिष्णुता) के फलस्वरूप मनुष्य गति के अवरोधक कर्मो का नाश होने पर मनुष्य-जन्म मिलता है। मनुष्य-जन्म प्राप्त होने पर भी यदि अनार्य, म्लेच्छ, चाण्डाल या हिसक या पापपरायण, धर्मसस्कारविहीन कुलो मे जन्म हुआ तो भी कोई लाभ नही होता। इसीलिए निर्युक्तिकार ने इन दुर्लभ अगो का कुछ विस्तार किया है। उसके अनुसार मनुष्यत्व, आर्यक्षेत्र, उत्तमजाति, उत्तमकुल, सर्वाङ्गपरिपूर्णता, नीरोगता, पूर्णायुष्य, परलोकप्रवणबुद्धि, धर्मश्रवण, धर्मस्वीकार, श्रद्धा और सयम ये सब उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इसी कारण निर्युक्तिकार ने मनुष्यभव की दुर्लभता के दस दृष्टान्तो का उल्लेख भी किया है। अत मनुष्यदेह प्राप्त करने के बाद भी मनुष्यत्व प्राप्त करना परम दुर्लभ है क्योकि मनुष्यदेह तो पूर्वकर्म के फलस्वरूप कसाई, वेश्या, चोर, हत्यारे आदि को भी मिल जाती है, किन्तु मनुष्यत्व, धर्मसस्कार, आर्य एव कुलीन को कर्मफल को निष्फल करने से मिलता है।

मनुष्यत्व के बाद श्रुति— धर्मश्रवण दुर्लभ बताया गया है। जिनका अन्त करण धर्मसस्कारो से परिपूर्ण होता है, जिनको आत्म-विकास की तीव्रता है, उन्हे ही धर्मश्रवण मे रुचि होती है।

स्थानाङ्गसूत्र के अनुसार महारम्भ और महापरिग्रह, इन दो के स्वरूप को जाने और छोडे बिना केवलिप्रज्ञप्त धर्मश्रवण का लाभ आत्मा नही ले पाता। जो अहर्निश नाना प्रकार के आरम्भ-समारम्भ मे तथा असीमित अर्थादि का संग्रह करने मे मग्न है, उसे धर्मश्रवण की रुचि भी नही होती। निर्युक्तिकार ने धर्मश्रवण मे १३ विघ्न बताये है—

(१) आलस्य
(२) मोह (धन-स्वजन-साधनादि पर ममता-मूर्च्छा या हेयोपादेय विवेक का अभाव)
(३) अवज्ञा (निन्दा-गर्हा का भाव)
(४) स्तम्भ (जाति आदि का अहंकार)
(५) क्रोध (अप्रीति)
(६) प्रमाद (निद्रा, विकथादि)
(७) कृपणता (द्रव्यव्यय में संकोच)
(८) भय
(९) शोक
(१०) अज्ञान (मिथ्याधारणा या पूर्वाग्रह)
(११) व्याक्षेप (व्याकुल-व्यग्रता),
(१२) कुतहलवृत्ति और
(१३) रमण (विषयों में अत्यधिक रति या क्रीड़ापरायणता)

धर्मश्रवण के बाद तीसरा दुर्लभ अग है— श्रद्धा। अर्थात्— यथार्थ दृष्टि, सत्य की प्रतीति, सम्बोधि। बहुत से लोग न्यायसंगत मोक्षमार्ग का श्रवण करने पर भी उससे विचलित हो जाते है, उनका विश्वास देव, गुरु, धर्म आदि पर नही जम पाता।

इतना सब होने पर भी सयम मे पुरुषार्थ को चौथा दुर्लभ अङ्ग बताया है। लोभ, मोह,

अहंकार आदि कारणों से मनुष्य संयम (चारित्र) में श्रद्धा- रुचि रखता हुआ भी उसे क्रियान्वित नहीं कर पाता।

इसके पश्चात् ११वीं से २०वी गाथा तक चतुरंगीय प्राप्ति का अनन्तर फल-कर्म-मुक्ति और परम्पराफल-देवलोकप्राप्ति, मनुष्यजन्म मे दस अङ्गो की प्राप्ति अथवा सिद्ध-बुद्ध-मुक्तपद की प्राप्ति बताया गया है।

तृतीय अध्ययन : चतुरंगीय

(तइयं अज्झयणं : चाउरंगिज्जं)

चार दुर्लभ अङ्गों का नामोल्लेख

मूल— **चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो ।**
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥१ ॥

संस्कृत-छाया— चत्वारि परमागानि, दुर्लभानीह जन्तो· ।
मनुष्यत्वं श्रुतिः श्रद्धा, सयमे च वीर्यम् ॥१ ॥

पद्यानुवाद— परम अङ्ग जग मे ये दुर्लभ, चार मोक्ष के साधन हैं ।
मनुष्यजन्म एवं श्रुति श्रद्धा, संयम मे वीर्य-प्रकाशन है ॥१ ॥

अन्वयार्थ— **इह—** इस ससार मे, **जंतुणो—** प्राणी को, **चत्तारि परमंगाणि—** चार परम अङ्गो की प्राप्ति, **दुल्लहाणि—** दुर्लभ है । (वे इस प्रकार है) **माणुसत्तं—** मनुष्यत्व (मनुष्य जन्म-प्राप्ति), **सुई—** धर्मश्रवण, **सद्धा—** श्रद्धा (धर्म पर श्रद्धा), **य—** और, **संजमम्मि वीरियं—** सयम मे पराक्रम (पुरुषार्थ) ।

विवेचन— **चारों अङ्ग उत्तरोत्तर दुर्लभ—** शरीर को सुदृढ एवं स्वस्थ रखने के लिए जैसे मस्तक, छाती, पेट, पीठ, भुजा और जांघ आदि द्रव्य-अङ्गो की आवश्यकता है, वैसे ही आत्मा को सुदृढ, स्वस्थ एव विकसित करने के लिए धर्म-साधना के इन चार भाव-अङ्गो की आवश्यकता है । इसलिए मनुष्यत्व आदि चारो अङ्ग (कारण) उत्तरोत्तर दुर्लभ है ।

मनुष्यत्व का अर्थ— केवल मनुष्य जन्म ही नही, मनुष्यता भी है । क्योकि मनुष्य शरीर मिलने पर भी मानवता नही होगी तो व्यक्ति धर्म-साधना के सम्मुख नही हो सकेगा ।

संयम में पराक्रम : व्याख्या— निर्युक्तिकार के अनुसार- अनशनादि बारह प्रकार का तप·प्रधान जो सयम पच-आस्रवो से विरमण आदिहै, उसमे वीर्य— (वीर्यान्तराय क्षयोपशमजनित शक्ति) लगाना— पुरुषार्थ करना ही संयम मे पराक्रम करना है । दया, लज्जा, (असयम के आचरण मे लज्जित होना), जुगुप्सा (पापास्रव से घृणा) अछलना (सरलता), तितिक्षा और अहिंसा, ये सयम के पर्यायवाची है ।

अन्य अङ्ग भी दुर्लभ— निर्युक्तिकार के चार अङ्गो सहित अन्य कतिपय अङ्गो को भी दुर्लभ बताया है । यथा— मानुष्य (मनुष्यभव), आर्यक्षेत्र, उत्तमजाति-कुल, रूप (पूर्णाङ्गता), आरोग्य, पूर्ण आयुष्य, परलोकप्रवण बुद्धि, धर्मसम्बद्ध श्रवण, अवग्रह (अवधारण करना), श्रद्धा और सयम ।

मनुष्यत्व-प्राप्ति की दुर्लभता

मूल— समावण्णाण संसारे, नाणागोत्तासु जाइसु ।

कम्मा नाणाविहा कट्टु, पुढोविस्संभिया[१] पया ॥२ ॥

संस्कृत-छाया— समापन्नाः संसारे, नानागोत्रेषु जातिषु ।

कर्माणि नानाविधानि कृत्वा, पृथग् विश्वभृत· प्रजा· ॥२ ॥

पद्यानुवाद— करके नानाविध कर्म जीव, ससार बीच आ जाता है ।

नाना प्रकार के गोत्र-जाति मे, विविध रूप धर छाता है ॥२ ॥

अन्वयार्थ— नाणाविहा कम्मा कट्टु— अनेकविध कर्मो का संचय करके, **नाणागोत्तासु जाइसु—** नाना प्रकार के गोत्रो वाली जातियो मे, **पुढो—** पृथक्-पृथक् रूप से (प्रत्येक योनि में) उत्पन्न होकर, **संसारे समावण्णाण—** ससार को प्राप्त (ससारी), **पया—** जीवो ने, **विस्संभिया—** सारे विश्व को (अपनी उत्पत्ति से) भर (व्याप्त कर) दिया है ।

विवेचन— ज्ञानावरणीय आदि अनेक प्रकार के कर्म (सचित) करके अनेक (हीन-मध्यम-उत्तम) गोत्रो (नामो) वाली क्षत्रिय आदि जातियो (अथवा जन्मो) मे, एक-एक योनि मे पृथक्-पृथक् रूप से (अर्थात् कभी किसी योनि मे, कभी किसी में) उत्पन्न होकर संसारी जीव सारे विश्व को भर देते है, अर्थात्— वे ससार मे सर्वत्र उत्पन्न होते है । बाल के अग्रभाग जितना भी कोई प्रदेश ऐसा नही है, जहाँ जीव ने जन्म-मरण न किया हो ।

आशय— मनुष्यजन्म को पाकर भी स्वकृत विचित्र कर्मो के प्रभाव से मनुष्य पृथक्-पृथक् जातियो को प्राप्त करता है । यही विविध गतियो मे गमन का कारण है, जो कि मनुष्यत्व की दुर्लभता को सूचित करता है, अथवा नाना प्रकार के कुलकोटिरूप गोत्रो वाली देवादि मे उत्पत्तिरूप जातियो को प्राप्त करने से भी मनुष्यत्व की दुर्लभता सूचित होती है ।

मूल— एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया ।

एगया आसुरं कायं, अहाकम्मेहिं गच्छई ॥३ ॥

संस्कृत-छाया— एकदा देवलोकेषु, नरकेष्वप्येकदा ।

एकदाऽऽसुरं कायं, यथा कर्मभिर्गच्छति ॥३ ॥

पद्यानुवाद— कभी स्वर्ग के देवो मे और कभी नरक मे जाते हैं ।

ये प्राणी स्वकृतकर्मो से, आसुरभव को भी पाते है ॥३ ॥

१. संभया— लुधियाना से प्रकाशित

अन्वायार्थ— अहाकम्मेहिं— स्वकृत कर्मो के अनुसार, (जीव), **एगया—** कभी, **देवलोएसु—** देवलोको मे, **एगया—** कभी, **नरएसु वि—** नरको मे भी, (तथा) **एगया—** कभी, **आसुरं कायं—** असुरसम्बन्धी निकाय मे, **गच्छइ—** जाता (जन्म लेता) है ।

विवेचन— स्वयंकृत सरागसयम, महारम्भ, आसुरभावना आदि क्रमश· देव, नारक एवं आसुरगति हेतुक क्रियाविशेषो के अनुसार, अथवा उस-उस गति एव योनि के अनुरूप कर्मो-कार्यो (चेष्टाओ) के कारण कभी शुभकर्मानुभव (फलभोग) के समय देवलोको- देवो के उत्पत्तिस्थानो मे उत्पन्न होता है, कभी अशुभकर्मानुभव (फलभोग) के समय रत्नप्रभादि नरको- नारको के आवासो- मे उत्पन्न होता है और कभी आसुरी-भावना से अन्त करण भावित हो, तब, अर्थात्— बालतप आदि के कारण जीव असुरसम्बन्धी निकाय मे जाता है ।

'आसुर' शब्द का पृथक् प्रयोग— यद्यपि भवनपति आदि असुर देव है, इस कारण उनका लोक भी देवलोक हो सकता है, तथापि यहाँ 'देवलोक' शब्द सौधर्म आदि मे रूढ़ होने से ऊपर के देवो के उत्पत्तिस्थान के लिए प्रयुक्त है, जबकि 'आसुर' शब्द नीचे के (भवनपति आदि) देवो के उत्पत्ति-स्थान के लिए प्रयुक्त है ।

मूल— एगया खत्तिओ होइ, तओ चंडाल-वोक्कसो[1] ।
तओ कीड पयंगो य, तओ कुंथु-पिवीलिया ॥४ ॥

संस्कृत-छाया— एकदा क्षत्रियो भवति ततश्चण्डालो बोक्कस· ।
तत कीट· पतगश्च, ततः कुथुः पिपीलिका ॥४ ॥

पद्यानुवाद— एक समय क्षत्रिय होता, वोक्कस चाण्डाल भी होता है ।
वह कीट, पतगा और कुन्थु, चीटी के भव मे आता है ॥४ ॥

अन्वयार्थ— एगया— कभी (यह जीव), **खत्तिओ—** क्षत्रिय (राजा-शासक), **होइ—** होता है, **तओ—** उसके पश्चात् (कभी), **चण्डाल-वोक्कसो —** चाण्डाल तथा वोक्कस(वर्णसकर होता है) **तओ—** उसके बाद फिर, **कीडपयंगो—** कीट और पतगा भी (होता है) **य—** और, **तओ—** तदनन्तर (कभी वह), **कुंथु-पिवीलिया—** कुन्थु और (कभी) पिपीलिका (चीटी) होता है ।

१ वुक्कसो— लुधियाना से प्रकाशित

विवेचन— **एक बार—** यानी मनुष्यजन्मानुरूप कर्मप्रकृति के उदय के समय जीव क्षत्रिय (क्षत अर्थात् पीडित जीवो का त्राता) होता है, तदनन्तर वही जीव अशुभकर्मो के उदय से चाण्डाल (मातग अथवा शूद्र) होता है, तथा वहाँ कदाचित् वोक्कस (वर्णसकर-अर्थात्-निषाद) होता है । कभी तिर्यञ्चगति के अनुरूप कर्म के उदय से वही जीव कीडा (त्रीन्द्रिय) या पतंगा (चतुरिन्द्रिय) होता है और पुनः वही जीव कभी कुन्थुआ या चीटी आदि (त्रीन्द्रिय) होता है ।

मनुष्य जन्म प्राप्त होने पर भी मनुष्यता दुर्लभ : क्यों और कैसे ?— इस गाथा मे बताया गया है कि मनुष्य जन्म प्राप्त होने पर भी वह मानव कभी उच्च (क्षत्रिय आदि) अत्यन्त भोगरत जातियो मे, कभी नीच (चाण्डाल आदि) असंस्कारी जातियो मे और कभी कुसस्कारी वर्णसकर जातियो मे उत्पन्न होता है । इन कारणो से वह मनुष्य मनुष्यता प्राप्त नही कर पाता और मनुष्यता प्राप्त न होने से वह वहाँ से मरकर उत्थान के बदले कीट, पतंग, कुन्थु, चीटी आदि तिर्यञ्चगति की योनियो मे उत्पन्न होकर उत्तरोत्तर पतन की ओर जाता है । मनुष्यता उसके लिए दूरातिदूर होती जाती है ।

मूल— एवमावट्टजोणीसु, पाणिणो कम्म-किव्विसा ।
न निविज्जंति संसारे, सव्वट्ठेसु व खत्तिया ॥५ ॥

संस्कृत-छाया— एवमावर्तयोनिषु, प्राणिनः कर्मकिल्विषाः ।
न निर्विद्यन्ते ससारे, सर्वार्थेष्विव क्षत्रियाः ॥५ ॥

पद्यानुवाद— पापकर्म से दबे जीव, आवर्त्त योनियो मे करते ।
सब कामभोग पा क्षत्रियसम, भव से निर्वेद नही धरते ॥५ ॥

अन्वयार्थ—व— जिस प्रकार, **खत्तिया—** क्षत्रिय (राजा आदि भोगासक्त लोग) **सव्वट्ठेसु—** समस्त इन्द्रिय-विषयो (काम-भोगो) का उपभोग करने पर भी, **न निव्विज्जंति—** निर्वेद-वैराग्य को प्राप्त नही होते, **एवं—** इसी प्रकार, **कम्मकिव्विसा—** कर्मो से मलिन (अथवा अधम), **पाणिणो—** प्राणी, **आवट्टजोणीसु—** आवर्त (पुनः-पुनः परिभ्रमण) रूप योनियो (योनिचक्र) मे परिभ्रमण करते हुए भी, **संसारे—** संसार (संसारदशा) से निर्वेद नही पाते ।

विवेचन— कर्मो से अधम बने हुए अथवा क्लिष्ट-निकृष्ट अशुभानुबन्धी कर्मो वाले प्राणी आवर्त्तरूप विविध योनियो मे परिभ्रमण करने पर भी उसी प्रकार कदापि निर्वेद— (इन कर्मो से कब छुटकारा होगा, इस प्रकार की विरक्ति) को प्राप्त नही होते, जिस प्रकार राजा आदि क्षत्रिय सभी प्रकार के मनोज्ञ ऐश्वर्य एवं शब्दादि विषय-सुखभोग के साधनो का उपभोग करते हुए भी उनसे निर्वेद को प्राप्त (विरक्त) नही होते ।

आशय— जैसे मनोज्ञ शब्दादि विषयो का उपभोग करते हुए भी क्षत्रिय राजादि की तृप्ति नही होती, बल्कि उनकी तृष्णा बढ़ती जाती है, वैसे ही क्लिष्ट कर्मो के कारण अधम बने हुए भवाभिनन्दी संसारी जीवो को भी बार-बार उन-उन योनियो मे उत्पन्न होने पर भी जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने की इच्छा नही होती ।

मूल— कम्मसंगेहिं सम्मूढा, दुक्खिया बहुवेयणा ।
अमाणुसासु जोणीसु विणिहम्मंति पाणिणो ॥६ ॥

संस्कृत-छाया— कर्मसगैः समूढा., दु.खिता बहुवेदना ।
अमानुषीषु योनिषु विनिहन्यन्ते प्राणिन· ॥६ ॥

पद्यानुवाद— जो कर्मसग से मूढ जीव, दु.खित अतिपीडा पाते है ।
धर्महीन तीनो गतियो मे, फिर-फिर गोता खाते है ॥६ ॥

अन्वयार्थ—कम्मसंगेहिं— कर्मो के सग-सम्बन्ध से, **सम्मूढा—** अत्यन्त मूढ (अतएव), **दुक्खिया—** दु खित (और), **बहुवेयणा—** अतिवेदना (शरीर व्यथा) वाले, **पाणिणो—** प्राणी, **अमाणुसासु जोणीसु—** मनुष्येतर योनियो मे, (जन्म लेकर) **विणिहम्मंति—** विशेषरूप से पुन.पुनः विनिघात (त्रास या पतन) को प्राप्त होते है ।

विवेचन— जो प्राणी ज्ञानावरणीय आदि कर्मो के संग (अथवा उन-उन क्रिया विशेषरूप कर्मो तथा शब्दादि-विषयो मे आसक्ति) के कारण अतिमूढ, दु खित और घोर वेदनाग्रस्त है, वे नरक, तिर्यञ्च एव किल्विषी देव आदि दुर्गति-सम्बन्धी मनुष्येतर योनियो मे जन्म लेकर विशेषरूप से आत्मविघात (या आत्मपतन) पाते है ।

आशय— कर्मो के बन्ध से सम्मूढ बने हुए जीव दु.ख हेतुक नरकादि गतियो मे बार-बार जन्म लेते रहने के कारण इनसे छुटकारा नही पाते । फलत· मनुष्यत्व को प्राप्त करना उनके लिए अत्यन्त कठिन है ।

मूल— कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं ॥७ ॥

संस्कृत-छाया— कर्मणां तु प्रहान्या, आनुपूर्व्या कदाचन ।
जीवाः शुद्धिमनुप्राप्ता., आददते मनुष्यताम् ॥७ ॥

पद्यानुवाद— प्रतिबन्धक कर्मो के क्षय से, अनुक्रम से ऊपर आता है ।
उससे विशुद्धि पाकर प्राणी (फिर) मनुष्यत्व प्राप्त कर पाता है ॥॥७ ॥

अन्वयार्थ— कयाइ उ— किन्तु कदाचित्, **आणपुव्वी—** कालक्रम के अनुसार, **कम्माणं पहाणाए—** (मनुष्यगति प्रतिबन्धक) कर्मो के क्षय (नष्ट) हो जाने से, **जीवा—** जीव, **सोहिं—**

शुद्धि (आत्मविशुद्धि) को, **अणुप्पत्ता--** प्राप्त करते है। (फिर उसके फलस्वरूप वे) **मणुस्सयं--** मनुष्यभव को, **आययंति--** प्राप्त (या स्वीकार) करते है।

विवेचन-- अति दीर्घकाल के पश्चात् भाग्ययोग से कदाचित् कालक्रमानुसार मनुष्यगति को रोकने वाले तथा नरकगति प्राप्त करने वाले अनन्तानुबन्धी कषायादि क्लिष्ट कर्मो के नष्ट हो जाने से जीव क्लिष्टकर्मनाशरूप शुद्धि को प्राप्त करते है। फलतः कषाय की मन्दता, प्रकृतिभद्रता, विनीतता, सदयता और अमत्सरता आदि गुणो के कारण विशेष शुद्धि हो जाने से मनुष्यायु का बन्ध होता है और जीव मनुष्यत्व व मनुष्य-जन्म प्राप्त करते है।

आशय यह है कि इतनी सब घाटियॉ पार होने के बाद ही क्लिष्ट कर्मनाशरूप विशेष शुद्धि के कारण व्यक्ति मनुष्यभव पा सकता है, अन्यथा नही।

मनुष्यभव की दुर्लभता पर दस दृष्टान्त-- निर्युक्तिकार के अनुसार- (१)चोल्लक (भोजन की परिपाटी), (२) पाशक (चाणक्य के दिव्य पाशे) (३) धान्य (अन्नराशि), (४) द्यूत, (५) रत्न, (६) स्वप्न, (७) चक्र (राधावेध), (८) चर्म (कछुए द्वारा अवलोकित चन्द्र), (९) युग (कील) और (१०) परमाणु स्तम्भ।[१] जैसे-- इन दस दृष्टान्तो मे कथित पदार्थ पुनः प्राप्त होने अत्यन्त दुर्लभ है, वैसे ही अतिकठिनता से प्राप्त मनुष्यभव को जिसने प्रमादवश खो दिया, उसे पुन मनुष्यभव मिलना बहुत ही दुर्लभ है।

धर्मश्रवण की दुर्लभता

मूल-- माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं ॥८॥

संस्कृत-छाया-- मानुष्यं विग्रहं लब्ध्वा, श्रुतिर्धर्मस्य दुर्लभा।
यं श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते, तप क्षान्तिमहिस्रताम् ॥८॥

पद्यानुवाद-- मानवशरीर को पाकर भी, सद्धर्मश्रवण दुर्लभ जन मे।
जिसको सुनकर ग्रहण करे जन, तप, क्षमा अहिसा जीवन में ॥८॥

अन्वयार्थ-- माणुस्सं-- मनुष्यभव-सम्बन्धी, **विग्गहं--** शरीर, **लद्धुं--** पा लेने परभी, **धम्मस्स--** धर्म का, **सुई--** श्रवण करना, **दुल्लहा--** दुर्लभ है, **जं--** जिस धर्म को, **सोच्चा--** सुनकर (जीव), **तवं--** तप, **खंति--** क्षमा (और) **अहिंसयं--** अहिंसकता को, **पडिवज्जंति--** स्वीकार करते है।

---

१. दस दृष्टान्त परिशिष्ट में देखें।

विवेचन— मनुष्यगति सम्बन्धी औदारिक शरीर को पा लेने पर भी विशुद्ध (जिन-प्ररूपित) धर्म का श्रवण करना अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसे धर्म का श्रवण तो सुलभ है, जिसके उन्नायक खाने-पीने और ऐश-आराम करने की तथा इन्द्रिय-विषयोपभोग की खुली छूट देते हो। इसलिए यहाँ कहा गया है कि जिसे सुनकर व्यक्ति मे बारह प्रकार के तप, क्षमा आदि दश धर्म और अहिसकता (उपलक्षण से शेष व्रतो -महाव्रतो) को ग्रहण करने की प्रेरणा जागती हो, वही विशुद्ध धर्म है।

श्रद्धा : परम दुर्लभ

मूल— आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परमदुल्लहा।
सोच्चा नेआउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई ॥९ ॥

संस्कृत-छाया— कदाचिच्छ्रवण लब्ध्वा, श्रद्धा परम दुर्लभा।
श्रुत्वा नैयायिक मार्ग, बहवः परिभ्रश्यन्ति ॥९ ॥

पद्यानुवाद— मिला भाग्य से धर्मश्रवण तो श्रद्धा दुर्लभ पाते है।
सुनकर भी सच्चा मोक्षमार्ग, पथभ्रष्ट कई हो जाते है ॥९ ॥

अन्वयार्थ— आहच्च— कदाचित्, **सवणं—** धर्मश्रवण का योग, **लद्धुं—** प्राप्त होने पर भी,(उस पर), **सद्धा—** श्रद्धा का होना, **परमदुल्लहा—** परम दुर्लभ है,(क्योकि) **नेआउयं—** नैयायिक (न्यायसगत अथवा मोक्ष की ओर ले जाने वाले), **मग्गं—** मार्ग के विषय मे, **सोच्चा—** सुनकर भी, **बहवे—** बहुत से लोग, **परिभस्सई—** उससे परिभ्रष्ट हो जाते है।

विवेचन— मनुष्यत्व को प्राप्त कर लेने के बाद सद्धर्म-श्रवण का सयोग मिल जाने पर भी धर्मविषयकरुचिरूप श्रद्धा तो अत्यन्त दुर्लभ है, क्योकि न्यायसगत सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग के विषय मे सुनकर भी बहुत से सर्वथा श्रद्धा-भ्रष्ट हो जाते है।

श्रद्धा की परमदुर्लभता के कारण— निर्युक्तिकार ने श्रद्धा की अत्यन्त दुर्लभता के ये कारण बताए है—

(१) जो मिथ्यादृष्टि जीव है, वह गुरु आदि द्वारा उपदिष्ट प्रवचन पर 'यह ऐसा ही है', अथवा 'वही सत्य और निःशंक है, जो जिन भगवन्तों द्वारा प्ररूपित है'; इस प्रकार से श्रद्धा नही करता।

(२) कदाचित् दूसरे के द्वारा उपदिष्ट या अनुपदिष्ट पर श्रद्धा करता है, तो भी वह असद्भूतभाव पर करता है।

(३) सम्यग्दृष्टि जीव सुगुरु के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन पर श्रद्धा तो करता है, किन्तु कभी-कभी कई सम्यग्दृष्टि अनाभोग- (अज्ञान) वश, या गुरुजनों के प्रति नियोग (विश्वास) वश अतत्त्व को भी तत्त्व मान बैठते हैं।

(४) कई सम्यग्दृष्टि इतने सरल और भोले होते हैं कि स्वय आगमानुसारी बुद्धि वाले होने पर भी

गुरु के मिथ्या उपदेश से अन्यथा भी समझ बैठते है। जैसे- जमालि आदि निह्नवों के शिष्य स्वयं आगमानुसारी बुद्धि वाले होते हुए भी अपने-अपने गुरुओं के प्रति भक्तिवश विपरीत अर्थ को भी सत्य मान बैठे थे।

श्रद्धापरिभ्रष्ट नौ मुख्य निह्नव— जिनशासन मे कई विपरीत मति मिथ्यादृष्टि निह्नव हो गये है। उनमे से मुख्य ९ नाम इस प्रकार है— (१) जमालि, (२) तिष्यगुप्त, (३) आषाढाचार्य, (४) अश्वमित्र, (५) गंगाचार्य, (६) षडूलूक, (७) स्थविर, (८) गोष्ठामहिल और (९) बोटिक शिवभूति। इनके द्वारा क्रमशः (१) क्रियमाण-अकृतवाद, (२) जीवप्रदेश-अजीववाद, (३) अव्यक्तवाद, (४) समुच्छेदवाद, (५) द्वैक्रियवाद, (६) षट्पदार्थप्ररूपणवाद, (७) त्रैराशिकवाद, (८) स्थिरीकरणवाद और (९) अबद्धपोतवाद प्रवर्तित हुआ।

संयम में पराक्रम : उनसे भी दुर्लभ

मूल— **सुइं च लद्धं सद्दं च, वीरियं पुण दुल्लहं।**
बहवे रोयमाणा वि, नो एणं [1] पडिवज्जए ॥१० ॥

संस्कृत-छाया— श्रुतिं च लब्ध्वा श्रद्धां च, वीर्यं पुनर्दुर्लभम्।
बहवो रोचमाना अपि, नो एतत्प्रतिपद्यन्ते ॥१० ॥

पद्यानुवाद— श्रुति एव श्रद्धा पाकर भी, दुर्लभ पौरुष सयमपथ मे।
रुचि करके संयमश्रेणी पर, चलते न कभी वे इस पथ मे ॥१० ॥

अन्वयार्थ— सुइं— धर्मश्रवण, **च—** और, **सद्धं—** श्रद्धा को, **पुणलद्धुं—** प्राप्त करके भी, **वीरियं—** सयम मे पुरुषार्थ, **दुल्लहं—** अति दुर्लभ है। **बहवे—** बहुत से लोग, **रोयमाणा वि—** सयम मे अभिरुचि रखते हुए भी, **एणं—** इसे, **नो पडिवज्जए—** सम्यक्रूप से स्वीकार नही कर पाते।

विवेचन— सबसे दुर्लभतम अंग— न केवल मनुष्यत्व को पाये हुए, अपितु धर्मश्रवण एव उस पर श्रद्धा करने वाले सात्यकि, श्रेणिक आदि की तरह बहुत से व्यक्ति चारित्रमोहनीय-कर्मोदयवश संयम-विषयक पुरुषार्थ-पराक्रम इन सबसे दुर्लभतम प्रतीत होता है।

दुर्लभ चतुरंग-प्राप्त से कर्ममुक्ति की सम्भावना

मूल— **माणुसत्तंमि आयाओ, जो धम्मं सोच्च सद्दहे।**
तवस्सी वीरियं लद्धुं, संवुडे निद्धुणे रयं ॥११ ॥

---

१ नो यणं— लुधियाना से प्रकाशित

संस्कृत-छाया— मानुष्यत्वे आयात· यो धर्म श्रुत्वा श्रद्धते ।
तपस्वी वीर्य लब्ध्वा, सवृतो निर्धुनोति रज· ॥११ ॥

पद्यानुवाद— मानवतन पा जो धर्मश्रवण, करता उसमे श्रद्धा रखता ।
वह तप में वीर्य-प्रयोग कर, सवृत हो, कर्मधूलि है धुनता ॥११ ॥

अन्वयार्थ— माणुसत्तंमि—मनुष्यभव मे, **आयाओ**— आकर (या मनुष्यत्व पाकर), **जो**— जो, **धम्मं सोच्च**—सद्धर्म का श्रवण करके, **सद्दहे**— (उसमें) श्रद्धा करता है, (वह) **तवस्सी**— तपस्वी, **वीरियं लद्धुं**— सयम मे पराक्रम (शक्ति का अवसर) पाकर (लगाकर), **संवुडे**— सवृत हो (समस्त आस्रवो का निरोध)कर, **रयं**— कर्मरज को, **निद्धुणे**— सर्वथा दूर कर देता है ।

विवेचन— मनुष्यत्व या मनुष्यजन्म को पाकर जो व्यक्ति धर्मश्रवण करता है, वह सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लेता है और उस पर श्रद्धा करता है, इससे वह संम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है और फिर संयम मे पराक्रम करता है, इससे सम्यक्चारित्र का पालन करता है तथा तपस्वी होकर निदान आदि से रहित प्रशस्त तपश्चरण करता है, इस प्रकार शास्त्रोक्त सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपरूप मोक्षमार्ग पर आरूढ होकर साधक एक ओर से समस्त आस्रवो (शुभाशुभकर्मों) का निरोध करके सवृत हो जाता है, दूसरी ओर से तपस्या, परीषह-उपसर्ग— सहन समत्व, क्षमा आदि के द्वारा कर्म-क्षय (पूर्वबद्ध कर्मो का विनाश) कर देता है । फलत· कर्मरूपी रज को सर्वथा झाड करसिद्ध-बुद्ध-मुक्त-विशुद्ध बन जाता है । इस प्रकार प्रस्तुत गाथा द्वारा चतुरग-सेवन से पारम्परिक-पारलौकिक मुक्तिफल बताया गया है ।

आत्मशुद्धि, धर्मस्थिति एवं निर्वाणप्राप्ति : परम्पर कारण

मूल— सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई ।
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्तव्व [1] पावए ॥१२ ॥

संस्कृत-छाया— शुद्धिः ऋजुभूतस्य, धर्मः शुद्धस्य तिष्ठति ।
निर्वाण परम याति, घृतसिक्त इव पावकः ॥१२ ॥

पद्यानुवाद— है शुद्धि सरल मन की होती, शुचिमन मे धर्म निवास करे ।
निर्वाण परम वह पाता है, घृतसिक्त अग्निसम ज्योति धरे ॥१२ ॥

अन्वार्थ—उज्जुयभूयस्स— जो ऋजुभूत-सरल(निष्कपट) होता है, उसकी, **सोही**— शुद्धि होती है, **सुद्धस्स**— जो शुद्ध होता है, उसमे, **धम्मो**— धर्म, **चिट्ठइ**— ठहरता (स्थिर रहता) है । (जिसमे धर्म है, वह) **घयसित्तव्व पावए**— घृत से सिक्त (सीची हुई) अग्नि की तरह, **परमं निव्वाणं**— परम निर्वाण (विशुद्ध आत्म-दीप्ति) को, **जाइ**— प्राप्त करता है ।

१. सित्तिव्व- लुधियाना से प्रकाशित ।

विवेचन— चतुरग की प्राप्ति से मुक्ति के प्रति जो सीधा अभिमुख है, अर्थात् जो निष्कपट या विकल्परहित होकर एकमात्र मुक्ति की आराधना के प्रति तन्मय हो गया है, उसी की शुद्धि (हृदय से कषायकालुष्य का नाश) होती है और जो शुद्धि प्राप्त है, उसी मे क्षमा आदि दशविध धर्म अविचलरूप से रहते है। जो अशुद्ध है, वह कषाय के उदय से धर्म से कदाचित् विचलित भी हो सकता है। धर्म मे स्थिर हो जाने पर घृतसिक्त अग्निवत् परम निर्वाण (आत्म-स्वस्थता- स्वरूप मे पूर्ण स्थिरता) को प्राप्त होता है।

परमं निव्वाणं जाइ : विभिन्न व्याख्याएँ— (१) चूर्णिकार के अनुसार निर्वाण का अर्थ— मुक्ति है, (२)वृहद्वृत्ति के अनुसार- स्वास्थ्य और जीवन्मुक्ति है। मुक्ति का अर्थ यहाँ 'जीवन्मुक्ति' (इसी जीवन मे मुक्ति) है, जिसका संकेत वाचक उमास्वाति ने 'प्रशमरति' मे किया है—

निर्जितमदमदनानां वाक्कायमनो विकाररहितानाम्।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम्॥

जिन्होंने मद और काम को जीत लिया है, जो मन-वचन-काय के विकारो से रहित है, पर-आशा से निवृत्त (पर-निरपेक्ष-नि.स्पृह) है, उन सुविहित साधको की यही मुक्ति हो जाती है।

स्वास्थ्य का अर्थ यहाँ आत्मस्वस्थता— स्वरूप-रमणता अपने आप मे अवस्थिति है। आत्मरमण की अवस्था सहजानन्द की अवस्था है, जो कि परम सुख की स्थिति है। आत्मावस्थ (स्वस्थ) श्रमण चक्रवर्ती के सुखो को भी मात कर देता है। इसी अर्थ मे यहाँ निर्वाण शब्द प्रयुक्त है।

घयसित्तव्व पावयं : व्याख्या— निवार्ण की यहाँ घृतसिक्त अग्नि से तुलना की गई है। घी से सीची हुई अग्नि बुझती नही, किन्तु प्रज्वलित-उद्दीप्त होती है। इसलिए निवार्ण का अर्थ यहाँ 'बुझना' न होकर तप के तेज से अधिकाधिक प्रज्वलित या उद्दीप्त होना है। मुक्ति, स्वास्थ्य या जीवन्मुक्ति, ये सब आत्मा की तेजोमयी अवस्थाएँ है। अतः निवार्ण का इनमे से कोई भी अर्थ यहाँ किया जा सकता है।

कर्म-हेतुओं को दूर करने से ऊर्ध्वदिशा प्राप्ति

मूल— विगिंच कम्मुणो हेउं, जसं संचिणु खंतिए।
पाढवं सरीरं हिच्चा, उड्ढं पक्कमई दिसं॥१३॥

संस्कृत-छाया— वेविग्धि कर्मणो हेतु, यशः सचिनु क्षान्त्या।
पार्थिवं शरीर हित्वा, ऊर्ध्वा प्रक्रामति दिशम्॥१३।

पद्यानुवाद— कर दूर बन्ध के कारण को, क्षान्त्या सयम का सचय कर ।
वे ऊर्ध्वदिशा को जाते है, अपना यह पार्थिव तन तज कर ॥१३ ॥

अन्वयार्थ— कम्मुणो— कर्म के, **हेउं—** हेतु को, **विगिंच—** दूर करके, **खंतिए—** क्षमा से, **जसं संचिणु—** यश-सयम का सचय करके(वह साधक), **पाढवं सरीरं—** पार्थिव शरीर को, **हिच्चा—** छोडकर, **उड्ढं दिसं—** ऊर्ध्व दिशा (स्वर्ग अथवा मोक्ष) की ओर, **पक्कमई—** जाता है ।

विवेचन— मनुष्यत्व आदि के प्रतिबन्धक कर्मबन्ध के मिथ्यात्व, अविरति आदि उपादान कारणो को दूर करके क्षमा से, उपलक्षण से मार्दव, आर्जव आदि शेष ९ धर्मो से, यश के कारणरूप सयम या विनय को सचित करो । इस प्रकार करने से साधक पार्थिव शरीर छोडकर ऊर्ध्वदिशा की ओर प्रगति करता है ।

'पाढवं सरीरं' : तात्पर्य— (१) पार्थिव की तरह पार्थिक शरीर । आशय यह है कि जैसे पृथ्वी सर्वसहा होती है । पृथ्वी से या पृथ्वी मे होने वाला पार्थिव कहलाता है, यह भी (पार्थिव शरीर भी) पृथ्वी की तरह शीतोष्णादि परीषहसहिष्णु तथा सुख-दु:ख मे सम होने से पार्थिव है । अथवा पृथ्वी के विकार को पार्थिव कहते है, वह यहाँ 'शैल' है । अतः शैलेशी-अवस्था प्राप्ति की अपेक्षा से शैलोपम अति निश्चल शरीर भी पार्थिव कहलाता है । ऐसे पार्थिव शरीर को छोडकर साधक तद्भवमुक्ति की अपेक्षा ऊर्ध्वदिशा- मुक्ति की ओर जाता है ।

जिन्हे तद्भवमुक्ति नही होती, उनकी गति के लिए आगे की गाथाओ मे कहते है—

विविध शीलाराधना से देवलोकों की प्राप्ति

मूल— विसालिसेहिं सीलेहिं, जक्खा उत्तर-उत्तरा ।
महासुक्का व दिप्पंता, मन्नंता अपुणच्चवं ॥१४ ॥

संस्कृत-छाया— विसदृशै शीलै:, यक्षा: उत्तरोत्तरा ।
महाशुक्ला इव दीप्यमाना:, मन्यमाना अपुनश्च्यवम् ॥१४ ॥

पद्यानुवाद— विविध शीलव्रत का पालन कर, देव परम उत्तम बनते ।
महाशुक्ल-सम दीप्तिमान् हो, नही च्यवन को मन धरते ॥१४ ॥

अन्वयार्थ—विसालिसेहिं सीलेहिं— विसदृश (अपने-अपने चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशमानुसार विविध प्रकार के) शीलो (व्रतरूप आचारो) के पालन से, **जक्खा—** यक्ष-देव होते है । **उत्तर-उत्तरा—** वे(समृद्धि से) उत्तरोत्तर, **महासुक्का व—** महाशुक्ल-सूर्य-चन्द्र की भॉति, **दिप्पंता—** देदीप्यमान होते है । (और तब) वे, **अपुणच्चवं—** 'स्वर्ग से पुन च्यवन नही होता' **मन्नंता—** ऐसा मानने लगते है ।

विवेचन— प्रस्तुत गाथा मे गृहस्थ और साधु दोनो के व्रत-शील-रूप आचारो से देव बनने की बात कही है, इसीलिए विसदृश विशेषण प्रयुक्त किया गया है, क्योकि गृहस्थो और साधुओ के, उनमे भी विविध कोटि के गृहस्थो और विभिन्न कोटि के साधुओ के व्रत-शील के पालन मे अन्तर होता है ।

जक्खा : प्राचीन मूल्यों के सन्दर्भ में— 'यक्ष' का ऋग्वेद एवं अथर्ववेद मे तथा जैनागमो मे अनेक स्थलो पर प्रयोग हुआ है । यक्ष के दो अर्थ प्राचीनकाल मे माने जाते थे— जिनकी 'इज्या' अर्थात्— पूजा कीजाती है, वे, तथा जिनकी तथाविध ऋद्धियाँ होने पर भी क्षय हो जाती है वे । वस्तुः यक्ष शब्द प्राचीनकाल मे वैमानिक देव के लिए प्रयुक्त किया जाता था । परन्तु उत्तरवर्ती साहित्य मे इसका अपकर्ष होने से निम्नकोटि के देवो के लिये इसका प्रयोग होने लगा । परन्तु यहाँ प्राचीन मूल्यो के सन्दर्भ मे यक्ष का अर्थ- वैमानिक देव ही लेना चाहिए, तभी आगे की पक्ति के साथ इसकी सगति बैठेगी ।

महासुक्का व दिप्पंता : आशय— चन्द्रमा, सूर्य आदि अतिशय उज्जवल प्रकाश वाले होने से उन्हे 'महाशुक्ल' कहा गया है, वैसे 'महाशुक्र' (तारा) अर्थ भी हो सकता है ।

उत्तर-उत्तरा : दो अर्थ— (१) उत्तरोत्तर विमानवासी देव, (२) जिनमे ऊपर के स्थान मे रहने वाले उत्तर-प्रधान है, वे ।

देवों की दो सम्पदाएँ— 'महाशुक्ल की तेरह देदीप्यमान' कहकर उन देवो की शरीर सम्पदा का तथा 'स्वर्ग से कभी च्युत न होगे,' ऐसी उनकी मान्यता (धारणा) बताकर सुख-सम्पदा का संकेत किया गया है ।

ऐसी मान्यता के दो कारण— एक कारण तो शब्दादि विषयो की प्राप्ति से उत्पन्न रति मे अवगाढता और दूसरा कारण है- अतिदीर्घकालिक स्थिति ।

मूल— अप्पिया देवकामाणं, कामरूव-विउव्विणो ।
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठंति, पुव्वा वाससया बहू ॥१५ ॥

संस्कृत-छाया— अर्पिता देवकामान्, कामरूप-वैक्रेयिणः ।
ऊर्ध्व कल्पेषु तिष्ठन्ति, पूर्वाणि वर्षशतानि बहूनि ॥१५ ॥

पद्यानुवाद— दैवी भोगो मे अर्पित हो, इच्छारूपी वे रहते है ।
पूर्ववर्षशत दीर्घकाल तक, ऊर्ध्वकल्पो मे बसते हैं ॥१५ ॥

अन्वयार्थ—देवकामाणं— (पूर्वभव-कृत सुकृत के कारण) दिव्य कामभोगो के प्रति (अपने आपको), **अप्पिया—** अर्पित किये हुए वे, **कामरूव विउव्विणो—** अपनी इच्छानुसार

रूप बनाने (वैक्रिय करने) मे समर्थ होते है, तथा **बहूनि**— अनेक (असख्यात), **पुव्वा वाससया**— सैकडो पूर्व वर्ष तक, **उड्ढं कप्पेसु**— ऊर्ध्व (उच्च) कल्पो— (अर्थात्-सौधर्म आदि बारह देवलोक, नौ ग्रैवेयक और पच अनुत्तर विमान)मे, **चिट्ठंति**— रहते हैं ।

विवेचन— पूर्व जन्म मे किये हुए शुभकर्मो (पुण्य कृत्यो) के फलस्वरूप वे देव दिव्य काम-भोगो के लिए अर्पित से (प्राप्त), एवं इच्छानुकूल रूप-सम्पादन की शक्ति से युक्त होकर ऊर्ध्वकल्पो (देवलोको) मे सैकडो पूर्व वर्षो तक- अपनी-अपनी आयुष्यस्थिति पूर्ण होने तक-रहते है ।

पुव्वा वाससया बहू : व्याख्या— 'पूर्व' जैनागमो का काल के लिए पारिभाषिक शब्द है । चौरासी लाख को चौरासी लाख से गुणा करने पर जो सख्या (सत्तर लाख छप्पन हजार करोड वर्ष) आती है, उसे 'पूर्व' कहा जाता है । बहु का अर्थ है— असख्यात । इस दृष्टि से इस पक्ति का भावार्थ असख्यात पूर्व या असंख्यात सौ वर्षो तक होता है । अर्थात्— पल्योपम के असखख्यातवे भाग तक । देवो की जघन्य स्थिति इतनी तो होती ही है । वह भी असख्यात होती है ।

मनुष्यभव में दस अङ्गों सहित उत्पत्ति

मूल— **तत्थ ठिच्चा जहाठाणं, जक्खा आउक्खए चुया ।**
उवेंति माणुसं जोणिं, से दसंगेऽभिजायइ ॥१६ ॥
खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दासपोरुसं ।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जए ॥१७ ॥
मित्तवं नाइवं होइ, उच्चागोए य वण्णवं ।
अप्पायंके महापन्ने, अभिजाए जसो-बले ॥१८ ॥

संस्कृत-छाया— तत्र स्थित्वा यथास्थान, यक्षा आयुःक्षये च्युताः ।
उपयान्ति मानुषी योनिम्, स दशागो ऽभिजायते ॥१६ ॥
क्षेत्र वास्तु हिरण्यञ्च, पशवो दासपौरुषम् ।
चत्वार कामस्कन्धा, तत्र स उत्पद्यते ॥१७ ॥
मित्रवान्ज्ञातिवान्भवति, उच्चैर्गोत्रो वर्णवान् ।
अल्पातकः महाप्राज्ञः, अभिजातो यशस्वी बली ॥१८ ॥

पद्यानुवाद— उन कल्पो मे यथायोग्य रह, देव समय पर च्युत होते ।
मनुज-योनि मे आ करके, दस अग पुण्य से वे पाते ॥१६ ॥
क्षेत्र वास्तु हिरण्य स्वर्ण, पशु दास अंगरक्षक होते ।

ये चार जहाँ हो काम-स्कन्ध, उस कुल मे वे पैदा होते ॥१७ ॥

अच्छे मित्र, ज्ञाति उत्तम हो, गोत्र वर्ण भी शुभ पाते ।

रोगरहित महाप्राज्ञ यशस्वी, ख्यात कुलीन सबल होते ॥१८ ॥

अन्वयार्थ— तत्थ— उन देवलोको मे (वे देव), **जहाठाणं—** अपनी शीलाराधना के अनुरूप स्थान मे अथवा अपनी स्थिति के अनुसार, **ठिच्चा—** रहकर, **आउक्खए—** आयुष्य का क्षय होने पर, **चुआ—** च्युत होकर, **माणुसं जोणिं—** मनुष्य योनि को, **उवेंति—** प्राप्त होते हैं । (और वहाँ), **से—** वे, **दसंगे—** दस अंगो वाली भोग्यसामग्री से युक्त होकर, **अभिजायइ—** उत्पन्न होता है ॥१६ ॥

खेत्तं— क्षेत्र (खेतो की भूमि), **वत्थुं—** वास्तु(गृह) **च—** और, **हिरण्णं—** सोना, **पसवो दासपोरुसं—** पशु (गाय-भैस आदि पशुगण) दास और पौरुषेय- (पैदल चलने वाल सैन्य समूह), जहाँ, **चत्तारि कामखंधाणि—** ये चार कामस्कन्ध होते है, **तत्थ—** वहाँ (उन कुलो मे), **से—** वह, **उववज्जइ—** उन्पन्न होता है ॥१७ ॥

(वह) **मित्तवं—** सन्मित्रो से युक्त, **नाइवं—** ज्ञातिवान्, **उच्चागोए—** उच्चगोत्रीय, **वण्णवं—** सुन्दर वर्ण-रूप वाला, **अप्पायंके—** आतकरहित (नीरोग), **महापन्ने—** महाप्राज्ञ (विद्वान्), **अभिजाए—** अभिजात (कुलीन अथवा विनीत), **जसो—** यशस्वी, (और) **बले—** बलवान, **होइ—** होता है ॥१८ ॥

भावार्थ— उन देवलोको मे यथायोग्य स्थान मे (अथवा जितनी जिसकी स्थिति है, तदनुसार) रहकर वे देव अपना आयुष्य क्षय (पूर्ण) होने पर च्युत होते है और मनुष्य योनि पाते हैं । वहाँ वे दस अङ्ग (भोग-साधनो) से युक्त होते है ॥१६ ॥

(वे दस अङ्ग इस प्रकार है —) (१) क्षेत्र (खेतो की भूमि), और वास्तु(गृह); (२) हिरण्य (स्वर्ण), (३) पशुगण, और (४) दास और पौरुषेय (पदाति-समूह) अथवा जहाँ ये चार कामस्कन्ध होते हैं, वहाँ (उन कुलो में) वह उत्पन्न होता है ॥१७ ॥

वह सन्मित्रो से युक्त, ज्ञातिमान्, उच्चगोत्रीय, सुन्दर वर्ण (रूपवान्) रोगरहित, महाप्राज्ञ, अभिजात (कुलीन या विनीत), यशस्वी एवं बलवान् होता है ॥१८ ॥

विवेचन— दस अङ्ग— (१) चार कामस्कन्ध, (२) मित्रवान्, (३) ज्ञातिमान्, (४) [illegible], (५) वर्णवान्, (६) नीरोग, (७) महाप्राज्ञ, (८) अभिजात, (९) यशस्वी और (१०) [illegible] (सामर्थ्यवान्) ।

चत्तारि कामखंधाणि : व्याख्या— कामस्कन्ध का अर्थ है— काम अर्थात् मनोज्ञ शब्दादि; उनके हेतुभूत स्कन्ध-पुद्गलसमूह । वे चार इस प्रकार हैं— (१) क्षेत्र और वास्तु, (२)

स्वर्ण, (३) पशु और (४) दास-पौरुषेय। क्षेत्र के वृहद्वृत्ति मे दो अर्थ किये गये है— (१) जिसमे निवास किया जाए, जैसे ग्राम, उपवन आदि और (२) जहाँ अन्न उत्पन्न होता है, वह खेत। क्षेत्र (खेत) तीन प्रकार के बताये है— सेतु जिसमे सिचाई से फसल होती है, केतु— जिसमे वर्षा से फसल होती है, और सेतुकेतु— जिसमे ईख आदि सिंचाई और वर्षा दोनो से उत्पन्न होते है।

वास्तु का अर्थ गृह है। वह भी तीन प्रकार का बताया है— सेतु (भूमिगृह), केतु (उच्च प्रासाद) और सेतुकेतु— (भूमिगृह से ऊपर बना हुआ प्रासाद) प्रकारान्तर से वास्तु के तीन प्रकार-खात, उच्छ्रित और खातोच्छ्रित। इनका भी क्रमशः उपर्युक्त अर्थ है।

दास : एक चिन्तन— प्राचीन काल मे दासी-दास का क्रय-विक्रय होता था। दास के जीवन पर मालिक (स्वामी) का पूर्ण अधिकार होता था। वह स्वामी की सम्पत्ति (परिग्रह) समझा जाता था। इसलिए दास का यथार्थ अर्थ है— खरीदा हुआ या मालिक की सम्पत्ति समझा जाने वाला गुलाम। इसलिए दास और नौकर-चाकर (कर्मकर) मे अन्तर है। नौकर-चाकर मालिक की सम्पत्ति नही होते, वे अनिश्चितकाल के लिए वेतन पर रखे जाते है। निशीथचूर्णि और मनुस्मृति मे दत्रिम (किसी के द्वारा प्रदत्त) दास के सिवाय ९ प्रकार के दास बताए गए है।

दास-पोरुसं : अर्थ— टीकाकारो ने दास का अर्थ— पोष्य या प्रेष्य-वर्ग और पौरुषेय का अर्थ पदाति-समूह किया है।

विशुद्ध धर्माराधन से केवलबोधि-लाभ

मूल— **भोच्चा माणुस्सए भोए, अप्पडिरूवे अहाउयं।**
पुव्वं [1] **विसुद्ध सद्धम्मे, केवलं बोहिं-बुज्झिया ॥१९॥**

संस्कृत-छाया— भुक्तवा मानुष्कान्भोगान्, अप्रतिरूपान्यथायुषम्।
पूर्व विशुद्ध सद्धर्मा, केवला बोधिं बुद्ध्वा ॥१९॥

पद्यानुवाद— मानव के अनुपम भोगो का, जीवन भर अनुभव करते।
पूर्व विशुद्ध धर्माराधन से, निर्मल बोधि प्राप्त करते ॥१९॥

१. पुव्विं- लुधियाना से प्रकाशित।

अन्वयार्थ— (वह मनुष्य वहाँ), **अहाउयं**— आयुष्य पर्यन्त, **अप्पडिरूवे**— अप्रतिरूप (अनुपम), **माणुस्सए भोए**— मनुष्य सम्बन्धी भोगों को, **भोच्चा**— भोग (अनुभव) कर (भी), **पुव्वं**— पूर्वजन्म मे, **विसुद्ध सद्धम्मे**— विशुद्ध— (नियाणा, अतिचार आदि से रहित) सद्धर्म के आराधक होने के कारण, **केवलं**— निर्मल (निष्कलक), **बोहि**— बोधि का, **बुज्झिया**— अनुभव करते है ।

विवेचन—माणुस्सए भोए—मनुष्य सम्बन्धी भोग— मनोज्ञ शब्दादि । अप्रतिरूप— अनन्यतुल्य ।

केवलं बोहिं बुज्झिया : अर्थ— केवल का अर्थ यहाँ निर्मल-निष्कलंक है । बोधि का अर्थ सम्यक्त्व, सम्यग्दृष्टि या सम्यक्श्रद्धा है । उस निष्कलक बोधि को वह जीव प्राप्त कर लेता है ।

चतुरंग दुर्लभता जानकर तप-संयमाराधना से सर्वकर्म-मुक्ति

मूल— चउरंगं दुल्लहं नच्चा, संजमं पडिवज्जिया ।
तवसा धुयकम्मंसे, सिद्धे हवइ सासए ॥२० ॥

॥त्तिबेमि ॥

संस्कृत-छाया— चतुरगं दुर्लभं ज्ञात्वा, सयम प्रतिपद्य ।
तपसा धूतकर्मांशः, सिद्धो भवति शाश्वत. ॥२० ॥

पद्यानुवाद— दुर्लभ चारो अङ्ग जानकर, संयम-गुण मे चित्त धरे ।
तप से कर्म-मैल धो करके, शाश्वत शिवपद प्राप्त करे ॥२० ॥

अन्वयार्थ—चउरंगं— पूर्वोक्त चार अङ्गो को, **दुल्लहं**— दुर्लभ, **नच्चा**— जानकर, **संजमं**— सर्वसावद्यविरतिरूप चारित्र-(संयम) को, **पडिवज्जिया**—अंगीकार करके, **तवसा**— बारह प्रकार के तपश्चरण द्वारा, **धुयकम्मंसे**— अवशिष्ट कर्मांश-कर्मो को क्षय करके, **सासए**— शाश्वत (निरन्तर अवस्थिति वाला) **सिद्धे**— सिद्ध-मुक्त, **हवइ**— हो जाता है ।

त्तिबेमि— ऐसा मै कहता हूँ ।

विवेचन— सासए सिद्धे : आशय— यहाँ शाश्वत सिद्ध हो जाता है, ऐसा कहने के पीछे आशय यह है कि आजीवक, बौद्धादि कुछ दार्शनिको के मत मे जीव सिद्ध होने के बाद भी पुनः संसार मे आ जाता है, इसका निराकरण करने हेतु वताया गया है कि पुनः जन्म के कारणभूत कर्मबीज का सर्वथा उच्छेद हो जाने से सिद्ध सदाकाल स्थायी होते है ।

"चाउरंगिज्जं नामं तइयं अज्झयणं समत्तं"

॥चतुरंगीय : तृतीय अध्ययन समाप्त ॥

तृतीय अध्ययन का परिशिष्ट (कथा भाग)

(१) चोल्लक

(चक्रवर्ती का भोजन दुर्लभ)

(माणुसत्तं सुई सद्धा- अ० ३, गा० १)

'विविध योनियो मे भटकते हुए प्राणी को मनुष्य भव प्राप्त होना अति दुर्लभ है ।"— इस विषय पर टीकाकार ने मनुष्य-जन्म की दुर्लभता बताने के लिए दस हेतु-दृष्टान्त दिये है । इनमे प्रथम दृष्टान्त है— दरिद्र ब्राह्मण को चक्रवर्ती के भोजन का ।

षट्खड साधना के पश्चात् जब ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती अपने नगर पहुँचा और राजा दीर्घ के साथ युद्ध कर विजयश्री प्राप्त की तब वह सारे भारतवर्ष का एकछत्र शासक बन गया । ब्रह्मदत्त के चक्रवर्ती सम्राट बनने की बात जानकर एक दिन एक दीन व दु खी ब्राह्मण अर्थ लाभ की कामना से चक्रवर्ती की राजसभा मे उपस्थित हुआ । चक्रवर्ती का राज्याभिषेक बारह वर्ष तक चलता रहा । ब्राह्मण यात्रा के समय चक्रवर्ती के साथ ही रहता था । मूल बात यह कि उस ब्राह्मण ने अपनी निष्ठा से चक्रवर्ती को प्रसन्न कर लिया और प्रसन्न होकर चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने ब्राह्मण से कहा—

"हे विप्र ! मै तुम पर प्रसन्न हूँ । तुम मुझसे कुछ भी वर माँग लो । जो माँगोगे, वही दूँगा ।"

ब्राह्मण सोचने लगा— 'चक्रवर्ती से मनचाहा माँगने का अवसर बार-बार तो आता नही । अत· कुछ ऐसा माँगना चाहिए कि फिर पछताना न पडे । अतः अपनी ब्राह्मणी से सलाह करके ही कोई निश्चय करना चाहिए ।'

यह सोच ब्राह्मण ने कहा—

"हे चक्रवर्तिन् ! मुझे सोचने के लिए कुछ समय दीजिए ! मैं अपनी ब्राह्मणी से परामर्श करके आपसे कुछ माँगूँगा ।"

ब्रह्मदत्त ने अनुमति दे दी । ब्राह्मण घर आया और उसने चक्रवर्ती की प्रसन्नता की बात ब्राह्मणी को बताई । ब्राह्मणी विचार करने लगी कि यदि यह कुछ गाँव माँग ले तो इसका वैभव बढ़ जायगा । बहुत वैभव वाला इन्द्रिय-सुखो को चाहने लगता है । फिर यह अन्य विवाह भी कर लेगा । अतः वैभव माँगने की सलाह नहीं दूँगी ।

बहुत सोच-विचार के बाद ब्राह्मणी ने निश्चय किया और अपने पति से बोली—

"स्वामी ! संसार मे जो भी झंझट और प्रपच है वह पेट के लिए है । अतः आप चक्रवर्ती

से यह मॉगिए कि प्रतिदिन हर नये घर से हम दोनो को भोजन मिले और भोजनोपरान्त दक्षिणा मे एक स्वर्णमुद्रा मिले। यह बहुत है। एक स्वर्णमुद्रा प्रतिदिन मिलेगी तो हमारी सभी सांसारिक जरूरते पूरी होती रहेगी और भोजन की भी कोई चिन्ता नही रहेगी।"

ब्राह्मण ने पत्नी का बात मान ली और चक्रवर्ती के पास जाकर वही मॉग लिया, जो उसकी पत्नी ने सिखाया था। ब्राह्मण की इस मॉग पर चक्रवर्ती हॅसा और बोला—

"बस ? अरे विप्र ! तुमने मॉगा भी तो क्या मॉगा ? एक अवसर और देता हूॅ। कुछ अधिक मॉगो।"

इतने पर भी मूर्ख ब्राह्मण अपने हठ पर अडा रहा और कहा—

"बस, मुझे तो यही चाहिए।"

चक्रवर्ती ने ब्राह्मण की इच्छा पूरी कर दी और सबसे पहले उसे अपने यहॉ भोजन कराया। चक्रवर्ती के यहॉ का भोजन अवर्णनीय स्वाद वाला था। ब्राह्मण तृप्त हो गया। उसके बाद चक्रवर्ती ने ब्राह्मण को एक स्वर्णमुद्रा दक्षिणा मे दी तथा अपने समस्त राज्य मे घोषणा करा दी कि हर घर इस ब्राह्मण को बारी-बारी से प्रतिदिन भोजन कराके एक स्वर्णमुद्रा देगा।

इसके बाद क्रम-क्रम से ब्राह्मण ने चक्रवर्ती की रानियो के यहॉ भोजन किया। फिर उसके अधीनस्थ राजाओं के यहॉ किया। फिर बहुत समय बाद उसकी बारी नागरिको के यहॉ आई। इसी क्रम मे एक दिन ब्राह्मण सोचने लगा— "इस युग मे यद्यपि मनुष्य की आयु हजार वर्ष की होती है। फिर भी चक्रवर्ती के यहॉ मेरी दूसरी बारी आना इस जन्म मे असभव है, क्योकि चक्रवर्ती का राज्य बहुत बडा है।"

कथाकार का कहना है कि जिस तरह चक्रवर्ती के यहॉ पुनः भोजन दुर्लभ है उसी प्रकार मनुष्य-जन्म पुनः पाना भी दुर्लभ है। बल्कि चक्रवर्ती के यहॉ पुनः भोजन मिल भी सकता है, पर मनुष्य-जन्म बार-बार नही मिलता। अतः इसे यो ही पशु-तुल्य रहकर नही बिता देना चाहिए।

इस कथा-सूत्र का दूसरा सार यह है कि जैसे ब्राह्मणी ने यह सोचा था कि वैभव पाकर यह कही और विवाह न कर ले, इसलिए वह भोजन मात्र मे ही सतुष्ट रही। इसी प्रकार यह जीव एकान्तिक और आत्यन्तिक मुक्तिवधू का सुख पाना चाहता है। फिर वैभव (राज्य) के समान संयम को प्राप्त करता है। इसके विपरीत कर्मप्रकृतिरूप भार्या पति को भोजनरूपी विषय-सुख मे फॅसाये रखना चाहती है।

कथासार यही है कि चक्रवर्ती के घर का पुनः भोजन पाना जिस प्रकार असंभव है, उसी प्रकार इस जीव के लिए सम्यक्धर्म स्वरूप सम्यग्दर्शनादि मुक्ति-बीज का लाभ जैसा मनुष्य-जन्म पाना दुर्लभ है ।

इसी प्रकार अन्य नौ दृष्टान्तो मे भी मनुष्य-जन्म की दुर्लभता दर्शायी गई है ।

— उत्तराध्ययन अ.३, गाथा १

(२) परमाणु स्तम्भ

दसवा दृष्टान्त परमाणु स्तम्भ का है, जो इस प्रकार है— किसी एक कौतुकप्रिय देव ने काष्ट-स्तम्भ को चूर्ण कर बहुत बारीक बुरादा बना लिया, फिर उस चूर्ण को एक बडी नलिका में भरकर मेरुपर्वत पर चला गया ।

वहाँ मेरुपर्वत पर खडा होकर नलिका मे खूब जोर से फूँक मारी । तेज पवन के झौको के साथ काष्ट स्तम्भ का महीन चूर्ण दशो दिशाओ मे दूर तक बिखर गया । आकाश प्रदेश में व्याप्त हो गया । उस चूर्ण के बिखरे अणुओ को पुनः एकत्र करके स्तम्भ बनाना अत्यन्त कठिन है । देव-शक्ति से वह तो कदाचित् सम्भव हो सकता है, किन्तु एक बार मनुष्य जन्म खो जाने के बाद पुनः प्राप्त करना महान् दुर्लभ है ।

— उत्तराध्ययन अ० ३, गाथा १

॥तृतीय अध्ययन समाप्त ॥

चतुर्थ अध्ययन : असंस्कृत

(अध्ययन-सार)

इस अध्ययन का नाम समवायांग सूत्र के अनुसार 'असस्कृत' है और निर्युक्ति के अनुसार 'प्रमादाप्रमाद' है । इस अध्ययन मे— प्रमाद क्या है ? उससे कैसे और कहॉ-कहॉ बचना चाहिए ? तथा अप्रमाद की साधना के लिए साधक को किन-किन बातों से दूर रहना चाहिए ?, यही मुख्य प्रतिपाद्य विषय है । जीव के प्रति गलत दृष्टिकोण या मिथ्याधारणाएँ भी अज्ञान रूप प्रमाद है जिसके शिकार होने पर व्यक्ति मोक्षमार्ग एव शुद्ध धर्म की आराधना नही कर पाता और न ही अपने ध्येय-(मोक्ष) को प्राप्त कर पाता है । तत्कालीन युग मे अनेक भयंकर मिथ्याधारणाएँ प्रचलित थी, जिनका खण्डन इस अध्ययन में जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण प्रस्तुत करके किया गया है । वे मिथ्याधारणाएँ ये थीं—

(१) जीवन संस्कृत है- टूटे हुए जीवन को वैद्य, देव, भगवान् आदि की कृपा से जोड़ा जा सकता है, पुनः प्राप्त किया जा सकता है ।

(२) धर्म बुढ़ापे में किया जाना चाहिए, पहले नही ।

(३) कुछ लोग धन को त्राणरूप मानते थे ।

(४) कुछ लोग यह भी मानते थे कि किये हुए कर्मों का फल यहाँ नही परलोक में मिलता है, अथवा कर्मों का फल है ही नही ।

(५) एक व्यवित्त बहुतों के लिए कोई कर्म करता है तो उसका फल उन सब को मिलकर भोगना पड़ता है ।

(६) यह माना जाता था कि मोक्षमार्ग की साधना के लिए गुरु या संघ आदि समूह विघ्न है, व्यक्ति को अकेले ही स्वतन्त्ररूप से साधना करनी चाहिए ।

(७) यह भी मान्यता थी कि अन्तिम समय में अप्रमत्त होकर धर्मसाधना कर लेंगे । अभी क्या जल्दी है ?

(८) यह भी माना जाता था कि जिस समय काम-भोग आदि का आक्रमण होगा, उसी समय तत्काल उनका त्याग कर देंगे ।

(९) ऐसे भी कुछ भोगवादी लोग थे, जो मानते थे कि खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ, इन्द्रियों के द्वारा यथेष्ठ सुखोपभोग करे । शरीर ही सब कुछ है, यह खत्म होते ही यह खेल यही खत्म हो जाता है; परलोक, पुनर्जन्म, नरक-स्वर्ग आदि कुछ भी नही है ।

भगवान् महावीर ने इस अध्ययन मे इन समस्त मिथ्या धारणाओ का क्रमश. निराकरण किया है और प्रमादत्याग का उपदेश दिया है । साथ ही जीवन के प्रति सन्तुलित स्वस्थ दृष्टिकोण दिया है ।

चतुर्थ अध्ययन : चतुरंगीय

(चउत्थं अज्झयणं : असंखयं)

जीवन की असंस्कृतता एवं प्रमाद-स्थानों से दूर रहने का उपदेश

मूल— **असंखयं जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं ।**
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते, कण्णू विहिंसा अजया गहिंति ॥१ ॥

संस्कृत-छाया— असस्कृत जीवित मा प्रमादी·, जरोपनीतस्य खलु नास्ति त्राणम् ।
एवं विजानीहि जना· प्रमत्ताः, किंनु विहिंस्रा अयता ग्रहीष्यन्ति ॥१ ॥

पद्यानुवाद— छोड़ प्रमाद, जुडे ना जीवन, बूढे जन का है त्राण नही ।
यो जान प्रमादी हिस्र असयत, लेगे किसकी शरण कही ? ॥१ ॥

अन्वयार्थ— जीविय— जीवन, **असंखयं—** असस्कृत है (टूटा हुआ सांधा नही जा सकता) । **मा पमायए—** अतः प्रमाद मत करो । **जरोवणीयस्स—** वृद्धावस्था के द्वारा जो मृत्यु के निकट पहुँचा दिया गया है, उसका, **हु—** निश्चय ही, **ताणं नत्थि—** कोई भी रक्षक नही है । [१] **एवं—** ऐसा, **विजाणाहि—** विशेषरूप से समझ लो कि, **पमत्ते—** प्रमादी, **विहिंसा—** विशिष्ट हिंसक, **अजया—** अजितेन्द्रिय (अथवा अयत = असयमी), **जणे—** मनुष्य, (मृत्यु के समय), **कण्णू—** किसकी शरण, **गहिंति—** ग्रहण करेगे ।

विवेचन— जीवन असस्कृत इसलिए है कि आयुष्य के कण क्षण-क्षण मे समाप्त होते जा रहे हैं । इस प्रतिक्षण टूटते हुए जीवन को सैकडो इन्द्र देव, यहाँ तक कि भगवान् भी न तो जोड सकते है, और न ही बढा सकते है । अत· एक क्षण का भी प्रमाद नही करना चाहिए ।

प्रमाद का अर्थ है— आत्म-विस्मृति, शरीर, इन्द्रियॉ, धन, परिवार आदि साधनो मे आसक्त होकर अपने आत्म-स्वरूप को विस्मृत कर देना, तथा धर्मकार्य के प्रति अनुत्साह । प्रमाद के पॉच भेद बताये है— (१) मद्य, (२) विषय, (३) कषाय, (४) निद्रा और (५) विकथा । मद्य प्रमाद दो प्रकार का है— द्रव्यमद्य (शराब आदि नशीली चीजो के सेवन से होने वाला) तथा भावमद्य- (जाति, कुल, बल आदि ८ प्रकार के मदो से होने वाला), निद्रा के अन्तर्गत आलस्य, गफलत, लापरवाह, धर्माचरण के प्रति उपेक्षा आदि आ जाते है । अज्ञान, अन्धविश्वास, मिथ्यादृष्टि, मिथ्यामान्यताएं, भ्रान्ति आदि भावनिद्रा के अन्तर्गत है । विकथा के अन्तर्गत स्त्रीकथा, भक्तकथा, राजकथा और देशकथा के अतिरिक्त व्यर्थ की गप्पे हांकना, निन्दा-चुगली आदि मे समय बर्बाद करना आदि है ।

शास्त्रकार का आशय यह है कि जब बुढापा आ जाएगा और मौत झांकने लगेगी, उस समय प्रमादी, जिसने कि जीवन के अमूल्य क्षणो को प्रमाद अथवा प्रमादजनित हिंसा, तथा

१ इस प्रकार पाप को पाता न चार का त्राण लिए ।

अन्य पापो में बिताया है, किसकी शरण लेगा ? धर्म की शरण तो प्राप्त हो नही सकेगी, क्योकि धर्माचरण मे तो उसने सदैव प्रमाद किया है । फलितार्थ यह है, जिसने प्रमाद के फलस्वरूप इस जीवन मे अनेक दुःख पाए, उसे अगले जन्म में भी भयंकर कष्ट भोगने पड़ेगे, उनसे बचाने वाला कोई नही होगा ।

इस गाथा में प्रमाद की स्रोत दो प्रचलित मिथ्या मान्यताओं का भी संकेत है— (१) जिन्दगी मे चाहे जो कुछ स्याह-सफेद कर ले, अन्तिम समय मे भगवान् से क्षमा मॉग लेगे, या भगवान्, देव या किसी शक्ति को प्रसन्न कर जीवन (आयु) बढ़ा लेगे, चिरायु हो जाएँगे । (२) बुढापा आएगा, तब धर्माचरण कर लेगे, अभी तो आमोद-प्रमोद कर ले ।

मिथ्या मान्यतारूप प्रमाद के विविध स्रोत

मूल— जे पावकम्मेहि धणं मणुस्सा, समाययंती अमइं गहाय ।
पहाय ते पास पयट्टिए नरे, वेराणुबद्धा नरयं उवेंति ॥२ ॥

संस्कृत-छाया— ये पापकर्मभिर्धनं मनुष्या:, समाददते अमतिं गृहीत्वा ।
प्रहाय ते पाशप्रवर्तिता नराः, वैरानुबद्धा नरकमुपयान्ति ॥२ ॥

पद्यानुवाद— पापकर्म से कुमतिवश जो, मानव वित्त कमाते है ।
देखो, बॉध वैर, धन तज वे, नर नरकलोक को जाते है ॥२ ॥

अन्वयार्थ—जे— जो, **मणुस्सा—** मनुष्य, **अमइं गहाय—** कुबुद्धि के वश होकर, **पावकम्मेहिं—** पापकर्मो (पापकारी कामो)से, **धणं—** धन, **समाययंती—** उपार्जित करते (कमाते) है, **ते—** वे, **पासपयट्टिए—** स्त्री-पुत्रादि के पाश-बन्धन में पड़े हुए (या **पास—** उन्हे देख, (वे) **पयट्टिए—** मौत के मुख मे पडे हुए), **नरे—** मनुष्य, **पहाय—** (धनादि को यहीं) छोड़कर, **वेराणुबद्धा—** वैर (के हेतुरूप पापकर्मो) की परम्परा को बॉधे हुए, **नरयं—** नरक मे, **उवेंति—** जाते हैं ॥२ ॥

विवेचन— पावकम्मेहि : तीन अर्थ (१) चूर्णि के अनुसार— हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह आदि कर्मो द्वारा, (२) बृहद्वृत्ति के अनुसार— पाप के उपादानभूत छल, कपट, ठगी, मिलावट आदि अनुष्ठानों से और (३) महारम्भादि अकरणीय प्रवृत्तियो द्वारा ।

पास : दो रूप : तीन अर्थ— (१) चूर्णि और वृहद्वृत्ति मे-पश्य-देख, (२) सुखबोधा मे 'पाश' (जाल-बन्धन) के समान पाश, यथा-हाथी आदि के लिए जैसे शृंखला आदि पाश-बन्धन है, वैसे ही मनुष्यो के लिए स्त्रियाँ बन्धन है । (३) पाश-दोष-रागद्वेष, तृष्णा आदि दोषो मे फॅसते है ।

वेराणुबद्धा : तीन अर्थ— (१) वैर- परम्परा से कुटुम्ब, समाज आदि में वैर बॉध कर, (२) वयर-वज्र-पाप से बद्ध-(पाप बॉधकर), और (३) कर्म- कर्मो से बद्ध ।

अमइं गहाय : दो रूप : दो अर्थ— (१) अमति-कुमति के वश होकर, (२) धन को अमृत समझ कर।

निष्कर्ष— पापकर्म से उपार्जित धन त्राणदायक होता है, यह मिथ्यामान्यतारूप प्रमाद मानव का अज्ञान है।

स्वकृत कर्मों का फल परभव में : इस भ्रान्त मान्यता का निराकरण

मूल— **तेणे जहा संधिमुहे गहीए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।**
एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण न मोक्ख[१] **अत्थि ॥३॥**

संस्कृत-छाया— स्तेनो यथा संधिमुखे गृहीतः, स्वकर्मणा कृत्यते पापकारी।
एवं प्रजाः प्रेत्येह च लोके, कृताना कर्मणां न मोक्षो ऽस्ति ॥३॥

पद्यानुवाद— ज्यो चोर सेध-मुख पर पकड़ा, निज कर्मविवश काटा जाता।
त्यों यह जीव उभयभव मे, बिन भोगे कर्म न छुट पाता ॥३॥

अन्वयार्थ—**जहा**— जैसे, **संधिमुहे**— सेध के मुख-द्वार पर, **गहीए**— पकडा गया, **पावकारी**— पापकर्म करने वाला, **तेणे**— चोर, **सकम्मुणा**— अपने ही कर्म के कारण, **किच्चइ**— छेदा जाता (मृत्यु पाता) है, **एवं**— इसी प्रकार, **इह लोए**— इस लोक मे, **च**— और, **पेच्च**— परलोक मे, **पया**— (संसारी) जीव अपने ही कृतकर्मो से पीडित होते (दुःख पाते) है, (क्योकि) **कडाण कम्माण**— किये हुए कर्मो का (फल भोगे बिना), **मोक्ख**— मोक्ष (छुटकारा या क्षय), **न अत्थि**— नही होता ॥३॥

भावार्थ— जैसे सेंध के मुख (द्वार) पर पकडा गया चोर अपने ही दुष्कर्म के कारण काटा जाता है, वैसे ही पापकर्म करने वाला जीव इस लोक और परलोक मे स्वकृतकर्मो का भयंकर फल भोगता है, क्योकि कृतकर्मों को भोगे बिना कभी छुटकारा नही होता।

विवेचन— प्रस्तुत सूत्र में इस मान्यता का खण्डन किया गया हैकि जीव को इस जन्म में किये गये कर्मो- दुष्कर्मो का फल अगले जन्म में मिलता है; फलतः इस भ्रान्तमान्यतारूप प्रमाद के कारण वह बेखटके पापकर्म करता जाता है। परन्तु भगवान् ने इसका खण्डन करते हुए कहा कि जैसे— सेध के मुँह (द्वार) पर पकडा जाने वाला चोर अपने उक्त पापकर्म के कारण वही छिन्न-भिन्न एवं लहूलुहान होकर तत्काल फल (दण्ड) पा लेता है। अतः एकान्त रूप से यह कथन सत्य नही है, कि कृतकर्म का फल परलोक में ही मिलता है, यहाँ नही। यहाँ भी मिलता है, और परलोक में भी मिलता है। किन्तु यह निश्चित है कि कर्म का फल अवश्यमेव (आगे या पीछे) भोगना पड़ता है। अतः दुष्कर्म करने से पूर्व भविष्य का या परिणाम का विचार करना चाहिए।

१. मुक्ख- लुधियाना से प्रकाशित

सबके लिए कृतकर्म में सबका हिस्सा : इस भ्रान्त मान्यतारूप प्रमाद का निराकरण

मूल— संसारमावन्न परस्स अट्ठा, साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले, न बंधवा बंधवयं उवेंति ॥४॥

संस्कृत-छाया— संसारमापन्नः परस्यार्थाय, साधारणं च यत्करोति कर्म।
कर्मणस्ते तस्य तु वेदकाले, न बान्धवा बन्धुत्वमुपयान्ति ॥४॥

पद्यानुवाद— पर के कारण जो संसारी, साधारण कर्म कमाता है।
कर्मभोग के समय नही, बान्धवजन भाग बॅटाता है ॥४॥

अन्वयार्थ— संसारमावण्ण— ससार (दशा) को प्राप्त (संसारी) जीव, **परस्स अट्ठा—** पुत्र, स्त्री, मित्र आदि पर के लिए (दूसरे के निमित्त), **च—** अथवा (और), **जं—** जो, **साहारणं—** साधारण अर्थात् स्व और पर दोनो के लिए, (सम्मिलित फल वाला), **कम्मं—** कर्म, **करेइ—** करता है, **तस्स कम्मस्स—** उस कर्म के, **वेयकाले—** (फल) भोगने (वेदन करने) के समय, **ते—** वे, **बांधवा—** बान्धव (स्वजनादि, जिनके लिए उसने पापकर्म किया था), **बंधवयं न उवेंति—** बन्धुता सहभागिता नही बताते— हिस्सेदार नही होते।

विवेचन— प्रस्तुत गाथा मे इस भ्रान्त मान्यतारूप प्रमाद का निराकरण किया गया है कि एक व्यक्ति अगर अपने स्त्री-पुत्रादि स्वजनो के लिए कोई पापकर्म करता है तो उसका फल उन सबको भोगना पड़ता है। भगवान् ने इसका निराकरण करते हुए फरमाया कि उस कर्म के फलभोग के समय वे बान्धव सहभागी नही होते, उसमे हिस्सा नही बॅटाते, स्वकृतकर्म का फल स्वयं को ही भोगना पड़ता है।

इस विषय मे आभीरीवञ्चक वणिक् की कथा द्रष्टव्य है।

धन त्राणदायक है : इस मिथ्यामान्यता का खण्डन

मूल— वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमंमि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्ठेव अणंतमोहे, नेआउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥५॥

संस्कृत-छाया— वित्तेन त्राणं न लभते प्रमत्तः अस्मिँल्लोकेऽथवा परत्र।
दीपप्रणष्ट इवानन्तमोहः, नैयायिकं दृष्ट्वा अदृष्ट्वेव ॥५॥

पद्यानुवाद— धन से प्रमत्त को त्राण नही, इस भव मे, अथवा परभव में।
बुझे दीप-सम अति मोही देख, पथ पर न चले, वन में ॥५॥

अन्वयार्थ— **पमत्ते**— मद्यादि प्रमादग्रस्त मनुष्य, **वित्तेण**— धन से, **इमंमि लोए**— इस लोक मे, **अदुवा**— अथवा, **परत्था**— परलोक मे, **ताणं**— त्राण (सरक्षण), न **लभे**— नही पाता। **दीवप्पणट्ठेव** [१]— अधेरी गुफा मे जिसका दीपक बुझ गया हो, उसकी भाँति, **अणंतमोहे**— अनन्त (असीम) मोह वाला जीव, **नेआउयं मग्गं**— न्याययुक्त मार्ग (अर्थात्-सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय वाला मोक्षमार्ग), **दट्ठुं**— देख कर भी, **अदट्ठुमेव**— नही देखता।

विवेचन— कुछ लोग यह मानते है कि येन-केन प्रकारेण धन अर्जित करके उससे अपनी सुरक्षा कर लेगे, धन ही समस्त कल्याणकारी है, यह मिथ्यामान्यतारूप प्रमाद है। किन्तु भगवान् ने कहा कि जो हिसा, अन्यायादि से धन कमाता है, उस प्रमादी व्यक्ति को धन से कही भी सुरक्षा सम्भव नही। धनासक्त प्राणी पर्वतीय गुफा मे बुझे दीप वाले पुरुष की तरह सन्मार्ग को देखकर भी ज्ञानदीप के बुझ जाने की दु खी हो जाता है।

धन से मन मे चंचलता, भय, अविश्वास, चिन्ता, अहं भाव और व्याकुलता उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से जो धन अपनी सुरक्षा के लिए दूसरो से अपेक्षा रखता हो, वह पर की रक्षा क्या करेगा? [२]

---

१. दीवप्पणट्ठेव : दो व्याख्याएँ— दीव के दो रूपान्तर— द्वीप और दीप। द्वीप के दो प्रकार-द्रव्य-आश्वासद्वीप और भाव-आश्वासद्वीप। यहाँ भाव आश्वासद्वीप से तात्पर्य है। अनन्तसंसार सागर को पार करने के लिए अत्यन्त उत्सुक भव्यों के लिए आश्वासन का एक मात्र हेतु सम्यग्दर्शन भाव-आश्वासद्वीप है। जो अतिरौद्र अनन्तानुबन्धी क्रोधादि के उपद्रवों से नष्ट नही होता, न ही कुवादी-रूपी तरंगों से प्रवाहित (विचलित) होता है। भाव-आश्वास द्वीप भी दो प्रकार का है — सदीन और असंदीन। जो जलप्लावन की तरह पुन मिथ्यात्व का उदय होने पर नष्ट हो जाता है, वह सन्दीन और नष्ट होता, वह असन्दीन कहलाता है।

भाव-प्रकाशदीप भी दो प्रकार का है- संयोगिम, असंयोगिम। जो अक्षर, पद, पाद-श्लोकादि की संहति से बनता हो, वह संयोगिम है, दूसरे किसी भी अक्षरादि की अपेक्षा के बिना ही जो निष्पन्न होता है, वह असंयोगिम है। श्रुतज्ञान संयोगिम प्रकाशदीप है और केवलज्ञान असंयोगिम। प्रस्तुत में प्रकाशदीप अर्थ ही अभीष्ट है।

२. इस विवेचन के साथ बृहदारण्यक उपनिषद अध्याय२, ब्राह्मण ४ के अन्तर्गत याज्ञवल्क्य-मैत्रेयीसंवाद पठनीय है। "न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।"

इस विषय मे पुरोहितपुत्र की तथा नष्टदीपक धातुवादियों की कथा द्रष्टव्य है।

भारण्डपक्षीसम अप्रमत्त रहने का उपदेश

मूल— **सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी, न वीससे पंडिए आसुपन्ने।**
घोरा मुहुत्ता, अबलं सरीरं, भारंडपक्खीव चरऽप्पमत्तो [1] ॥६॥

संस्कृत-छाया— सुप्तेषु चापि प्रतिबुद्धजीवी, न विश्वसेत् पण्डित आशुप्रज्ञः।
घोराः मुहूर्त्ता अबलं शरीरम्, भारण्डपक्षीव चरेदप्रमत्तः ॥६॥

पद्यानुवाद— सुप्तजनो मे भी ज्ञानी, प्रतिबुद्ध भरोसा करे नही।
निर्बल शरीर, क्षण अतीव घोर, भारण्डसम करे प्रमाद नही ॥६॥

अन्वयार्थ— **आसुपन्ने—** आशुप्रज्ञ (उचित कार्य मे शीघ्र प्रवृत्त होने की बुद्धि वाला), **पंडिए—** पण्डित-(ज्ञानी साधक), **सुत्तेसु यावी—** मोहनिद्रा मे सोये हुए लोगो मे रहकर भी, **पडिबुद्धजीवी—** सब तरह से जाग्रत रहकर जीए। **न वीससे—** (प्रमाद में क्षणभर भी) विश्वास न करें। **मुहुत्ता—** काल के क्षण, **घोरा—** अत्यन्त भयानक हैं, (और) **सरीरं—** शरीर, **अबलं—** निर्बल है, (यह जान कर) **भारंडपक्खीव—** भारण्डपक्षी की तरह, **अप्पमत्तो—** अप्रमादी होकर, **चरे—** विचरण करना चाहिए।

भावार्थ— आशुप्रज्ञ पण्डित साधक को मोहनिद्रा मे सोये हुए प्रमादी लोगो के बीच रहकर भी सब तरह से जागरूक (सतर्क) रहना चाहिए। प्रमाद (विविध प्रकार के प्रमाद) का एक क्षण भी विश्वास नही करना चाहिए; क्योंकि काल अत्यन्त भयानक (घोर) है, और शरीर निर्बल है। अतः भारण्डपक्षी के समान सदा अप्रमत्त (सावधान) होकर विचरण करना चाहिए।

सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी : यहाँ सुप्त शब्द के तीन अर्थ किये गए हैं— (१) जो द्रव्यतः सोया हुआ हो, (२) भावतः धर्माचरण के प्रतिअजाग्रत हो, (३) जो प्रमादी-प्रेयार्थी अज्ञानी हो। ऐसे सुप्त लोगों के साथ रहने का अवसर आए तो भी अप्रमत्त और विशेष जाग्रत रहकर जीए।

प्रतिबुद्ध भी दो प्रकार का होता है— (१) जो नीद में न हो, तथा (२) जो धर्माचरण के लिए जाग्रत हो। आशय यह है कि अविवेकी, प्रेयार्थी, प्रमादी एवं प्रसुप्त लोगो के गतानुगतिक रूप न न सोए, किन्तु विशेष रूप से यावज्जीव जागृत रहे।

---

१. चरेऽप्पमत्तो— लुधियाना से प्रकाशित।

भारंडपक्खी : भारण्डपक्षी : व्याख्या- भारण्डपक्षी— दो प्राणी सयुक्त होते हैं, जो जन्म से ही एक दूसरे से जुडे होते है। उनके एक पेट तथा तीन पैर होते है। सिर अलग-अलग होता है। एक मुख जो खाता है, उसे दूसंरा भी खाता है, अथवा नही भी खाता। दो-दो अङ्ग साथ-साथ जुड़े होने से भारण्डपक्षी को दोनो अङ्गो की विरुद्ध प्रवृत्ति न हो, इसकी बडी सावधानी रखनी पडती है। इसलिए कहा गया है कि भारण्डपक्षी के समान सदैव सावधान रहना चाहिए।

घोरा महुत्ता : आशय- मुहूर्त— शब्द उपलक्षण के समस्त काल का सूचक है। प्राणी की आयु प्रतिक्षण क्षीण होती जाती है, अतः प्राणी की आयु अल्प होने से तथा मृत्यु का काल अनियमित होने से 'काल' को 'घोर' कहा गया है कि न जाने कब वह आ धमके और प्राणी को उठा ले जाए, उसके जीवन का अपहरण कर ले।

द्रव्य-भाव से निद्रात्याग के विषय मे अगडदत्त की कथा द्रष्टव्य है।

मूल— चरे पयाइं परिसंकमाणो, जं किंचि पासं इह मण्णमाणो।
लाभंतरे जीविय बूहइत्ता, पच्छा परिन्नाय मलावधंसी ॥७॥

संस्कृत-छाया— चरेत्पदानि परिशकमानः, यत्किञ्चित्पाशमिह मन्यमान.।
लाभान्तरे जीवित बृंहयित्वा, पश्चात्परिज्ञाय मलापध्वंसी ॥७॥

पद्यानुवाद— मुनि चले दोष से शकित हो, लघुदोष बन्ध-कारण समझे।
हो लाभ जहाँ तक तन पोसे, बिन लाभ देह का मोह तजे ॥७॥

अन्वयार्थ— पयाइं— साधक पद-पद पर, **परिसंकमाणो—** दोषों की आशका रखता हुआ, **चरे—** चले, तथा (धन, जन आदि), **इह—** इस जगत् मे, **जं किंचि—** जो कुछ भी सचेतन— अचेतन पदार्थ है उन्हे, **पासं—** पाशरूप (संयम प्रवृत्ति के लिए बन्धन रूप), **मण्णमाणो—** मानकर सावधान रहे। **लाभंतरे—** जब तक सम्यग्दर्शनादि नये-नये गुणो की प्राप्ति हो, तब तक, **जीवियं—** जीवन को, **बूहइत्ता—** आहार पानी आदि से इसका सवर्धन करे, **पच्छा—** बाद मे (जब यह विशेष अशक्त हो जाए, इसके कोई अपूर्व लाभविशेष न हो, तब) **परिन्नाय—** ज्ञ-परिज्ञा से यह जान कर कि अब यह शरीर सम्यग्दर्शनादि गुणविशेष का हेतु नही रहा, अतः इससे निर्जरा नही हो सकती; प्रत्याख्यान-परिज्ञा से, **मलावधंसी—** कर्ममल का ध्वंस (नाश) करने वाला (भक्तप्रत्याख्यान-सथारा) करके रहे।

विवेचन— चरे पयाइं परिसंकमाणो : दो व्याख्याएँ— (१) दोषो से शंकित होता हुआ पैर (सावधानी से) रखकर चले, (२) धर्म के पदो-स्थानो (मलगुणो) मे कही भूल न हो जाए, ऐसी शंका करता हुआ सयममार्ग मे विचरण करे।

"जं किंचि पासं" : तीन व्याख्याएँ— (१)जो कुछ भी थोड़ा-सा भी प्रमाद या दोष (दुश्चिन्तित, दुर्भाषित, दुश्चेष्टित के रूप मे प्रमाद) है, वह पाश रूप बन्धनकारक समझता हुआ, (२) संसार मे जो भी धन, जन आदि पदार्थ हैं, या (३) गृहस्थो से परिचय आदि है, उन्हे पाशरूप मानता हुआ चले।

पच्छा परिण्णाय मलावधंसी : तात्पर्य— इसके पश्चात् जब शरीर जरा-जीर्ण, अशक्त हो जाए तब ज्ञ-परिज्ञ से स्वयं जाने कि वास्तव मे इस शरीर से अब सम्यग्दर्शनादि विशिष्ट गुणो की प्राप्ति नही होती, न ही निर्जरा होती है, बल्कि अभी इसमे थोड़ा-सा बल-वीर्य पुरुषार्थ है, अतः प्रत्याख्यान-परिज्ञा से कषाय एवं आहार की संल्लेखना एवं यावज्जीवन अनशन करके समाधि-मरणपूर्वक इस शरीर का त्याग कर दे।

स्वच्छन्दता-निरोध : अप्रमत्तता और मुक्ति का कारण

मूल— **छंदं निरोहेण उवेइ मोक्खं, आसे जहा सिक्खियवम्मधारी।**
पुव्वाइं वासाइं चर[1]ऽप्पमत्तो, तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ॥८॥

संस्कृत-छाया— छंदोनिरोधेनोपैति मोक्षम्, अश्वो यथा शिक्षितवर्मधारी।
पूर्वाणि वर्षाणि चरेदप्रमत्तः, तस्मान्मुनिः क्षिप्रमुपैति मोक्षम् ॥८॥

पद्यानुवाद— स्वच्छन्द-रोध से मुक्ति मिले, ज्यो शिक्षित अश्व कवचधारी।
पूर्ववर्ष तक अप्रमत्त चल, शीघ्र मुक्त हो (महा) व्रतधारी ॥८॥

अन्वयार्थ— जहा— जिस प्रकार, **सिक्खिय वम्मधारी आसे—** शिक्षित (सधा हुआ) तथा कवचधारी अश्व, **छंदं निरोहेण—** (युद्ध मे) स्वच्छन्दता का निरोध करने से, **मोक्खं उवेइ—** (विजयी होकर युद्ध के त्रास से) मुक्त (स्वतन्त्र) हो जाता है, (वैसे ही स्वेच्छाचार को रोक कर गुरु-आज्ञा मे रहकर शिक्षित एवं संयम-कवच धारक), **मुणी—** मुनि भी, **खिप्पं—** शीघ्र ही, **मोक्खं—** संसार से मुक्त (पार) **उवेइ—** हो जाता है। **तम्हा—** इसलिए, **पुव्वाइं वासाइं—** पूर्व वर्षो मे (साधना के प्रारम्भिक वर्षो में) मुनि, **अप्पमत्तो—** अप्रमत्त होकर, **चरे—** विचरण करे।

भावार्थ— जैसे शिक्षित (शिक्षक के अधीन रहकर अभ्यास किया हुआ) और कवचधारी घोड़ा स्वच्छन्दता का निरोध करने से युद्ध मे विजयी होकर उसके त्रास से मुक्त हो जाता है, वैसे ही स्वेच्छाचार को रोककर, गुरु के अधीन रहकर शिक्षा प्राप्त और संयमकवचधारी मुनि भी शीघ्र ही संसार से मुक्त (पार) हो जाता है। इसलिए साधना के प्रारम्भिक वर्षो मे मुनि अप्रमत्त होकर विचरण करे।

१. चरेऽप्पमत्तो— लुधियाना से प्रकाशित।

विवेचन— 'साधना के लिए गुरु, संघ आदि समूह विघ्नकारक है, अकेले स्वतत्र रहकर अपनी साधना करनी चाहिए' इस प्रकार की एकान्त एवं भ्रान्तमान्यतारूप प्रमाद का भगवान् महावीर ने इस गाथा द्वारा शिक्षित अश्व की उपमा देकर निराकरण किया है और साधको को निर्देश दिया है कि वे साधना के प्रारम्भिक जीवन से ही अप्रमाद का अभ्यास गुरु एवं संघ के अधीन रहकर करें । तभी वे संसार-संग्राम से पार हो सकेगे, अन्यथा स्वच्छन्दाचाररूप प्रमाद मे पडकर रहने वाले को विषय-वासना, तृष्णा एव कषाय अभिभूत कर सकते है । यही इस गाथा का निष्कर्ष है ।

छंदं निरोहेण : तीन व्याख्या— (१) स्वच्छन्दता-निषेध— गुरु के अधीन स्वाग्रह रहित होकर प्रवृत्ति करने वाला सक्लेश रहित होने से कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है । (२) छन्दसा-गुरु के अभिप्राय से आहारादि परिहाररूप निरोध करने से मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है, (३) अथवा छन्द का अर्थ वेद या आगम है, इस दृष्टि से छन्दसा- आगमविहित आज्ञानुसार, इन्द्रयादि निग्रहात्मक छन्द निरोध करने से मोक्ष प्राप्त होता है ।

इस विषय मे शिक्षित और अशिक्षित, दो अश्वो की कथा द्रष्टव्य है ।

शाश्वतवादियों की मिथ्यामान्यता का खण्डन

मूल— **स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा, एसोवमा सासयवाइयाणं ।**
विसीयई सिढिले आउयंमि, कालोवणीए सरीरस्स भेए ॥९ ॥

संस्कृत-छाया— स पूर्वमेवं न लभेत पश्चात्, एषोपमा शाश्वत वादिकानाम् ।
विषीदति शिथिले आयुषि, कालोपनीते शरीरस्य भेदे ॥९ ॥

पद्यानुवाद— 'पूर्व रहा न अप्रमत्त पीछे पालेगा', यह शाश्वत वादी-कथा है ।
आयु-शैथिल्य मे कालजनित, तन-भेद देख मन करता अन्तर्व्यथा है ॥९ ॥

अन्वयार्थ—(जो व्यक्ति) **पुव्वं**— पहले अप्रमत्त नही होता, **स**— वह व्यक्ति, **एवं**— पूर्व की तरह, **पच्छा**— पीछे (जीवन की सन्ध्यावेला में) **न लभेज्ज**— (अप्रमत्त अवस्था को) प्राप्त नही कर सकता । **एसोवमा**— (पिछले जीवन मे अप्रमत्त हो जाएँगे), ऐसी उपमा (धारणा) **सासयवाइयाणं**— शाश्वतवादियो की है, (क्योकि पूर्वजीवन मे प्रमत्त रहने वाला व्यक्ति), **आउयंमि सिढिले**— आयुष्य के शिथिल होने पर, **कालोवणीए सरीरस्स भेए**— काल (मृत्यु) के प्रभाव से शरीर का भेद उपस्थित होने पर, **विसीयई**— विषाद (खेद) पाता है ।

विवेचन— कई व्यक्तियो की यह मिथ्या धारणा थी कि "हम तो अजर अमर है, इसलिए अभी क्या जल्दी है ? हम अन्तिम समय मे छन्दोनिरोधरूप अप्रमत्त-अवस्था प्राप्त (या धर्म) कर लेगे, परन्तु भगवान् ने उन शाश्वतवादियो की उक्त मिथ्या धारण का निराकरण

करते हुए कहा है कि जिनका निरुपक्रम आयुष्य है, वे कदाचित् अपने को शाश्वत की तरह मानें तो समझा जा सकता है, किन्तु पानी के बुलबुले की तरह जिनकी सोपक्रम आयु अनिश्चित एवं क्षणभंगुर है, वे जीवन के उत्तरार्ध मे छन्दोनिरोधरूप अप्रमादावस्था को प्राप्त नहीं कर सकते। बल्कि जब मनुष्य भवोपग्राही आयुष्य कर्म आत्म-प्रदेशो से अलग होने लगता है, तथा मृत्यु के समय औदारिक शरीर के छूटने की स्थिति आती है, तब पछताता है कि मैने अपने जीवन मे कोई सुकृत नही किया, इसलिए अब मुझे अपार संसार समुद्र में परिभ्रमण करना पड़ेगा।

निष्कर्ष यह है कि साधक को प्रारम्भ से ही धर्माचरण में प्रमाद नही करना चाहिए। किन्तु परलोकगमन आज होगा या कल, किस समय होगा ? यह कोई निश्चित नही है, यह जानता हुआ भी मूढ़ व्यक्ति मोहवश सुख से सोता है।

पूर्वजीवन से ही अप्रमत्त रहने का उपदेश

मूल— खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं, तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे।
समिच्च लोयं समया महेसी, अप्पाणुरक्खी चरमप्पमत्तो[1] ॥१०॥

संस्कृत-छाया— क्षिप्रं न शक्नोति विवेकमेतु, तस्मात्समुत्थाय प्रहाय कामान्।
समेत्यलोक समया महर्षिः, आत्मानुरक्षी चरेदप्रमत्तः ॥१०॥

पद्यानुवाद— शीघ्र विवेक न पा सकता, उठ, अतः काम-सुख त्याग करो।
यह लोक जान, समता मे रमो, आत्मार्थी जागृत हो, विचरो ॥१०॥

अन्वयार्थ—(कोई भी व्यक्ति) **खिप्पं—** तत्काल, **विवेगमेउं—** विवेक को प्राप्त, **न सक्केइ—** नही कर सकता। **तम्हा—** इसलिए (अभी से), **कामे पहाय—** कामभोगों (इन्द्रियविषयो) का परित्याग करके, **समुट्ठाय—** (मोक्षमार्ग मे) सम्यक् प्रकार से उद्यत होकर (तथा) **लोयं—** लोक-समस्त प्राणि-जगत् का, **समया—** समभाव से, **समेच्च—** सम्यक् अवलोकन करो- जानो। **महेसी—** महर्षि (या महैषी— मोक्ष का इच्छुक), **अप्पाणुरक्खी—** कुगति से आत्मा की रक्षा करने वाले साधक। **अप्पमत्तो—** प्रमादरहित होकर, **चर—** विचरण करो।

भावार्थ— कोई भी व्यक्ति आत्म-विवेक झटपट नही प्राप्त कर सकता, इसलिए अभी ही कामभोगो का परित्याग करके मोक्षमार्ग के लिए समुद्यत होकर लोक (प्राणिजगत) का समत्वभाव से सम्यक्रूप से विचार करो। हे आत्मगुणरक्षक महर्षि या मोक्ष के इच्छुक साधक ! समतापूर्वक अप्रमत्तरूप से विचरण करते रहो।

१. चरेऽप्पमत्तो— लुधियाना से प्रकाशित।

विवेचन— विवेगं : भावार्थ— द्रव्यत बाह्य आसक्ति परित्यागरूप एव भावतः कषायपरित्याग रूप विवेक अर्थात्- त्याग। प्रस्तुत गाथा मे इस प्रकार के अज्ञानरूप प्रमाद का निराकरण किया गया है कि हम अन्तिम समय मे तत्काल त्याग, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान आदि कर लेगे, अभी से क्या जल्दी है ? पहले से ही जिसका त्याग, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान आदि धर्म-क्रियाओ का अभ्यास नही है, वह समय आने पर झटपट इस प्रकार विवेक नही कर सकता। मरुदेवी माता का उदाहरण देकर कुछ लोग अन्तिम समय मे तत्काल विवेक कर लेने का समर्थन करते है, परन्तु मरुदेवी माता तो एक आश्चर्यरूप थी, वैसी तीव्र भावना सब मे नही होती, कोई विरला व्यक्ति ही ऐसा होता है। इसलिए संयम पथ मे अभी से समुद्यत होकर मन-वचन-काया से इच्छा, मद व काम का त्याग करके शत्रु-मित्र पर सम (राग-द्वेषरहित) होकर अप्रमत्त रहे।

शीघ्र विवेक नही हो सकता, इस पर ब्राह्मणी की तथा प्रमाद एव अप्रमाद पर क्रमशः वणिक् की दो स्त्रियो की कथा द्रष्टव्य है।

प्रमादमूल : राग-द्वेष के त्याग का निर्देश

मूल— मुहुं मुहुं मोहगुणे जयंतं, अणेगरूवा समणं चरंतं।
फासा फुसंती[१] असमंजसं च, न तेसु भिक्खू मणसा पउस्से ॥११॥

संस्कृत-छाया— मुहुर्मुहर्मोहगुणान् जयन्तं, अनेकरूपाः श्रमणं चरन्तम्।
स्पर्शाः स्पृशन्त्यसमजसं च, न तेषु भिक्षुर्मनसा प्रदुष्येत् ॥११॥

पद्यानुवाद— बार-बार मोहादि जीतते, सयमपथचारी मुनिजन को।
विविध विषयस्पर्श दु:ख देते, द्वेषलिप्त न करे मन को ॥११॥

अन्वयार्थ— मुहुं मुहुं— बार-बार, **मोहगुणे—** मोह के गुण-शब्दादि विषयो पर, **जयन्त—** विजय प्राप्त करते हुए और, **चरंतं—** सयममार्ग मे विचरण करते हुए, **समणं—** श्रमण को, **अणेगरूवा—** कठोर, कुरूप आदि अनेक प्रकार के, **फासा—** स्पर्श, **असमंजसं—** प्रतिकूलरूप से, **फुसंती—** स्पर्श करते है, अर्थात्- वे परेशान करते हैं, (अत) **तेसु—** उन अमनोज्ञ; प्रतिकूल विषयो पर, **भिक्खू—** साधु, **मणसा—** मन से भी, न **पउस्से—** प्रद्वेष न करे।

विवेचन— मोहगुणे जयत : तात्पर्य- मोहित करने वाले शब्दादि गुणो- विषयो को पराजित कर देने पर भी पुनः पुनः उस पर विजय पाने के लिए प्रयत्नशील।

१. फुसंति— लुधियाना से प्रकाशित।

ण पउस्से : व्याख्या— अमनोज्ञ एवं अरुचिकर शब्द, रूप, रस, गन्ध एव स्पर्श (कर्कश, कठोर आदि) प्राप्त होने पर- हाय ! मर गए ! कब तक ये परेशान करते रहेगे ? इस प्रकार का प्रद्वेषयुक्त विचार न करे; न ही इस प्रकार कहे, और न ही परिहार करे ।

अनुकूल स्पर्श एवं कषाय पर विजय का निर्देश

मूल— मंदा य फासा बहु-लोहणिज्जा, तहप्पगारेसु मणं न कुज्जा ।
रक्खेज्ज कोहं, विणएज्ज माणं, मायं न सेवे, [1] पयहेज्ज [2] लोहं ॥१२ ॥

संस्कृत-छाया— मन्दाश्च स्पर्शा बहुलोभनीयाः, तथा प्रकारेषु मनो न कुर्यात् ।
रक्षेत्क्रोधं विनयेत् मानं, मायां न सेवेत प्रजह्याल्लोभम् ॥१२ ॥

पद्यानुवाद— अनुकूल स्पर्श मन ललचाते, उन पर मन मे न प्रीति धरे ।
कर क्रोध दूर और मान हटा, माया सेवे ना लोभ हरे ॥१२ ॥

अन्वयार्थ—मंदा— हिताहितविवेकीजन को भी मन्द करने वाले- अनुकूल, **फासा य**— स्पर्श-शब्दादि विषय, **बहु-लोहणिज्जा**— बहुत ही लुभावने होते है (साधक) **तहप्पगारेसु**— तथा प्रकार के (उन अनुकूल) विषयो मे, **मणं न कुज्जा**— मन को न लगाए- अर्थात्- मृदु स्पर्श, मधुर रस आदि अनुकूल विषयो पर संकल्प या विचार भी न करे । **कोहं**— क्रोध से, **न रक्खेज्ज**— अपने को बचाए रखे, **माणं**— मान को, **विणएज्ज**— दूर करे, **मायं न सेवे**— माया का सेवन न करे और **लोहं पयहेज्ज**— लोभ का त्याग करे ।

भावार्थ— विचारशक्ति को मन्द करने वाले अनुकूल कामभोगो के स्पर्श बहुत ही लुभावने होते है, संयमी साधक तथाप्रकार के उन मन्दस्पर्शो की ओर मन को जरा भी आकृष्ट न होने दे । अप्रमत्त साधक को चाहिए कि वह क्रोध से स्वयं को बचाए, अहकार को हटाए, माया का सेवन न करे और लोभ का त्याग करे ।

विवेचन— मंदा य फासा : दो व्याख्याएँ— (१) मंद बुद्धि और मंद गति होने से मंदा— स्त्रियॉ, स्त्रीरूप स्पर्श = मंदस्पर्श (२) हिताहितविवेकी पुरुष को भी मंद-शिथिल कर देने वाले स्पर्श-शब्दादि विषय ।

परिचय— पूर्व सूत्र मे प्रतिकूल विषयो के प्रति द्वेष का त्याग बताया गया है, जबकि इस सूत्र में अनुकूल विषयो के प्रति राग का त्याग बताया है ।

---

१. सेवेज्ज— लुधियाना से प्रकाशित ।
२. पहेज्ज— लुधियाना से प्रकाशित ।

अप्रमत्त साधक अन्तिम क्षण तक जागृत रहे

मूल— जे संखया तुच्छ परप्पवाई, ते पिज्जदोसाणुगया परज्झा।
एए अहम्मे त्ति दुगुञ्छमाणो, कंखे गुणे जाव सरीरभेए[1] ॥१३॥
॥त्ति बेमि॥

संस्कृत-छाया— ये संस्कृतास्तुच्छपरप्रवादिनः, ते प्रेमद्वेषानुगता परवशाः।
एतेऽधर्मा इति जुगुप्समान, काक्षेत् गुणान् यावच्छरीरभेद. ॥१३॥
इति ब्रवीमि।

पद्यानुवाद— परवादी सधेय आयु को, रागद्वेषवश हो कहते।
उन धर्मशून्य जन को तज मन से, गुण-अर्जन अन्तिम दम करते ॥१३॥

अन्वयार्थ— जे— जो लोग, **संखया**[2] — कृत्रिमरूप से सस्कृत- सस्कारी है, अथवा सस्कृत भाषा मे पटु है, या जीवन को संस्कृत- सधेय मानते है, **ते—** वे, **तुच्छपरप्पवाई—** तुच्छ (स्वेच्छाचारी होने से निःसार) है और परप्रवादी (दूसरो की निन्दा करने वाले या अन्यतीर्थिक) हैं (तथा) **पिज्जदोसाणुगया—** प्रेय- राग और द्वेष से ग्रस्त है,(इसलिए) **परज्झा—** परवश (रागद्वेष के आधीन) हैं **एए अहम्मे त्ति—** इन्हे धर्मरहित समझकर, **दुगुञ्छमाणो—** उनसे दूर रहे, (और) **जाव सरीरभेओ—** शरीर छूटने तक, **गुणे—** अप्रमत्तभाव से ज्ञानादि गुणो की प्राप्ति की, **कंखे—** आकाक्षा करता रहे। **त्तिबेमि—** ऐसा मै कहता हूँ।

भावार्थ— जो कृत्रिम संस्कारी है, अथवा संस्कृतपटु है, या जीवन को संस्कृत मानते है, वे परप्रवादी तुच्छ (निःसार- तत्त्वज्ञान से शून्य) है, और राग-द्वेष मे फसे होने से परतन्त्र है। उन्हे अधर्मी समझकर उनसे दूर रहे और अन्तिम सॉस तक ज्ञानादि गुणो की आकांक्षा करे।

निष्कर्ष— 'ऐसे धर्मशून्य एव सस्कृतवादी लोगो की छाया से दूर रहकर अन्तिम सांस तक अप्रमत्त रहकर आत्मगुणो की आराधना करे।'

॥असंस्कृत : चतुर्थ अध्ययन समाप्त॥

१. सरीरभेओ— महासभा से प्रकाशित, सरीरभेउ— लुधियाना से प्रकाशित।
२. संखयाः संस्कृतः पाँच व्याख्याएँ—(१) संस्कृत वचन वाले अर्थात् सर्वज्ञवचन में दोषदर्शी, (२) संस्कृत बोलने में रुचि वाले, (३) संस्कृत सिद्धान्तप्ररूपक, (४) संस्कारवादी (बौद्ध एवं साख्य), (५) जीवन को संस्कृत संधेय मानने वाले।

चतुर्थ अध्ययन का परिशिष्ट (कथा भाग)

(१) जराग्रस्त अट्टनमल्ल जब अरक्षित हो गया !

(जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं-अ. ४, गा.१)

उज्जयिनीनरेश जितशत्रु के राज्य मे अट्टनमल्ल सर्वत्र अजेय पहलवान माना जाता था। उसे हराने वाला कोई भी पहलवान आसपास के राज्यो मे नही था।

समुद्रतटीय सोपारक नगर का राजा सिंहगिरि मल्लयुद्ध देखने का बड़ा शौकीन था। वह प्रतिवर्ष अपने नगर मे पहलवानो की कुश्ती का आयोजन कराता और जो पहलवान जीतता, उसे भारी इनाम दिया करता था। अट्टनमल्ल सोपारक नगर के मल्लयुद्ध मे प्रतिवर्ष जाता और दूसरे पहलवानो को कुश्ती मे हराकर अपनी वियजपताका फहराकर और भारी इनाम लेकर लौटता था।

एक बार राजा सिंहगिरि ने सोचा— 'यह अट्टनमल्ल पहलवान प्रतिवर्ष दूसरे राज्य से आकर हमारे देश के पहलवानो को जीत लेता है और उनकी विजयपताका छीनकर अपनी विजयपताका फहराता है, इससे मेरी प्रतिष्ठा को बहुत हानि पहुँचती है। अतः इससे अधिक बलिष्ठ किसी पहलवान की खोज करनी चाहिए, जो इसे कुश्ती मे हरा सके।'

यह सोचकर राजा किसी दूसरे पहलवान को खोजने समुद्रतट पर पहुँचा। वहाँ उसने एक जवान मछुए को देखा, जो अत्यन्त बलिष्ठ और फुर्तीला था। राजा ने बल और स्फूर्ति मे अट्टनमल्ल से अधिक योग्य समझ कर उसे अपने यहाँ रख लिया। फिर उसे खूब खिला-पिलाकर हृष्टपुष्ट बनाया तथा मल्लयुद्ध की शिक्षा दी, जिससे वह अल्पकाल मे ही महामल्ल बन गया। राजा ने उसका नाम रख दिया— मात्स्यिकमल्ल।

इस वर्ष राजा ने फिर सोपारक नगर मे मल्लयुद्ध का आयोजन किया और अट्टनमल्ल जब इस मल्लयुद्ध में सम्मिलित हुआ तो राजा ने मात्स्यिकमल्ल के साथ उसकी कुश्ती करा दी। फलतः बलिष्ठ और युवक मात्स्यिकमल्ल ने अट्टनमल्ल को पछाड़ दिया।

जिस तरह एक हाथी से पराजित होकर दूसरा हाथी चिन्ताग्रस्त हो जाता है, उसी तरह मात्स्तियकमल्ल से पराजित अट्टनमल्ल चिन्ताग्रस्त होकर घर लौटा। घर आकर वह सोचने लगा— 'आज तक मैं किसी भी पहलवान से पराजित नही हुआ, किन्तु इस बार इस मात्स्यिकमल्ल ने मुझे पराजित कर दिया। इसका कारण मेरी समझ में यही है कि मैं अब बूढा हो रहा हूँ और यह अभी जवान है; इसलिए मुझे अपनी एवज मे दूसरा कोई पहलवान तैयार करना चाहिए, जो इससे टक्कर ले सके।

उसने किसी से सुना था कि सौराष्ट्र देश मे अच्छे-अच्छे अनेक पहलवान है। अत वह सौराष्ट्र देश की ओर चल दिया। बीच मे जब वह गुजरात देश पार कर रहा था तो उसने भृगुकच्छ (भरुच) नगर के निकट हरिणी ग्राम की सीमा मे फुर्ती से कपास बोने मे जुटे हुए एक किसान को देखा, जो एक हाथ से जल्दी-जल्दी हल चलाता था और दूसरे हाथ से फलही कपास के पौधो को घास की तरह उखाडता जाता था। अट्टनमल्ल ने उसे बलिष्ठ समझकर उसके आहार एवं नीहार का निरीक्षण कर लेना उचित समझा, और इसके लिए वही रुक गया।

थोडी ही देर मे उस किसान की पत्नी उसके नाश्ते के लिए भात से भरी एक हडिया लेकर आई। किसान ने उस हडिया-भर भात को एक कौर समझ कर देखते ही देखते साफ कर दिया। फिर जिस स्थान पर वह शौच गया था, वहॉ जाकर अट्टनमल्ल ने देखा तो आश्चर्यचकित रह गया। वहॉ बकरी की मीगनी की तरह विष्ठा पडी देखी तो थोडी-सी एव बधी हुई विष्ठा को देखकर पक्का अनुमान कर लिया इसकी जठराग्नि विशेष रूप से उद्दीप्त है। अत· वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यदि मात्स्यिकमल्ल के साथ इसे भिडा दिया जाय तो यह अवश्य ही उसे पराजित कर सकेगा।

यह सोचकर अट्टनमल्ल सायकाल उस किसान के यहॉ पहुँचा और उससे कहा— "आज रात को मै तुम्हारे यहॉ ठहरना चाहता हूँ।" किसान ने सहर्ष स्वीकार कर लिया और उसके ठहरने का प्रबन्ध कर लिया।

जब किसान सोने लगा तो अट्टनमल्ल ने उससे उसकी आय के बारे मे पूछा। इस पर किसान ने कहा— "क्या बताऊँ, कहने योग्य आय तो कुछ भी नही है। बिलकुल निर्धन हू। थोडी-सी खेती है, उस पर अत्यधिक परिश्रम करता हूँ, फिर भी भरपेट भोजन नही मिलता है।"

यह सुनकर अट्टनमल्ल ने कहा— "अगर तुम इस खेती को छोडकर मेरे साथ चलो तो मै तुम्हे थोडे ही दिनो मे मालामाल और बलवान् बना दूँगा।" किसान ने कहा— "मै तुम्हारे साथ चल सकता हूँ बशर्ते कि मेरी पत्नी इसके लिए सहमत हो।" उसकी पत्नी से जब इसके लिए अट्टनमल्ल ने पूछा तो उसने आनाकानी करते हुए कहा— "यह कैसे होगा ? इसके बोये कपास को कौन सम्भालेगा ? नही सम्भालने पर फसल नष्ट हो गई तो हम सबका गुजारा कैसे चलेगा ?" अट्टनमल्ल ने उससे कहा— "तुम्हारे खेत मे जितना कपास होता है, उतने की कीमत मै तुम्हे दे देता हूँ, फिर तो तुम्हे इसे जाने देने मे कोई आपत्ति नही होगी न ?"

इसके पश्चात् जितना मूल्य कृषक-पत्नी ने मांगा, उतना अट्टनमल्ल द्वारा दे दिये जाने पर वह अट्टनमल्ल के साथ अपने पति को जाने देने मे सहर्ष सहमत हो गई ।

यह देखकर अट्टनमल्ल ने विचार किया— 'धन मे कितनी ताकत है, कि इसके बल पर पत्नी अपने पति को प्रसन्नतापूर्वक अपने से जुदा कर सकती है ।'

अट्टनमल्ल उस किसान को लेकर उज्जियनी पहुँचा । अट्टनमल्ल ने उसे अपने यहाँ रखकर विविध पौष्टिक पदार्थ खिला-पिला कर परिपुष्ट बनाया, साथ ही मल्लविद्या मे भी निष्णात बना दिया । इसका नाम भी उसने फलहीमल्ल रख दिया ।

फलहीमल्ल को सब प्रकार से परिपुष्ट और मल्लविद्या मे पारगत देखकर अट्टनमल्ल अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ । दूसरे वर्ष मल्लयुद्ध के अवसर पर अट्टनमल्ल उसे साथ लेकर सोपारकपुर पहुँचा । इस मल्लयुद्ध को देखने के लिए राजा सिहगिरि हजारो पुरवासियों सहित दर्शक के रूप मे उपस्थित हो गए । मल्लो का युद्ध प्रारम्भ हुआ । सबने अपना-अपना मल्लयुद्ध कौशल दिखाकर राजा को प्रसन्न किया । सबसे अन्त मे राजा ने मात्स्यिकमल्ल एवं फलहीमल्ल को अखाडे मे उतरने का आदेश दिया ।

राजा का आदेश पाते ही दोनो पहलवान अपनी-अपनी भुजाएँ फटकारते हुए वीरो के मन को क्षुब्ध करते हुए अखाडे मे उतर पडे । दोनो की जमकर कुश्ती होने लगी । दोनो के चरणाघातों से अखाडे की भूमि थर्रा उठी ।

दोनो पहलवान दांत पीसते हुए सर्वप्रथम परस्पर मुक्कामुक्की पर उतर आए । तत्पश्चात् दोनो अपने-अपने दॉवपेच लगाकर एक दूसरे को नीचे-ऊपर करने लगे । ये दोनो कभी आपस मे मिलते और कभी पतगे की तरह उछल पडते थे । इस प्रकार दोनो पहलवानो ने दर्शको को अपनी मल्ललीला दिखाई । इस प्रकार दोनों पहलवानो मे से किसी की हार या जीत नही हुई । दोनो अखाडे मे बराबर रहे ।

इस स्थिति को देखकर राजा सिहगिरि ने विचार किया— 'ऐसी स्थिति मे इन दोनो पहलवानो की कुश्ती कराना ठीक नही होगा, क्योकि दोनो बराबरी के पहलवान है । अत इनके जय-पराजय का निर्णय किसी और दिन पर रखा जाना ही उचित रहेगा ।' यह सोचकर राजा ने समस्त उपस्थित जनता के समक्ष ऐसी घोषणा करवाई कि "कल फिर इन दोनो पहलवानो का मल्ल-युद्ध होगा ।" यह कहकर राजा अपने सिंहासन से उठकर चला गया, तथा अन्य दर्शक भी अपने-अपने घरो की ओर चल पडे ।

अट्टनमल्ल जब फलहीमल्ल से मिला तो उसने फलहीमल्ल से पूछा— "कहो भाई !

मात्स्यिकमल्ल के साथ हुई कुश्ती मे-तुम्हे कहॉ-कहॉ चोट लगी है ?" अट्टनमल्ल की बात सुनकर जैसे- गुरु से प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाला शिष्य जहॉ-जहॉ दोष लगा है, वह सब गुरु के सामने सरलतापूर्वक शुद्ध हृदय से प्रकट कर देता है, वैसे ही चोट लगने से जहॉ-जहॉ दर्द हो रहा था, वे-वे अङ्ग फलहीमल्ल ने उसे बतलाए । अट्टनमल्ल ने फलहीमल्ल के चोट खाये हुए अङ्गो पर तेल की मालिश की, पानी गर्म करके उससे सेक किया तथा अन्य योग्य उपचार किये, जिससे वह शीघ्र ही स्वस्थ हो गया ।

मात्स्यिकमल्ल से भी राजा ने पूछा— पहलवानजी ! तुम्हारे किस अङ्ग मे चोट आई है ? सो बता दो, ताकि योग्य उपचार कराकर उन्हे ठीक किया जा सके ।" यद्यपि मात्स्यिकमल्ल कुश्ती मे हुए पारस्परिक प्रहार से पीडित हो रहा था, फिर भी गर्व से बोला— "मुझे कही चोट नही आई है । भला, मेरे जैसे वीर के कही चोट आ सकती है ? वह फलहीमल्ल मेरे सामने किस खेत की मूली है ! आप देखना, कल ही मै उसे पछाड दूँगा । मेरे सामने वह क्या टिक पाएगा ?"

दूसरे दिन दोनो पहलवानो का पुनः मल्लयुद्ध प्रारम्भ हुआ । दर्शकजन बहुत बडी संख्या मे देखने के लिए आए थे । आज भी दोनो मे से किसी की हार या जीत नही हुई । तीसरे दिन फिर दोनो पहलवान परस्पर भिडे । आज मात्स्यिकमल्ल अत्यन्त थका हुआ था । अतः मात्स्यिकमल्ल हार गया और फलहीमल्ल को विजयी घोषित कर दिया गया ।

पराजित मात्स्यिकमल्ल ने द्वेषवश रात्रि मे सोये हुए फलहीमल्ल का सिर काट डाला । प्रात अट्टनमल्ल को इस बात का पता लगा तो वह बेचारा दु:खित होकर अकेला उज्जयिनी लौट आया ।

बुढापे के कारण हारे-थके अट्टनमल्ल ने अब मल्लयुद्ध करना छोड दिया । वह अब घर पर ही रहने लगा, परन्तु घर मे बेकार पडे रहने के कारण अब घरवाले उसका अनादर करने लगे । घर वालो का रूखा रवैया देखकर उसके हृदय को गहरी चोट लगी । वह उज्जयिनी छोड़कर कौशाम्बी नगरी मे आकर रहने लगा । वहॉ रहकर उसने लगातार एक वर्ष तक रसायन का सेवन किया, इससे वह पुन हृष्ट-पुष्ट हो गया । अत उज्जयिनी नरेश के द्वारा प्रतिवर्ष आयोजित होने वाले मल्लयुद्ध मे उसने भाग लिया । प्रसिद्ध राजमान्य निरगण नामक पहलवान से कुश्ती लडकर अट्टनमल्ल ने उसे हरा दिया; किन्तु जीत जाने पर भी राजा ने अट्टनमल्ल की प्रशसा नही की । राजा का रवैया देखकर दर्शको मे से किसी ने भी उसकी प्रशंसा नही की ।

ऐसी स्थिति तथा सबको चुप्पी साधे देख अट्टनमल्ल ने पक्षियों को सम्बोधित करते हुए कहा— "ऐ पक्षियो ! ये कोई न बोले तो तुम ही कह दो कि अट्टनमल्ल ने निरंगणमल्ल को पराजित कर दिया है ।" अट्टनमल्ल की बात सुनते ही प्रसन्न होकर राजा ने कहा— "यह अट्टनमल्ल भी तो मेरा ही मल्ल है ।" इस प्रकार प्रसन्न होकर राजा ने अट्टनमल्ल को बहुत सा धन देकर विदा किया ।

अट्टनमल्ल के स्वजनो ने जब यह सुना कि राजा ने अट्टनमल्ल का बहुत सत्कार किया है और बहुत ही द्रव्य पुरस्कार में दिया है, जिसे लेकर वह आ रहा है, तो वे सब उसकी अगवानी के लिए उसके सम्मुख गए और उसका बहुत ही आदर सत्कार किया । अपने स्वजनो द्वारा इतना आदर सत्कार करते देख उसे पहले की स्थिति याद आ गई । वह सोचने लगा— यह सत्कार मेरा नही, धन-वैभव का है, जब मै निर्धन हो जाऊँगा तो ये ही लोग मेरा अनादर करने लगेगे । अतः न तो यह धन मेरी रक्षा कर सकेगा और न ही ये स्वजन ! अब तो बुढापा भी मेरे शरीर को धीरे-धीरे शिथिल बना रहा है । एक बार जराजीर्ण हुए इस शरीर को औषध और रसायन पुनः तरुण नही बना सकते । कहा भी है—

"मनुष्यो के पास कोई भी ऐसी दवा नही है, जो वृद्धावस्था से शिथिल हुए इस शरीर को पुन. नई जवानी के जोश से सशक्त बना सके ।

कालशत्रु के द्वारा प्रयुक्त वृद्धत्वरूपी अस्त्र के शरीर मे लगने पर कोई भी स्वजनरूपी बख्तर उसे बचाने या हटाने मे समर्थ नही है । इससे बचाने मे यदि कोई समर्थ है तो एक मात्र धर्म ही है । वह जीव का सदा संरक्षण करता है ।"

अतः अट्टनमल्ल ने दृढ़ निश्चय कर लिया कि बुढापे से यह शरीर शिथिल हो, उससे पहले ही मुझे धर्माचरण के लिये मुनिधर्म मे प्रव्रजित हो जाना चाहिए । अब जरा भी विलम्ब करना ठीक नही । इस निश्चय के अनुसार अट्टनमल्ल ने यथाशीघ्र निर्ग्रन्थ गुरु से भागवती दीक्षा-ग्रहण कर ली ।

— उत्तराध्ययन, अ. ४, गा. १

(२) लोभवश पापकर्मों से उपार्जित धन दुःख का कारण

(जे पावकम्मेहिं धणं मणुस्सा. ..... अ. ४, गाथा २)

किसी नगर में एक चोर रहता था । उसने अपने घर मे एक बडा कुआ खोदा । वह रात को नागरिको के घरो में सेध लगाकर प्रचुर धन लाता और उस कुए मे डाल देता । उसने यथावसर प्रचुर धन देकर किसी की सुन्दर कन्या के साथ विवाह कर लिया । उस स्त्री से

एक बालक हुआ, तब चोर ने सोचा— 'यह बडा होगा, तब मेरे घर मे रखी हुई सम्पत्ति की गुप्त बात दूसरो से कह देगा, तो भारी अनर्थ होगा। अत· जन्मते ही इसे मार डालना उचित है। परन्तु इस बालक की माता जीवित होगी, तब तक मुझसे यह बच्चा मारा नही जा सकेगा।' यह सोचकर उसने स्त्री और बच्चा दोनो को मार कर उसी कुएँ मे डाल दिये। इसके पश्चात् फिर उसने प्रचुर धन खर्च करके दूसरी स्त्री के साथ विवाह किया। उसके भी जब बच्चा हुआ तो पहले की तरह माता-पुत्र दोनो को मार कर कुएँ मे डाल दिये। इस प्रकार उस चोर ने धन लोलुपतावश अनेक स्त्री बच्चो को मार डाले।

अन्त मे, उसने एक अत्यन्त रूपवती स्त्री के साथ विवाह किया। चोर उसके रूप पर इतना मोहित था कि उससे एक पुत्र हुआ, उसे उसने मारा नही। धीरे-धीरे पुत्र आठ वर्ष का हो गया। एक दिन उस चोर ने विचार किया कि इस स्त्री के रूप मे आसक्त होकर मैंने इसे तथा इससे उत्पन्न हुए बच्चे को अभी तक मारा नही, यह ठीक नही किया। अत· अब सर्वप्रथम इस स्त्री को उसके पश्चात् पुत्र को मार डालना चाहिए। यो सोचकर उसने उस स्त्री को मार कर कुँए मे डाल दिया; माता की करुण हत्या देखकर भयभीत बालक घर से बाहर आकर जोर-जोर से रोने लगा। लोगो ने उससे रोने का कारण पूछा तो उसने कहा- "मेरे पिता ने मेरी माँ को मारकर कुँए मे डाल दिया है।" यह खबर सुनते ही तुरन्त पुलिस दल वहाँ आ पहुँचा और उस चोर को पकडकर राजा के पास ले गया। राजा ने उसके द्वारा की गयी चोरी और हत्या का समस्त वृत्तान्त सुनकर उसके गृहस्थित कुँए मे से सारा धन निकलवाया और जिस-जिस नागरिक का था उसे वापिस दिलाया फिर उस चोर को बडी बुरी तरह से यातना देकर मृत्युदण्ड दिया।

चोर आर्त्तध्यानपूर्वक मरकर नरक मे गया।

अतः पापकर्मों से उपार्जित धन तथा उसका लोभ मनुष्य के लिए इस लोक और परलोक दोनों मे दुःख का कारण होता है।

— उत्तराध्ययन अ. ४, गा.२

(३) पापकर्म की प्रशंसा भी अनर्थ की जड़

(जे पावकम्मेहि धणं मणुस्सा. अ. ४, गा. २)

दुर्मति चोर भयंकर से भयंकर दुर्गम स्थानो से चोरी करने मे बडा दक्ष था। एक बार उसने एक धनिक के बहुत ही ऊँचे महल मे सेध लगाकर चोरी की, जिस पर चढना अत्यन्त कठिन था। चोर बड़ी शिफ्त से सेध मे से अन्दर घुसा, वहाँ से बहुत-सा धन बटोरा एवं उसे

लेकर फिर उसी सेंध से बाहर निकला और घर आकर सो गया।

प्रातः काल जब मकान मालिक जागा और उसे अपने यहाँ से बहुत-धन-माल चुराये जाने का पता लगा तो वह गला फाड़कर जोर-जोर से रोने लगा। रोने की आवाज सुनकर गाँव भर के लोग इकट्ठे हो गये। चोर ने मन ही मन सोचा कि वहाँ चलकर देखूं— 'सुनूं तो सही कि गाँव के लोग इस चोरी के बारे मे क्या कहते है ?' यह सोचकर वह चोर भी भद्रवेष मे घटनास्थल पर आ पहुँचा, जहाँ बहुत से लोग एकत्रित थे। वह कान लगा कर सुनने लगा। लोग कह रहे थे— 'अहो ! इतने ऊँचे मकान पर कैसे तो चोर चढ़ा होगा और कैसे यह सेध लगाई होगी, फिर कैसे वह इस छोटे से छिद्र मे से होकर घुसा होगा और कैसे यहाँ से बहुत-सा धन-माल लेकर वापस इसी छिद्र मे से होकर बाहर निकला होगा ? चोर का ऐसा अद्‌भुत् पराक्रम एवं कौशल देखकर बडा आश्चर्य होता है। आप लोग सोचिये तो सही कि यह सब कैसे हुआ होगा ?"

चोर ने जब उपस्थित लोगो के मुख से अपने बारे मे प्रशंसात्मक उद्गार सुने तो वह मन ही मन अत्यन्त प्रसन्न हुआ और विचार करने लगा कि 'इन लोगो का कहना बिलकुल ठीक है। इस छोटे-से छेद मे से कैसे तो मैं भीतर घुसा और धनमाल-सहित कैसे मै यही से बाहर निकला ? यह तो आश्चर्यजनक है। यो सोचते-सोचते कभी तो वह अपनी कमर को, कभी पेट को और कभी अपनी छाती को देखने लगता; और इन सबके बाद व सेध के मुख को देखने लगता।'

चोर की इस प्रकार की शंकास्पद चेष्टाएँ देखकर वहाँ आए हुए राजपुरुषो को तथा उपस्थित लोगो को पक्का विश्वास हो गया कि यही असली चोर है। ऐसा निश्चय करके राजपुरुषो ने उसे गिरफ्तार किया और राजा के समक्ष उपस्थित किया।

राजा ने उसके पिछले और वर्तमान चौर्यकर्म का सारा वृत्तान्त सुना। उस पर से उसके चोर होने की प्रतीति होने से राजा ने उसे मृत्युदण्ड दिया।

निष्कर्ष यह है कि चोरी आदि पापकर्मों से धन बटोरना जैसे भयंकर कर्मबन्ध का कारण है, वैसे ही उक्त पापकर्म की प्रशसा करना, या प्रशसा सुनकर मन ही मन फूलना भी अनर्थ का मूल है। अतः पापकर्म की प्रशसा या प्रसन्नता से भी दूर रहना चाहिए।

— उत्तराध्ययन अ. ४, गाथा २

(४) चौर्यकला ही उसकी प्राणहारिणी बनी

(तेणे जहा संधिमुहे गहीए, अ.४, गा. ३)

बगदेश का एक चोर चौर्यकला मे पूर्ण दक्ष था। उसने अपनी जिन्दगी मे सैकडो चोरियाँ की, परन्तु कभी सरकार द्वारा गिरफ्तार नही किया जा सका। उसे अपनी कला और शिफ्त का बहुत अभिमान था। उसका यह दावा था कि मुझे कोई पकड नही सकता। उसकी चौर्यकला मे यह खूबी थी कि वह चोरी करने से पहले अपने औजारो से दीवार मे कमल की या इसी प्रकार की कोई कलापूर्ण आकृति बनाकर मकान मे प्रवेश करता था। इसलिए उसके द्वारा चोरी किये जाने के बाद लोग क्या चुराया ? इसकी चर्चा करने से पहले उसके द्वारा उत्कीर्ण कमल आदि की कलापूर्ण आकृति को देखकर पूछा करते— 'अजी ! चोर इसमे से होकर मकान मे कैसे घुसा होगा ? अहा ! कोरणी कितनी बढिया की है !' इस तरह नगर मे चोरी से अधिक उसकी कला की बात फैल जाती थी।

उक्त कलाकार चोर— मेरे बाद मेरी सन्तान भी चौर्यकला मे दक्ष हो, इस विचार से अपने पौत्र को भी चोरी के समय साथ ले जाने लगा।

एक दिन उसने एक बहुत बडे धनाढ्य के मकान मे सेध लगाई। दीवार मे कलापूर्ण कमल की आकृति का छेद उत्कीर्ण करके वह ज्यो ही अन्दर घुसने लगा, खर् खर् की आवाज से मकान मालिक सावधान होकर उठ बैठा। इधर चोर ने भीतर घुसने से पहले अपने पौत्र से कहा— "बेटा ! सावधान रहना, मै इस उत्कीर्ण कमल मे से होकर ही अन्दर घुसता हूँ।" यो कहकर चोर ने सबसे पहले ज्यो ही अपने पैर अन्दर घुसाए, त्यो ही गृहस्वामी ने उसके दोनो पैर कसकर पकड लिए। चोर ने अपने पौत्र से कहा— "बेटा ! मै आज पकडा गया हूँ, तू उधर मजबूती से मुझे पकडे रखना।" धनिक के आदमियो ने भीतर से कमर तक खीच लिया। फिर दोनो ओर से खीचातानी मे चोर इतना बुरा फंस गया कि कमल की कोरणी के तीखे नोकदार किनारे उसकी आतो मे घुस गये। चोर ने देखा कि अब मेरा बचना कठिन है तब उसने अपने पौत्र से कहा— "बेटा ! मै तो अब थोडी देर का मेहमान हूँ। मेरे कारण तुम सबके प्राण न जाएँ, इसलिए तुम मेरी गर्दन मत छोडना।" उसने भी जब यह देखा कि 'उजाला होने लगा, हम सब पकडे जाएँगे'; अत एक हाथ मे चोर की चोटी पकडी और यह कहकर कि 'दादा ! अब भगवान् को याद कर लो'; दूसरे हाथ से तलवार पकडकर एक ही झटके में उसका काम तमाम कर दिया। मरते समय चोर बोला— 'हाय री कला, तूने कटा दिया मेरा गला !'

इस प्रकार चोर की कला ने चोर के प्राण लिए।

प्रत्येक जीव अपने कर्म से ही दुःख पाता है, अतः कर्मबन्ध के कारणो से बचना ही श्रेयस्कर है।

— उत्तराध्ययन अ. ४, गा. ३

(५) स्वजन कर्मफलभोग में हिस्सेदार नहीं होते

(कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले ..... अ. ४, गा. ४)

वसुमती नगरी का वणिक् धनमित्र एक छोटी-सी दुकान करके अपनी आजीविका चलाता था। उसकी दुकान पर प्रायः भोले-भाले ग्रामीण स्त्री-पुरुष सौदा लेने आते थे। एक दिन एक भोली-भाली ग्वालिन धनमित्र की दुकान पर आई और उसने उसके हाथ मे दो रुपये देते हुए कहा— "मुझे दो रुपये का कपास दे दीजिए।" धनमित्र ने दो रुपये लेकर उसे एक रुपये का कपास दो बार तौलकर दे दिया। भोली-भाली ग्वालिन धनमित्र वणिक् की इस चालाकी को समझ न सकी। उसने समझा कि 'बनियो ने कपास दो बार तौला है, इसलिए मुझे दो रुपये का ही कपास दिया है।' वह कपास लेकर घर चली आई।

उसके चले जाने पर वणिक् ने सोचा— 'आज का दिन मेरे लिए बहुत ही भाग्योदय का है कि मुझे मुफ्त का एक रुपया मिला है। अत. आज मै इस रुपये का उत्तम भोजन बनवाकर उपभोग करूँगा।' उसने उस एक रुपये की घी, शक्कर आदि सामग्री लेकर अपने घर भेजी और अपनी पत्नी को कहलाया कि "आज इस सामग्री से घेवर बनाना।" पत्नी ने घेवर तैयार कर दिये। इतने मे उसका दामाद अपने मित्रो के साथ किसी कार्यवश उसके यहाँ आ गया। वणिक्-पत्नी ने अपने दामाद तथा उसके मित्रो की थाली मे घेवर परोस दिये। दामाद और उसके मित्र घेवर का भोजन करके तुरन्त वहाँ से चले गये।

यथासमय धनमित्र वणिक् अपने घर भोजन के लिए आया। वह रसोईघर मे भोजन की थाली पर बैठा तो पत्नी ने उसकी थाली मे प्रतिदिन की तरह साधारण भोजन परोस दिया। यह देखकर वणिक् ने पूछा— "क्या आज घेवर नही बनाए ?" उसकी पत्नी ने कहा— "बनाये तो थे, किन्तु दामाद अपने इष्ट मित्रों के साथ आ गये थे, उन्हे तत्काल जाना था, इसलिए मैंने उनकी थाली मे सभी घेवर परोस दिये थे।" यह सुनकर धनमित्र ने सोचा— 'अरे ! व्यर्थ ही मैंने उस ग्वालिन को ठगा। मुझे तो उसका कुछ भी लाभ नही हुआ। मैंने तो दूसरो के लिए यह पापकर्म किया, किन्तु इस वंचन के पाप का फल तो मुझे ही भोगना पड़ेगा।' उसके चिन्तन की धारा आगे बढी— 'ओ हो ! मै कितना मूर्ख हूँ कि मैंने यह सोचकर वंचन का पाप किया था कि चलो, इस मुफ्त मे आए हुए रुपये का माल उड़ाऊँगा। परन्तु मुझे तो कुछ भी हाथ न लगा, सिर्फ पाप ही मेरे सिर चढा, जिसका फल उदयकाल मे मुझे ही भोगना पड़ेगा, उसमे

दूसरा कोई भी हिस्सेदार नही होगा। ससार मे वे लोग मूढ है, जो स्त्री, पुत्र आदि के निमित्त पापकर्म कमाते रहते है।"

यो चिन्तन करता-करता वणिक् धनमित्र घर से बाहर निकल गया। ग्रीष्मऋतु का समय था, मध्याह्नकाल था। बहुत तेज धूप पड रही थी। वह शरीर चिन्ता से निवृत्त हुआ और गर्मी से घबराकर वही एक वृक्ष की ठंडी छाया मे विश्राम पाने के लिए बैठ गया। इसी समय एक मुनि वहाँ से होकर जा रहे थे तो वणिक् ने उनसे कहा— 'मुनिवर! थोडी देर इस वृक्ष की छाया मे बैठकर विश्राम ले लीजिए।' मुनि ने कहा— "मुझे अपने एक आवश्यक कार्य के लिए शीघ्र जाना है, इसलिए मै विश्राम नही लूँगा।" मुनिराज के वचन सुनकर वणिक् ने पूछा— "मुनिवर! दुनिया मे क्या कोई व्यक्ति पर-कार्य के लिए भी जाता है। (अर्थात्-उद्यम करता है)?" ज्ञानी मुनिराज ने कहा— "हाँ, ससार मे अनेक जीव ऐसे है, जो पर के निमित्त से नाना दुःख उठाते है। तुम भी अपने स्वजनो के लिए जो दु ख उठा रहे हो, वह सब पर का ही तो कार्य है।"

मुनिराज के ये मार्मिक वचन सुनकर धनमित्र वणिक् के हृदय की आँखे खुल गई। वह प्रतिबुद्ध हो गया।

उसने मुनिवर से कहा— "पूज्यवर! आप कहाँ ठहरे है?" मुनि ने कहा "यही निकटवर्ती उद्यान मे!" यह कहकर मुनिवर वहाँ से चल दिये। वणिक् उनके वापस लौटने की प्रतीक्षा मे वही बैठा रहा। जब मुनिराज आवश्यक कार्य से निवृत्त होकर वापस लौटे तब वणिक् उनके साथ-साथ उद्यान मे पहुँचा। वहाँ मुनिराज से उसने धर्मोपदेश सुना तो उसका अन्त करण वैराग्य से परिपूर्ण हो गया। उसने मुनिराज से कहा— 'गुरुदेव! मुझे अब ससार से, स्वजन-धन एव भोग साधनो से विरक्ति हो गई। मुझे आपके चरणो मे दीक्षित होना है। अत· मै अपने स्वजनो की अनुमति लेकर आता हूँ, तब तक आप यही विराजे रहे।"

घर आकर धनमित्र वणिक् ने अपने पत्नी और स्वजनो से कहा— "मुझे यहाँ इस दुकान से बहुत ही थोडा लाभ हो रहा है, अतः परदेश जाकर कोई बडा व्यापार करना चाहता हूँ ताकि मुझे विशेष लाभ हो। यहाँ मुझे दो सार्थवाह मिले है। उनमे से एक सार्थवाह तो ऐसा है, जो हमे मूल पूँजी देता है, और यथेच्छ स्थान पर पहुँचा देता है तथा उस पूँजी से व्यापार करने पर जो लाभ होता है, उसमे से कुछ भी नही लेता। जबकि दूसरा सार्थवाह ऐसा है, जो हमे मूल पूँजी नही देता तथा साथ मे रहकर समस्त उपार्जित द्रव्य को वही हडप जाना चाहता है। अब आप सब बताएँ कि मुझे इन दोनो सार्थवाहो मे से किस सार्थवाह के साथ

जाना चाहिए ?" सबने एक स्वर से कहा— "इसमे पूछने की क्या बात है ? आपका पहले सार्थवाह के साथ जाना ही उचित है ।"

इस पर वह वणिक् समस्त स्वजनो को लेकर उस उद्यान मे आया, जहाँ मुनि विराजमान थे । उसने मुनि को बताकर स्वजनो से कहा— "देखो, ये मुनिराज मुक्तिपुरी के सार्थवाह है । ये अपना धर्मरूप मूलधन देकर मुमुक्षु मनुष्यो से धर्म का व्यापार करवाते है और मुक्तिपुरी को ले जाते है । ये उपार्जित धर्मधन मे से कुछ भी हिस्सा नही मांगते, न लेते है । अत. मै इन्ही के साथ सिद्धपुरी जाना चाहता हूँ । दूसरे सार्थवाह— ये स्त्री-पुत्रादि स्वजन है जो पूर्वपार्जित धर्मधन को भी हरण कर लेते हैं तथा अपना कुछ भी नही देते । आप सबने मुझे पहले सार्थवाह के साथ जाने की अनुमति दे दी है । अतः मै आप सबके कथनानुसार अपने स्वजनो के मोह ममत्व को त्यागकर इन मुनिरूप मुक्तिपुरी के सार्थवाह का आश्रय लेता हूँ ।"

इस प्रकार धनमित्र वणिक् ने स्वजनो की अनुमति पाकर उक्त मुनिवर से मुनिधर्म की दीक्षा ग्रहण करके स्वपर-कल्याण किया ।

जिस प्रकार धनमित्र वणिक् ने बन्धु-बान्धवो के मोह का परित्याग कर मुनिधर्म अङ्गीकार करके दोनो लोको मे स्वाधीन आत्मसुख प्राप्त किया; उसी प्रकार प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति को स्वजन-मोह परित्याग करके शुद्ध-धर्म की आराधना करके परमसुख को प्राप्त करना चाहिए ।

— उत्तराध्ययन अ.४, गाथा ४

(६) सर्वस्व धन भी रक्षा करने में असमर्थ

(वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते.....अ. ४, गाथा ५)

एक दिन नगर के बाहर इन्द्रमहोत्सव मनाया जाने वाला था । इसलिए लक्ष्मीपुर नगर । राजा श्रीदत्त अपने अन्तःपुर सहित इन्द्रमहोत्सव मे भाग लेने जा रहा था । जाते समय राजा ने नगर मे यह घोषणा करवा दी कि 'नगर के बाहर आज इन्द्रमहोत्सव है । अत. समस्त नगरनिवासी इन्द्रमहोत्सव मे सम्मिलित हों । जो नगर मे ही रहेगा, इन्द्रमहोत्सव मे शामिल नही होगा, उसे इस अपराध का भयंकर दण्ड दिया जाएगा ।'

राजा की ओर से हुई इस घोषणा को सुनकर समस्त नगरनिवासी नगर के बाहर इन्द्रमहोत्सव मे भाग लेने पहुँचे, परन्तु राजमान्य पुरोहितपुत्र इस घोषणा को सुनकर भी वेश्या के यहाँ चला गया । जब वह वहाँ से निकला तो राजपुरुषो ने उसे नगर मे देखकर पकड लिया । उसके मन मे यह गर्व था, कि मेरे पिता राजपुरोहित है तथा राजा के मित्र है, इसलिए

वह घमण्ड मे आकर राजपुरुषो से वाद-विवाद करने लगा। राजपुरुषो ने जब उसका यह उद्धत व्यवहार देखा तो वे उसे पकडकर राजा के पास ले आए। राजा ने जब यह वृत्तान्त सुना कि इसने जान-बूझकर मेरी आज्ञा की अवहेलना की है तो कुपित होकर उसे फॉसी पर चढाने का आदेश दे दिया। राजपुरोहित ने जब यह जाना कि मेरे पुत्र को फॉसी की सजा सुनाई गई है तो वह हक्का-बक्का होकर दौडा हुआ राजा के पास आया और सविनय निवेदन करने लगा—' राजन्! दण्ड के रूप मे आप मेरा सर्वस्व धन ले ले, परन्तु मेरे इकलौते प्रिय पुत्र को प्राणदण्ड से मुक्त कर दे, और उसका अपराध क्षमा कर दे।" परन्तु राजा ने राजपुरोहित की एक न मानी। फलस्वरूप पुरोहित-पुत्र को जीवन से हाथ धोना पडा। धन किसी भी हालत मे उसकी रक्षा न कर सका।

अत: जिस प्रकार सर्वस्व धन भी पुरोहित-पुत्र की रक्षा करने मे असमर्थ रहा, इसी प्रकार प्रचुर धन-सम्पदा भी प्राणी को दुष्कर्मो का फल भोगने से बचा नही सकती।

— उत्तराध्ययन, अ. ४, गाथा ५

(७) दीपक बुझते ही अंधेरे में भटक गए

(दीवप्पणट्ठेव अणंतमोहे.....अ.४, गाथा ५)

एक विशाल पर्वत था। उस पर कई धातुवादी पुरुष रहा करते थे। एक बार वे जलता हुआ दीपक लेकर पर्वत की एक गाढ अन्धकार-व्याप्त गुफा मे प्रविष्ट हुए। जब वे उसमे काफी दूर तक घुस चुके तो अचानक उनकी असावधानी से वह दीपक बुझ गया। दीपक बुझते ही चारो ओर घोर अन्धकार छा गया। अब वहॉ हाथ को हाथ भी नहीं सूझ रहा था। वे जिधर से आए थे, उस मार्ग को भी उन्होने बहुत देर तक बार-बार ढूॅढने का प्रयास किया, लेकिन वह भी नही मिल सका। इसलिए अब वे न तो गुफा से बाहर निकल सकते थे, और न ही गुफा मे आगे बढ सकते थे। अत: वे सब बेहद घबरा गये, और अधीर होकर चारो ओर घूमने लगे, मगर मार्ग का कुछ भी पता न लगा।

इतने मे ही उन्हे एक भयकर जहरीले सर्प ने आकर डस लिया। सर्प के भयकर विष से वे सब चेतनाशून्य होकर गुफा के भीतर ही एक गड्डे मे गिर पडे और वही पर सबने दम तोड दिया।

साराश यह है कि जिस प्रकार उन धातुवादी लोगो ने गुफा मे घुसते समय मार्ग देख लिया था, किन्तु प्रमादवश दीपक के बुझ जाने से अधकार मे भटक गये, मार्ग न मिला। आखिर अन्धकारविमूढ बनकर गड्डे मे गिर कर मर गये, उसी प्रकार कोई प्राणी मोहकर्म के

क्षयोपशम आदि के कारण सम्यक्त्वदीपक के प्रकाश मे मोक्षमार्ग देख भी ले, किन्तु धनादि पदार्थो के मोहरूप प्रमाद से जब उसका ज्ञानरूपी प्रकाश नष्ट हो जाता है, और वह मिथ्यात्वरूपी अन्धकार से घिर जाता है, तब वह जीव दिङ्मूढ़ होकर लोभरूपी सर्प द्वारा डसा जाकर कुगतिरूप गड्ढे मे गिरकर समाप्त हो जाता है। फिर सम्यक्त्वदीपक द्वारा उसका पहले देखा हुआ भी मोक्षमार्ग ज्ञात नही होता।

— उत्तराध्ययन अ. ४.५

(८) तब तक ही शरीर का रक्षण-पोषण करे

('लाभंतरे जीविय बूहइत्ता, पच्छा परिण्णाय मलावधंसी।' अ. ४, गाथा ७)

बेनातट नगर मे मण्डक नाम का चोर रहता था। उसने सडक के किनारे अपनी दुकान लगा रखी थी, जिसमे दिन मे बैठकर वह तुन्नवाय का (कपडो को रफू करने का) काम करता था। वह अपने पैरो पर कपडे की पट्टी बॉध कर लोगो को विश्वास दिलाने के लिए कहता था— "मेरे पैरो मे घाव हो गए है, इसलिए पैरो पर कपड़े बॉधे रखता हूँ।" जब रात पडती तो वह धनाढ्य सेठो के घरो मे सेध मारकर चोरी किया करता था। चोरी से जो कुछ धन-माल मिलता उसे लेकर वह नगर के बाहर बगीचे मे बने हुए अपने एक भूमिगृह मे डालता था।

उस भूमिगृह में मालती नामक उसकी युवती बहन रहती थी। भूमिगृह के भीतर एक कुऑ बनाया हुआ था, जो सतत ढका रहता था। मण्डक चोर जब किसी मजदूर के सिर पर माल की गठरी लाद कर उसी भूमिगृह मे ले आता और आदरपूर्वक उसी कुएँ के ढक्कन पर बिठा देता था। कुछ ही देर मे उसकी रूपवती युवती बहन मालती उसके पैर धोने के बहाने से वहॉ आती और बातो ही बातो मे उसके पैर पकड़कर कुंए में धकेल देती थी।

इस प्रकार धनहरण करते और असहाय व्यक्ति को कपटपूर्वक कुंए में धकेलते काफी अर्सा बीत गया। मण्डक ने सारे नगर को निर्धन और भयभीत कर दिया। नगररक्षक चोर की तलाश मे रात-दिन घूमते थे, परन्तु चोर का कही भी पता नही लग रहा था। मण्डक चोर के त्रास से अत्यन्त दुःखित नगरवासियो ने तत्कालीन राजा मूलदेव के पास जाकर पुकार की— "राजन्! पता नहीं, कौन-सा ऐसा चोर है, जो नगर भर का धन हरण कर रहा है। हम लोग निर्धन होते जा रहे है, मगर चोर का अभी तक कुछ भी पता नहीं चला, और न ही वह पकड़ा गया है। अतः आप शीघ्र हमारी सुरक्षा की व्यवस्था करें, ताकि हम लोग शान्ति से रह सके।'

प्रजाजनो की करुण पुकार सुनकर राजा ने कहा— "आप लोग घबराएँ नही । मै स्वय उस चोर की तलाश करूँगा, और शीघ्र ही उसे पकड कर दण्डित करूँगा ।" यो कहकर राजा ने नगरजनो को विदा किया ।

इसके बाद सर्वप्रथम राजा ने पहले के नगररक्षक के स्थान पर नये नगररक्षक की नियुक्ति कर दी, किन्तु फिर भी वह भी चोर को पकड नही पाया ।

राजा ने जब यह देखा कि चोर का किसी भी तरह पता नही चल रहा है तो स्वय ने चोर को पकडने का बीडा उठाया । राजा ने अपने सारे शरीर को नीले कपडे से ढक लिया और वेष बदल कर नगर मे जितने भी शकास्पद स्थान थे, उन-उन स्थानो मे घूमने लगा । ऐसा करते हुए राजा को बहुत दिन हो गए, मगर चोर का कुछ भी पता नही लगा ।

एक दिन राजा घूमते-घूमते अत्यन्त थक गया था, इसलिए किसी मकान की छाया मे सो गया । सयोगवश मण्डक चोर वहाँ आया और सोये हुए राजा को उठाकर पूछने लगा— "कौन हो तुम ?" राजा ने कहा— मै एक भिखारी हूँ । बोलो, तुम्हे क्या काम है ? यह सुनकर चोर ने कहा— "काम तो कुछ नही है, किन्तु जब तुम भिखारी हो तो आओ, मेरे साथ चलो । मै तुम्हे आज ही धनाढ्य बना देता हूँ ।"

राजा उस चोर के पीछे-पीछे दास की तरह चलने लगा । चलते-चलते चोर जब एक धनिक के मकान के पास पहुँचा तो उसने भिक्षुक वेषधारी राजा से कहा— "तुम यही ठहरो । मै अभी आता हूँ ।" यो कहकर चोर धनिक के मकान मे सेध लगाकर उसमे से होकर भीतर घुस गया । वहाँ जितनी भी सारभूत वस्तुएँ थी, उन सबको एक गठडी मे बाँध कर चोर भिक्षुक नामधारी राजा के पास आया और गठडी उसके सिर पर लाद दी । फिर उस भिक्षुक वेषधारी राजा को आगे करके स्वय पीछे चलने लगा । जब बगीचे मे बने हुए भूमिगृह के पास आ गए तो चोर ने सकेत से राजा को प्रवेश कराया और फिर स्वयं घुसा ।

भूमिगृह मे प्रवेश करते ही चोर ने राजा के मस्तक से गठडी उतार कर एक ओर रखवा दी; फिर अपनी बहन से कहने लगा— "बहन ! इस अतिथि के पैर धो दो ।" यह बात सुनकर उसने अतिथि को कुएँ पर रखी एक चौकी पर बिठा दिया और दोनो चरणों को धोने लगी । अतिथि के चरण स्पर्श करने पर उसे मालूम हुआ कि इसके पैर विशेष कोमल है इसलिए यह मजदूर नही हो सकता । हो न हो, यह कोई सत्पुरुष है; क्योकि इसके पैर बतलाते हैं कि यह पहले कभी राज्यलक्ष्मी का उपभोग कर चुका है, जो बचपन से भार ढोते है, उनके पैर इतने सुकोमल नही हो सकते । अत मालती ने मन ही मन निश्चय किया कि मै इसे कुएँ मे

नही धकेलूँगी।

फिर उसने आगन्तुक व्यक्ति-विशेष(राजा) से कहा— "मैने अतिथि के चरण-प्रक्षालन के बहाने से अनेक मनुष्य इस कुएँ मे धकेल दिये है, किन्तु आपको धकेलने का साहस नही होता। पता नही क्यो, मेरा आकर्षण धीरे-धीरे आपके प्रति बढता जा रहा है, मै आपके वश मे होती जा रही हूँ। अतः आप यहाँ से शीघ्र निकल जाइए। नही तो हम दोनो का मरण यहाँ निश्चित है।"

यह सुनते ही राजा शीघ्र ही वहाँ से निकलकर बाहर राजपथ पर आ गया। मण्डक उस समय चुराये हुए धन को व्यवस्थितरूप से रखने मे व्यस्त था।

राजा के चले जाने पर मण्डक ने अपनी बहन से पूछा— "वह भारवाहक कहाँ गया ?" वह बोली— "वह तो यहाँ से निकल गया।" यह सुनते ही मण्डक तलवार लेकर उसे पकड़ने के लिए पीछे-पीछे दौडा।

मण्डक चोर को तलवार लिए हुए अपने पीछे-पीछे दौडकर आते देख राजा ने सोचा- 'अब तो यह मेरे बहुत ही निकट आ गया है, दौडकर इससे बच पाना कठिन है। अत. शिफ्त से बचने का प्रयत्न करना चाहिए।' यह सोचकर राजा राजमार्ग पर स्थित एक पत्थर के खंभे की ओट मे छिप गया। क्रोध मे अन्धा बना हुआ मण्डक चोर उस खंभे के निकट आया और खंभे को ही भारवाहक समझकर उसी पर तलवार का प्रहार किया। तलवार की चोट मे खंभा टूटकर गिर गया। इससे भारवाहक को मरा समझकर मण्डक चोर तुरन्त अपने घर वापस लौट आया। राजा भी वहाँ से सीधा अपने महल मे आकर सो गया।

दूसरे दिन प्रातः काल होते ही मण्डक ने अपने पैरो पर कपडा बाधा और राजमार्ग के किनारे वाली अपनी दुकान पर जाकर वस्त्रो को तुनने (रफू करने) का काम करने लगा।

प्रात काल होते ही राजा वेष बदल कर फिर राजप्रासाद से निकला और मण्डक चोर की दुकान पर जा पहुँचा। राजा ने उसे पैर पर कपडे की पट्टी बाँधे कपडा तुनते हुए दुकान के द्वार पर बैठे देखा। राजा उसे देखते ही भली-भाँति पहचान गया कि यह वही मण्डक चोर है, जो रात मे बहुत तेजी से दौडता है और दिन मे लंगड़ा-सा बनकर यहाँ बैठता है।

राजा उसकी आकृति, प्रकृति और स्थिति भली-भाँति देखकर वापस राजमहल लौट आया। फिर उसने आकृति-विशेषज्ञ चतुर राजसेवको को बुला कर उन्हे उस लंगडे (मण्डक चोर) की आकृति, प्रकृति, स्थान और स्थिति बताकर आदेश दिया कि— "जाओ, उस लंगडे व्यक्ति को सम्मानसहित यहाँ बुला लाओ।"

राजा द्वारा बताये गये हुलिए के अनुसार राजसेवको ने उसे पहचान लिया। फिर वे उसके पास जाकर बोले— "चलिए, आपको एक विशेष कार्य से राजा साहब ने बुलाया है।"

यह सुनते ही मण्डक के मन मे विचार आया— "मै व्यस्तता के कारण रात को मेरे यहाँ समागत व्यक्ति को मार नही सका। मालूम होता है, वह भारवाहक ही यह राजा है। अन्यथा, मेरी पहचान वह कैसे कर सका? अब तो मुझे इनके साथ राजा के पास गये बिना कोई चारा नही ।"

यह सोचकर भयभीत होता हुआ मण्डक उन राजसेवको के साथ चल दिया। राजसेवक उसे लेकर राजा के पास पहुँचे। राजा ने उसे सुन्दर आसन पर बिठाया और अमृतोपम मधुर वचनो के साथ बातचीत करने लगा। वार्तालाप के सिलसिले मे राजा ने उससे कहा- "तुम अपनी बहन मुझ दे दो।"

यह सुनते ही मण्डक को पक्का निश्चय हो गया कि मेरी बहन को यह कैसे जानता है? क्योकि मेरे यहाँ आने वाले सभी मौत के घाट उतार दिये जाते है, वहाँ से कोई भी लौट नही पाता। अतः हो न हो, रात को जो मेरे यहाँ से भाग गया था, यह वही व्यक्ति है, और यह राजा है। अत इसे इन्कार करना अच्छा नही।

यह सोचकर मण्डक बोला—"स्वामिन्! आप खुशी से मेरी बहन को स्वीकार कीजिए। मै आपके साथ उसका विवाह करने को तैयार हूँ। पर मै उसके बिना अकेला कैसे रह सकूँगा? इस पर आप विचार करके यथायोग्य कीजिए।"

राजा ने कहा— "तुम मुझ पर विश्वास रखो। सब कुछ यथायोग्य किया जाएगा।" तत्पश्चात् उसकी स्वीकृति से राजा ने कुछ विश्वस्त राजसेवको और दासियो को भेजकर सम्मानपूर्वक मण्डक की रूपलावण्यवती बहन मालती को राजमहल मे बुला लिया और उसके साथ पाणिग्रहण कर लिया। मण्डक को अपने राज्य के मत्री पद पर नियुक्त कर दिया।

मण्डक अब राजसभा मे आश्वस्त और प्रसन्न होकर सम्मानपूर्वक रहने लगा। एक दिन मण्डक से राजा ने कहा— 'मुझे अपने राज्य की उन्नति के लिए कुछ धन की आवश्यकता है। इसलिए जैसे भी हो, मुझे पर्याप्त धन लाकर दो।"

इस पर मण्डक मंत्री ने अपने गुप्त खजाने से प्रचुर धन लाकर राजा को दिया।

राजा उसकी उदारता पर बहुत प्रसन्न हुआ और उसका बहुमान किया। इसी तरह समय-समय पर अपने वाक्चातुर्य और बुद्धिकौशल से राजा ने मण्डकमन्त्री से सारा धन मगवा लिया।

एक दिन राजा ने उसकी बहन से पूछा— "अब तुम्हारे भाई के पास और कितना धन है ?" उसने कहा— 'स्वामिन् ! आपने जितना धन उससे मंगवा लिया, उतना ही उसके पास था । मेरे ख्याल से अब उसके पास कुछ भी द्रव्य नही है ।"

राजा ने उसकी बहन से सारे समाचार जानकर उससे मंगवाया हुआ सारा धन एकत्र कराया । फिर जिन-जिन नागरिको के यहाँ चोरी हुई थी, उन सबको राजसभा में बुलाया और सरकार मे दाखिल किये हुए पत्र के अनुसार जिस-जिसका जितना द्रव्य चोरी चला गया था, उस-उसका सब द्रव्य उसमे से दिलवा कर सबको सन्तुष्ट किया ।

यह सब होने के पश्चात् राजा ने मण्डक को मंत्री-पद से हटा दिया और मृत्युदण्ड का आदेश देकर अपनी न्याय-परायणता दिखलाई ।

सच है, चोरी आदि पापकर्म करने वाला कभी सुखी नहीं हो सकता । निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार मूलदेव राजा ने मण्डक तस्कर से जब तक चोरी से सचित किया हुआ उसका सारा धन नही ले लिया, तब तक उसे मत्री पद पर ससम्मान रखा और उसका पोषण-संरक्षण किया, इसी प्रकार मुनि भी अनेक दोषो और विकारो से भरे इस शरीर से जब तक संवर-निर्जरारूप धर्म का लाभ होता रहे तब तक इसका रक्षण-पोषण करता रहे । परन्तु जब धर्मरूपी धन के लाभ के लिए यह अयोग्य हो जाय तब ज्ञ-परिज्ञा से इसे जानकर, प्रत्याख्यान-परिज्ञा से इसका त्याग कर दे ।

— उत्तराध्ययन अ. ४, गाथा ७

(९) सुशिक्षित मुनि ही संसारपारगामी होते हैं

(आसे जहा सिक्खिय वम्मधारी. ..... अ. ४, गाथा ८)

चम्पापुरी-नरेश रणवीर ने दो क्षत्रियपुत्रो को प्रत्येक को कुछ द्रव्य और एक-एक घोडे का बच्चा प्रशिक्षित एवं पुष्ट करने के लिए दिया । उनमे से एक ने अपने घोड़े के बच्चे को समयोचित योग्य आहार देकर परिपुष्ट किया, और उसे दौडने-कूदने आदि का योग्य प्रशिक्षण देकर तैयार किया । परन्तु दूसरे क्षत्रिय-पुत्र ने प्रमादवश अपने घोडे के बच्चे को न तो अनुकूल आहार ही दिया और न ही उसे कोई प्रशिक्षण दिया, प्रत्युत दूषित और निःसार आहार खिलाकर तथा अरहट्ट मे जोडकर दिनभर पानी खिचवाकर उसे कमजोर बना दिया । राजा ने उसे जो द्रव्य उस घोड़े के बच्चे के पालन-पोषण एवं भोजन के लिए दिया था, उस द्रव्य से बढ़िया भोजन मंगाकर वह स्वयं खा गया ।

एक बार राजा को शत्रु-राजाओ के साथ युद्ध करने के लिए जाना था, अतः दोनो

क्षत्रियपुत्रो को बुलाकर कहा— "आप दोनो अपने-अपने घोडे पर चढकर शीघ्र यहाँ आ जाएँ। हमे शत्रुराजाओ के साथ युद्ध करने के लिए जाना है।"

राजा का आदेश पाकर वे दोनो क्षत्रिय अपने-अपने घोडे पर सवार होकर राजा के पास आ गए।

राजा ने उन दोनो क्षत्रियपुत्रो को शस्त्र देकर अश्वसहित युद्ध के लिए भेज दिया। दोनो ही अपने-अपने अश्व के साथ शस्त्र-सुसज्जित होकर युद्ध भूमि मे पहुँचे। इन दोनो मे से जिसका घोडा सुशिक्षित होकर परिपुष्ट था, वह सवार के आदेशानुसार चलकर युद्धभूमि मे विजय दिलाकर पार हो गया, किन्तु जिसका घोडा अशिक्षित और कमजोर था, वह अनुकूल शिक्षा के बिना, जैसे अरहट मे घूमता था, वैसे ही यहाँ सवार को लेकर घूमने लगा।

विपक्षी योद्धाओ ने जब इस अनाडी घोडे को इस प्रकार घूमते देखा तो उन्होने अशिक्षित घोडे और उसके सवार को वही पर मार डाला।

निष्कर्ष यह है कि अशिक्षित एव दुर्बल अश्व अपने और सवार के विनाश का कारण बनता है, किन्तु सुशिक्षित एव परिपुष्ट अश्व, शिक्षक की आज्ञानुसार चलकर विजयी बनकर युद्धभूमि को पार कर जाता है, वैसे ही अशिक्षित एव दुर्बल मन वाले मुनि विनाश एव पतन को प्राप्त होते है। जबकि सुशिक्षित (गुरु के सान्निध्य मे रहकर ग्रहणा एव आसेवना दोनो शिक्षाओ मे अभ्यस्त) एव परिपुष्ट मन वाले मुनि कर्मशत्रुओ के साथ संग्राम मे गुरु की आज्ञानुसार चलकर कर्मशत्रुओ को जीतकर संसार से पार मोक्ष मे पहुँच जाते है।

— उत्तराध्ययन अ. ४, गाथा ८

(१०) शीघ्र विवेक न हो सकने से सर्वनाश

(खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं..... अ.४, गाथा १०)

एक ब्राह्मण परदेश जाकर सर्वशास्त्रो मे पारंगत होकर अपने देश मे आया। उसकी विद्वत्ता देखकर किसी ब्राह्मण ने अपनी रूपवती कन्या के साथ उसका विवाह-सम्बन्ध कर दिया। इस ब्राह्मण की विद्वत्ता एव विनम्रता देखकर वहाँ की जनता एव राजा ने दान, दक्षिणा आदि से उसका बहुत सम्मान किया। इस कारण कुछ ही वर्षो मे वह ब्राह्मण धनाढ्य हो गया। प्रचुर धन हो जाने से ब्राह्मण ने अपनी पत्नी के लिए अनेक आभूषण बनवा दिये। इससे वह अत्यन्त प्रसन्न हुई। शृगार-प्रिय होने से वह ब्राह्मणी अपने शरीर पर समस्त आभूषण सतत लादे रहती और प्रतिदिन आभूषणो से सुसज्जित होकर इधर-उधर घूमती रहती। इस कारण गॉव की अन्य महिलाएँ उसे 'नित्यमण्डिता' कहकर पुकारती। एक दिन

ब्राह्मण ने अपनी पत्नी से कहा— "प्रिये ! यह छोटा-सा गॉव है । इसलिए तुम्हारा हर समय सभी आभूषणो को पहने रहना और घूमना ठीक नही । आभूषण तो किसी उत्सव या त्यौहार के दिन ही पहने जाते है, सदा नही । फिर आजकल गॉवो मे चोरो का बहुत उपद्रव है, अगर यहॉ चोर आ गए तो तुम्हारी जान को भी खतरा हो सकता है । आकस्मिक संकट के समय आभूषण जल्दी उतारे भी नही जा सकते । अतः आभूषणो को निरन्तर न पहनकर किसी मौके पर ही पहनना उचित है ।"

यह सुनकर पण्डिताइन बोली— "नाथ ! वैसे तो आपका कहना ठीक है, परन्तु मै आपको विश्वास दिलाती हूँ कि जिस समय चोर आएँगे, उस समय मै शीघ्र ही इन आभूषणो को उतार कर रख दूँगी । आप जरा भी चिन्ता न करे । और फिर अगर ये आभूषण रोज पहनने के काम मे नही आते, तो आपने बनवाए ही किसलिए है ?"

ब्राह्मणी का उत्तर सुनकर उसका पति चुप रह गया । अत. ब्राह्मणी सदा सभी आभूषणो से सजी-धजी रहने लगी ।

पण्डिताइन के शरीर पर बहुमूल्य आभूषणो को देखकर कुछ चोरो का मन ललचाया । एक दिन अवसर देखकर रात मे कुछ चोर घर मे घुस आए । चोरो को देखकर पण्डिताइन को अपने आभूषणो की रक्षा की बहुत चिन्ता हुई । चोर तो उन्ही आभूषणो को लेने के इरादे से पण्डित के घर मे आए थे । पण्डिताइन ने बहुत चाहा कि अपने निकट चोरो के आने से पहले ही ये आभूषण शीघ्र ही उतारकर कही छिपाकर रख दिए जाएं; परन्तु पौष्टिक पदार्थ खाने और मेहनत न करने से पण्डिताइन का शरीर इतना मोटा हो गया था कि हाथ-पैर आदि के आभूषण उन-उन अगो के साथ मजबूती से चिपक गये थे, साथ ही आभूषणो को शरीर पर से उतारने का उसे अभ्यास भी नही था । अतः आभूषण शरीर से उतारने मे वह असमर्थ रही ।

चोरो ने देखा कि पण्डिताइन का शरीर बहुत ही स्थूल है । अतः अन्य अवयवो पर से तो आभूषण आसानी से उतारे जा सकते है, मगर इसके हाथ-पैरो से आभूषण शीघ्र उतारे नही जा सकेगे और अधिक देर की तो आस-पास के लोग जाग जाएँगे, हो-हल्ला मच जाएगा, फिर हमे कुछ भी हाथ न लगेगा ।

अतः चोरो ने आव देखा न ताव, पण्डिताइन के दोनो हाथ एवं पैर काट डाले और सभी आभूषण लेकर वहॉ से नौ दो ग्यारह हो गए ।

बेचारी घायल पण्डिताइन अपने अविवेक के कारण अत्यन्त पीड़ा भोगकर कुछ ही

दिनो मे मरण-शरण हो गई।

निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार नित्यमण्डिता ब्राह्मणी अपने पति के हितकर वचन न मानने से चोरो के आने पर अपने हाथ-पैर के आभूषणो को शीघ्र निकाल न सकी, इस कारण उसे घोर पीडावश अपने प्राणो से हाथ धोना पडा, इसी प्रकार जो साधक भगवद्वचन या गुरुवचन न मानकर विषय-कषायो के सग का त्याग नही करते वे कामभोग एव कषायादि के आक्रमण के समय मोहकर्मोदय के कारण शीघ्र उनका त्याग(विवेक) न कर सकने के कारण घोर दु ख पाते है और आत्मविनाश को न्यौता देते है। — उत्तराध्ययन अ.४, गाथा १०

(११) प्रमत्त और अप्रमत्त की चर्या से हानि-लाभ

(अप्पाणुरक्खी चरमप्पमत्तो..... अ.४, गाथा १०)

वसुधर सेठ के घर मे सम्पत्ति की कमी नही थी। व्यापार के लिए उसने अच्छे-अच्छे मुनीम गुमाश्ते रखे हुए थे। सेठ की देख-रेख मे मुनीम-गुमाश्तो ने काम-धन्धा अच्छा जमा लिया था। अतः सेठ ने सोचा— 'यहाँ तो मुनीम-गुमाश्ते ठीक ढग से मेरा सारा व्यापार सभाले हुए है और आय भी अच्छी हो रही है। किन्तु मनुष्य को आय के केवल एक ही स्रोत मे बंधकर नही बैठना चाहिए, उसे आय के अन्य स्रोत भी ढूढने चाहिए, जिससे कभी आय का एक स्रोत बंद हो जाए तो दूसरा चालू रहे। इस दृष्टि से मुझे परदेश जाकर अपना व्यापार जमाना चाहिए, ताकि अर्थोपार्जन मे वृद्धि हो और आय का नया स्रोत खुले। जब तक मै परदेश से वापस यहाँ नही आ जाऊँ तब तक सेठानी यहाँ के मुनीम-गुमाश्तो को संभालती रहेगी और सारे कारोबार का ध्यान रखेगी।'

यह सोचकर वसुधर सेठ ने यहाँ का सब कारोबार सेठानी को सौंप दिया और मुनीम-गुमाश्तो आदि की देखभाल रखने का कहकर वह परदेश रवाना हो गया।

सेठानी ने यहाँ का कारोबार संभालना स्वीकार तो कर लिया, परन्तु सेठ के चले जाने पर वह आलसी बनकर खा-पीकर पडी रहती। वह अपना अधिकांश समय खाने-पीने, नहाने-धोने, शरीर और केशो की साज-सज्जा मे, गपशप मे तथा सोने मे बिताती थी। मुनीम-गुमाश्तो से न तो कभी कारोबार के विषय मे पूछती और न ही उनकी कोई सार-सँभाल करती थी। वह केवल मुनीम-गुमाश्तो और नौकरो का उपस्थिति-पत्र देख लेती। बाकी सब कार्य उन्ही के भरोसे छोडकर निश्चिन्त हो जाती थी।

फलत सेठानी के प्रमाद, आलस्य और लापरवाही के कारण काम-धन्धा चौपट होने लगा। मुनीम-गुमाश्तो और नौकरो पर देखभाल न रखने से वे काम करने से जी चुराने और

उदासीन रहने लगे। इससे सारा कारोबार ढीला पड गया, उसमे अब लाभ के बदले हानि होने लगी।

कुछ अर्से बाद वसुधर सेठ जब परदेश से आये और उन्होने यहाँ का व्यापार-धन्धा चौपट होते और सेठानी को शरीर की साज-सज्जा,शृंगार और आलस्य मे समय बिताते देखा तो उन्हे बहुत ही असन्तोष हुआ। अतः सेठानी को बहुत ही उपालम्भ दिया और एक अलग मकान देकर उसे अलग कर दिया।

तत्पश्चात् वसुधर सेठ ने गरीब घर की किसी कार्यकुशल कन्या के साथ दूसरा विवाह कर लिया। विवाह करने से पहले ही सेठ ने अपनी भावी पत्नी के समक्ष ये शर्तें रखी कि—"तुम्हे मेरे घर के छोटे-बड़े सब काम करने पडेगे। मुनीम-गुमाश्तो और नौकर-चाकरो के काम पर पूरी निगरानी रखनी होगी, साथ ही उनकी सार-सँभाल भी स्नेहपूर्वक रखनी होगी।" भावी पत्नी ने सेठ की सब शर्तें मजूर कर ली। सेठ ने नवविवाहिता पत्नी को घर का सारा कामकाज तथा अपना सब कारोबार अच्छी तरह समझा दिया। फिर कुछ दिनो तक साथ रहकर उसने घर का कामकाज करने की और व्यापार धन्धा सँभालने एवं मुनीम आदि की देख-रेख रखने की नई पत्नी की कुशलता एव क्षमता देखी। यह सब देखकर वसुधर सेठ ने सन्तोष की सास ली। यो कुछ दिन आनन्द मनाने के बाद सेठ के मन मे परदेश जाकर धन कमाने की पुनः ललक उठी। अतः उसने अपने घर की तथा व्यवसाय की समस्त व्यवस्था का भार नई पत्नी को सौप दिया और स्वय ने परदेश के लिए प्रस्थान किया।

सेठ के परदेश जाने के बाद नई सेठानी हर समय घर के काम-काज मे लगी रहती, वह नौकर-चाकरो के भरोसे सारे काम नही छोड़ती थी, स्वय भी उनके साथ-साथ काम मे जुट जाती थी। किसी भी कार्य मे जरा भी लापरवाही नही करती थी। मुनीम-गुमाश्तो की भी पूरी देखभाल करती कौन क्या काम करता है? किसके योग्य कौनसा काम है? कौनसा कार्य हो गया और कौनसा बाकी है? इत्यादि सब बातो का वह पूरा ध्यान रखती थी। यहाँ तक कि प्रतिदिन के आय-व्यय का हिसाब भी देखती थी। नई सेठानी की कार्यकुशलता, सावधानी एव देखरेख के कारण मुनीम-गुमाश्ते तथा नौकर-चाकर आदि भी अपना-अपना कार्य समय पर और अच्छे ढंग से करते थे। नई सेठानी मुनीम-गुमाश्तों और नौकर-चाकरों के साथ मधुर व्यवहार एव सभाषण करती थी और यथासमय उन्हे जलपान एवं भोजन के लिए भी पूछती थी। समय पर ही उन्हे वेतन मिल जाता था। वर्षभर मे अच्छी कमाई होने पर सबको इनाम भी मिलता था। इस कारण सभी लोग सन्तुष्ट थे और उत्साहपूर्वक जी-तोड

काम करते थे। किसी को किसी कार्य के लिए बार-बार कहना नहीं पडता था। सभी लोग स्वय जी-जान से अपने-अपने कार्य मे जुटे रहते। सभी अपने कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न करके मालकिन को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार स्वामी-सेवक दोनो के अप्रमाद के कारण सेठ के व्यवसाय मे दिन दूनी रात चौगुनी सम्पत्ति बढने लगी। नई सेठानी की कार्यदक्षता की सर्वत्र प्रशसा होने लगी। इधर वसुधर सेठ परदेश से धन कमाकर अपने घर आए तो अपने घर एव व्यवसाय की सुव्यवस्था देख कर दंग रह गए। नई सेठानी की कार्यदक्षता, अप्रमाद एवं उसके द्वारा घर एव व्यवसाय की देखभाल तथा मुनीम-गुमाश्तो और नौकर-चाकरो की कार्य तत्परता देखी तो सेठ अत्यन्त सन्तुष्ट एव प्रसन्न हुआ। उसने उसी समय नई सेठानी को अपने घर का पूर्ण अधिकार देकर एवं कार्यभार सौपकर मालकिन बना दिया।

सेठ की नई पत्नी जिस प्रकार अप्रमत्तभाव से सब कार्यो मे सलग्न रही तो वह घर की सुख-समृद्धि की पूर्ण अधिकारिणी बन गई, इसी प्रकार जो साधु-साध्वी अपनी सयम-साधना एव साध्वाचार की क्रिया मे अप्रमत्त भाव से सलग्न रहते है, वे अपने आत्मिक गुणरूपी धन की अभिवृद्धि करके एक दिन अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख और अनन्तवीर्य (शक्ति) के अधिकारी बन जाते है। — उत्तराध्ययन अ.४, गा. १०

॥चतुर्थ अध्ययन समाप्त॥



पंचम अध्ययन : अकाममरणीय
(अध्ययन-सार)

इस अध्ययन का नाम 'अकाममरणीय' है, किन्तु निर्युक्ति मे इसका नाम 'मरणविभक्ति' मिलता है।

आत्मा की दीर्घकालिक संसार-यात्रा के दो पडाव है— जन्म और मरण। साधक के लिए जितना जन्म (जीवन) को समझना आवश्यक है, उससे भी बढ़कर मरण को समझना आवश्यक है। जो सिर्फ जीवन जीने की कला जानते है, मृत्यु की कला नही जानते, वास्तव मे वे जीवन-कला से अनभिज्ञ है उनकी मृत्यु सुधरती नही, और मृत्यु न सुधरने पर उस प्राणी को विभिन्न दुर्गतियो और कुयोनियो मे बार-बार जन्म-मरण करना पडता है। इसलिए इस अध्ययन मे मुख्य दोनो प्रकार के मरणो (बालमरण और पण्डितमरण) का स्वरूप बताकर दोनो के परिणामों, पण्डित (सकाम) मरण न होने मे बाधक तत्त्वो का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही अकाम-मरण के अधिकारी जीवो का मृत्यु से पूर्व का जीवन कैसा होता है, उनकी वृत्ति-प्रवृत्ति कैसी होती है? अन्तिम समय मे उनकी मनःस्थिति एवं मति, गति किस प्रकार की होती है? इन सबका प्रतिपादन किया गया है।

इसके पश्चात् सकाममरण के अधिकारी कौन-कौन होते है? क्या सभी साधु या सभी गृहस्थ इसे प्राप्त कर सकते है? दु:शील व्यक्ति, चाहे साधु हो, अथवा जटाधारी, वल्कलधारी, गेरुए वस्त्रधारी, नग्न, मुण्डित आदि कोई हो, अथवा भिक्षाजीवी हो, वह अपना मरण नही सुधार सकता। फलस्वरूप वह अपने आपको केवल वेष या क्रियाकाण्डो के कारण नरकादि दुर्गतियो से नही बचा सकता। जो व्रतधारी है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप सद्धर्म की आराधना से ही व्यक्ति अपना मरण सुधार सकता है और सुगति या मोक्षगति पा सकता है। ऐसे पण्डितमरण (सकाममरण) प्राप्त करने वाले साधकों के जीवन की दो ही गति हैं।— या तो वह सदा के लिए जन्म-मरण से मुक्त शाश्वत सिद्ध हो जाता है, अथवा अल्पकर्म वाला उच्चजातीय देव होता है। अगर कोई व्रतधारी सद्गृहस्थ सकाममरण को प्राप्त करता है, तो वह दीर्घायुष्क महर्द्धिक द्युतिमान् देव बनता है।

वास्तव मे सकाममरण प्राप्त करने वाला साधक मृत्यु के समय घबराता नही, मृत्यु उसके लिए वरदानरूप होती है। वह मृत्यु के असली स्वरूप को जान लेता है। इसलिए उसे मृत्यु का भय या दुःख नही होता, क्योकि वह शरीर और आत्मा का यथार्थरूप भेदविज्ञान कर लेता है। उसकी निष्ठा इतनी दृढ हो जाती है कि आत्म अजर, अमर, अविनाशी है, वह

शस्त्रो से कट नही सकता, अग्नि से जल नही सकता, पानी उसे गला नही सकता, और न ही वायु उसे सुखा सकती है। इस प्रकार स्वरूप मे रमणता एव संलीनता के दृढ अभ्यास से, स्वसत्ता के बोध से और आत्मा एवं शरीर की पृथक्ता के ज्ञान से तथा कायोत्सर्ग के द्वारा शरीर के प्रति ममत्व-त्याग से एव कषाय तथा शरीर को कृश करने की प्रक्रिया को अपनाने से विद्वान् साधक मृत्यु से तनिक भी नही डरता।

साधक की सयम-साधना की परीक्षा मृत्युकाल मे होती है, मृत्यु ही उसके जीवन का निचोड है। अतः अध्ययन के उपसहार मे साधक को विवेक करने की प्रेरणा दी है कि सकाममरण और अकाममरण दोनो का स्वरूप जानकर साधक सकाममरण की अपेक्षा करे, अकाममरण की नही। सकाममरण सयम से, आत्मबोध से समाधिपूर्वक होता है, जबकि अकाममरण असंयम से, अनिच्छा से, आत्म-अज्ञान से होता है।

मृत्यु का दर्शन समझने के लिए साधक को मरण के सभी प्रकारो का स्वरूप जानना आवश्यक है।

भगवती सूत्र [१] मे मरण के मुख्य दो प्रकार बताए गये है— बालमरण और पण्डितमरण। इन्हे ही यहाँ क्रमशः अकाममरण और सकाममरण कहा गया है। बालमरण के १२ और पण्डितमरण के २ भेद भी वहाँ बताए गए है।

बालमरण के १२ भेद इस प्रकार है—

(१) **वलय-मरण**— जीवनपथ से भ्रष्ट होने वाले संयमी का मरण अथवा भूख से तड़फते हुए का मरण।

(२) **वशार्त्त-मरण**— इन्द्रियों के वशीभूत होकर मरने वाले का मरण।

(३) **अन्त.शल्य-मरण**— शस्त्र आदि की नोक लगने से होने वाला मरण द्रव्य-अन्तःशल्य मरण है और लज्जा, अभिमान आदि के कारण अतिचारों (दोषों) की आलोचना न करके दोषपूर्ण स्थिति में होने वाला मरण भाव-अन्तःशल्य मरण है।

(४) **तद्भव-मरण- वर्तमान भव**— जन्म से होने वाला मरण।

(५) **गिरिपतन** (६) **तरुपतन**

(७) **जलप्रवेश** (८) **अग्निप्रवेश**

(९) **विषभक्षण** (१०) **शस्त्रावपाटन**

(११) **वैहायसमरण**— वृक्ष की शाखा पर लटकने, पर्वत से गिरने, झंपापात करने आदि कारणों से होने वाला मरण।

(१२) **गृद्धपृष्ठ**— हाथी आदि के कलेवर में प्रविष्ट होने पर उस कलेवर के साथ-साथ गिद्ध आदि उस जीवित शरीर को भी नोंच-नोंच कर मार डालते है, उस स्थिति में हुआ मरण।

१. शतक२, उद्देशक १

पण्डित मरण के दो भेद इस प्रकार है—

(१) पादोपगमन मरण— इसे प्रायोग्य मरण एवं पादपोपगमन भी कहते है। शब्द की दृष्टि से इसका अर्थ इस प्रकार है- अपनी परिचर्या न तो स्वय करे और न ही दूसरो से कराए, ऐसे मरण को प्रायोग्य मरण कहते है। भव के अन्त करने योग्य सहनन और संस्थान को 'प्रायोग्य' कहते है, उसकी प्राप्ति प्रायोग्य गमन है। अतः विशिष्ट संहनन एवं विशिष्ट संस्थान वाले साधक के मरण को 'प्रायोग्यगमन-मरण' कहा गया है।

वृक्ष के नीचे स्थिर अवस्था मे चतुर्विध आहार त्यागपूर्वक जो मरण होता है, वह 'पादपोपगमन-मरण' है। अपने पैरो से संघ से निकल कर और योग्य प्रदेश (स्थान) मे जाकर जो मरण किया जाता है, वह पादोपगमन मरण है।

(२) भक्तप्रत्याख्यान-मरण— यावज्जीवन के लिए त्रिविध या चतुर्विध आहार-त्यागपूर्वक जो मरण होता है, उसे भक्तप्रत्याख्यानमरण कहते है। इसका भी एक भेद है— इंगिनी (या इगित) मरण। उसका लक्षण यह है— प्रतिनियत स्थान पर अनशनपूर्वक मरण इगिनीमरण है। इस मरण मे साधक अपने अभिप्राय से अपनी शुश्रूषा करता है, किन्तु दूसरे मुनियो से सेवा नही लेता। यह मरण चतुर्विध-आहार का प्रत्याख्यान करने वाले के ही होता है।

समवायाग मे मरण के १७ भेद बताये है, जिनमे से ९ तो ये ही बालमरण-पण्डितमरण के भेद बताए है। शेष भेद इस प्रकार है—(१) आवीचिमरण, (२) अवधिमरण, (३) आत्यन्तिकमरण, (४) बालमरण, (५) पण्डितमरण, (६) बालपण्डितमरण, (७) छद्मस्थमरण, (८) केवलिमरण।

आवीचिमरण— आयुष्यकर्म का प्रतिसमय उदय मे आना और आयु का अनुभव करना, (प्रतिक्षण आयु घटना)

अवधिमरण— एक बार जिस गति में जन्म-मरण करता है, उसमे दूसरी बार जब कभी मरण करे वह अवधिमरण है।

आत्यन्तिकमरण— वर्तमान आयुकर्म के पुद्गलो का अनुभव करके मरण प्राप्त हो, फिर उस भव मे उत्पन्न न हो, वह आत्यन्तिकमरण है।

छद्मस्थमरण— मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यायज्ञानी का मरण।

केवलिमरण— केवलज्ञानी का मरण।

मिथ्यात्वी और अविरत सम्यग्दृष्टि के मरण को बालमरण, संयति के मरण को

पण्डितमरण और सयतासंयत के मरण को बालपण्डितमरण कहते है। स्थूलहिंसा आदि पॉच पापों के त्याग तथा सम्यग्दर्शन से युक्त होने से वह पण्डित है और सूक्ष्म असंयम से निवृत्त न होने से उसमें बालत्व भी है।

विजयोदया टीका मे बालमरण के पॉच भेद बताये है। वे इस प्रकार हैं—

(१) **अव्यक्तबाल—** छोटा बच्चा, जो धर्मादि चारो पुरुषार्थो को जानने और आचरण करने मे असमर्थ है।

(२) **व्यवहारबाल—** जो लोक व्यवहार तथा शास्त्र के ज्ञान से रहित है।

(३) **ज्ञानबाल—** जो जीवादि पदार्थो को सम्यक् रूप से नही जानता।

(४) **दर्शनबाल—** जिसकी तत्त्वो के प्रति श्रद्धा नही होती। इसके दो भेद है- इच्छाप्रवृत्त और अनिच्छाप्रवृत्त। अग्नि, धूम, शस्त्र, पानी, पर्वत से गिरकर, श्वासोच्छ्वास को रोककर, अति सर्दी-गर्मी से, भूख-प्यास से, जीभ को उखाडने से, प्रकृतिविरुद्ध आहार करने से- इत्यादि साधनो से इच्छापूर्वक प्राण त्याग करना इच्छाप्रवृत्त है, और योग्य काल या अकाल मे मरने की अनिच्छा से होने वाला मरण अनिच्छाप्रवृत्त है।

(५) **चारित्रबाल—** जो चारित्र से हीन विषयासक्त हो, दुर्गतिगमनयोग्य, अज्ञानान्धकार व्याप्त, ऋद्धि में आसक्त, रसों में आसक्त, सुख के अभिलाषी जीव चारित्रबाल है।

विजयोदया टीका में पण्डितमरण के ४ भेद इस प्रकार बताये है- (१) व्यवहारपण्डित, (२) दर्शनपण्डित, (३) ज्ञानपण्डित और (४) चारित्रपण्डित।

अध्ययन का निष्कर्ष है— अकाममरण का परिहार और सकाममृत्यु का स्वीकार।



पंचम अध्ययन : अकाममरणीय
(पंचमं अज्झयणं : अकाममरणिज्जं)

द्विविध मरण का निरूपण

मूल— **अण्णवंसि महोहंसि, एगे तिण्णे दुरुत्तरे।**
तत्थ एगे महापन्ने, इमं पट्ठमुदाहरे [1] ॥१ ॥
संतिमे य दुवे ठाणा, अक्खाया मरणंतिया।
अकाममरणं चेव, सकाममरणं तहा ॥२ ॥

संस्कृत-छाया— अर्णवान्महौघात्, एके तीर्णा दुरुत्तरात् ।
तत्रैको महाप्रज्ञः, इमं प्रश्नमुदाहृतवान् ॥१ ॥
स्त इमे च द्वे स्थाने, आख्याते मारणान्तिके ।
अकाममरणं चैव, सकाममरणं तथा ॥२ ॥

पद्यानुवाद— दुस्तर महाप्रवाही भवनिधि, ज्ञानीजनो ने पार किया।
उनमें एक पूर्ण ज्ञानी ने, स्पष्टरूप मे बोध दिया ॥१ ॥
दो मारणान्तिक स्थान शास्त्र मे, वीर प्रभु ने बतलाए।
एक अकाम सकाम दूसरा, मरणभेद है दिखलाए ॥२ ॥

अन्वयार्थ— एगे— कितने ही गौतम आदि महापुरुष, **महोहंसि—** महाप्रवाह वाले, **दुरुत्तरे—** दुस्तर, **अण्णवंसि—** संसार-समुद्र से, **तिण्णे—** तिर गए **तत्थ—** उनमे से, **एगे महापण्णे—** एक महाप्राज्ञ (महावीर) ने, **इमं—** यह, **पट्ठं—** स्पष्ट, **उदाहरे—** कहा है।

मरणंतिया— मरण अवस्था मे होने वाले (मृत्यु के), **इमे अ—** ये, **दुवे ठाणा—** दो स्थान(भेद या रूप), **अक्खाया—** कहे गए हैं। यथा-**अकाममरणं चेव—** अकाममरण, **तहा—** तथा, **सकाममरणं—** सकाममरण।

भावार्थ— संसार एक महाप्रवाह वाला सागर है, उसे तैर कर दूसरे तट पर पहुॅचना अत्यन्त दुष्कर है, फिर भी (गौतमादि) कुछ लोग उसे पार कर गये है। उन्ही मे से एक महाप्राज्ञ महावीर है, जिन्होने यह स्पष्ट कहा है—

"मृत्यु के रूप में देहान्त होने के ये दो स्थान (भेद या रूप) कहे गये हैं— अकाममरण तथा सकाममरण।"

---

१ पण्हमुदाहरे— लुधियाना से प्रकाशित।

विवेचन— सकाममरण और अकाममरण- सामान्यतया सकाममरण का अर्थ है— पण्डितमरण और अकाममरण का अर्थ है— बालमरण । सकाममरण को विरतिमरण और अकाममरण को अविरति या मिथ्यादृष्टि का मरण भी कहा जा सकता है । जो व्यक्ति विषयो मे आसक्त होने के कारण मरना नही चाहता, किन्तु आयु पूर्ण होने पर विवशतापूर्वक दीन भाव से मरता है, उस व्यक्ति के मरण को अकाममरण एवं जो व्यक्ति विषयो के प्रति अनासक्त होने के कारण मृत्यु के समय संत्रस्त एवं भयभीत नही होता, किन्तु उसे अनिवार्य घटना मानकर प्रसन्नतापूर्वक मृत्यु का स्वागत करता है । इतना ही नही, उसे उत्सवरूप मानता है, उस व्यक्ति के मरण को सकाममरण कहते है ।

मरण के १७ प्रकार— (१) आवीचिमरण—(चारों गति के जीवों का समय-समय में आयुष्य कम होना), (२) अवधिमरण (आयुष्यकर्मदलिक भोग कर मरना), (३) अत्यन्तमरण, (४) वलन्मरण, (५) वशार्त्तमरण, (६) अन्तःशल्यमरण, (७) तद्भवमरण, (८) बालमरण, (९) पण्डितमरण, (१०) मिश्रमरण, (११)छद्मस्थमरण, (१२) केवलिमरण, (१३) वैहायसमरण, (१४) गृध्रपृष्ठमरण, (१५) भक्तपरिज्ञामरण, (१६) इंगिनीमरण, और (१७) पादपोपगमन-मरण । इनमें सकाम और अकाम दोनों प्रकार के मरण आ जाते हैं ।

कौन-सा मरण किसका और कितनी बार ?

मूल— बालाणं अकामं तु, मरणं असइं भवे ।
पंडियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सइं भवे ॥३ ॥

संस्कृत-छाया— बालानामकाम तु, मरणमसकृद् भवेत् ।
पण्डिताना सकामं तु, उत्कर्षेण सकृद् भवेत् ॥३ ॥

पद्यानुवाद— होता मरण अकाम बाल, जीवो का बारम्बार जहाँ ।
प्राज्ञव्रती का एक बार, होता सकाम है मरण यहाँ ॥३ ॥

अन्वयार्थ—बालाणं— बाल (सद्-असद्-विवेकरहित अज्ञानी) जीवो का, **तु अकामं**— अकाम, **मरणं**— मरण (अनिच्छापूर्वक विवशता की स्थिति मे मृत्यु), **असइं**— बार-बार, **भवे**— होता है, **तु**— किन्तु, **पंडियाणं**— पण्डितो (चारित्रवानो) का, **सकामं**— सकाममरण (स्वेच्छा से मृत्यु का स्वीकार), **उक्कोसेणं**— उत्कृष्ट (स्थिति) रूप से, **सइं भवे**— एक ही बार होता है ।

विवेचन— असइं भवे : फलितार्थ— मिथ्यादृष्टि या अव्रती जीव विषय— भोगो मे आसक्ति के कारण अनिच्छा से मरते है, इसी कारण वे भवाटवी मे पर्यटन करते हुए बार-बार वही मरण पाते है ।

उक्कोसेणं सइं भवे : फलितार्थ— व्रतनियम-संयमरत तपोधन पण्डितो

सकाममरण उत्कृष्त- एक ही बार होता है, यह केवली भगवान् की अपेक्षा से समझना चाहिए। शेष चारित्रवानो का मरण जघन्यतः सात या आठ बार हो सकता है।

सकाममरण का परमार्थ— ज्ञानी पुरुषो के लए मरण की अभिलाषा भी निषिद्ध है। सकाममरण का शब्दशः अर्थ— इच्छासहित मरण है, इसीलिए वृहद्वृत्तिकार ने समाधान किया है, कि संसार सागर से पार होने के इच्छुक महापुरुष वास्तव में जीवन और मरण की स्पृहा (आशसा) से रहित होते है, इसलिए सकाम का परमार्थ है— सहज ही मृत्यु आए तो घबराना या डरना नही अपितु मृत्यु को सहर्ष स्वीकार करना। छद्मस्थ तो दीर्घ-संयमी जीवन की या मुक्ति-प्राप्ति की इच्छा रखते भी है, लेकिन केवली भगवान् तो उसकी भी इच्छा नही करते। उनके लिए तो कहा जाता है—

मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तमः

"उत्तम एवं निस्पृह मुनिवर तो मोक्ष और भव-सर्वत्र निःस्पृह है।"

अकाममरण का स्वरूप

मूल— तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
कामगिद्धे जहा बाले, भिसं कूराइं कुव्वई ॥४॥

संस्कृत-छाया— तत्रत्य प्रथम स्थान, महावीरेण देशितम्।
कामगृद्धः यथाबालः, भृशं क्रूराणि करोति ॥४॥

पद्यानुवाद— प्रभु ने पहले बालमरण को, उन दोनो मे बतलाया।
जैसे- कामासक्त बाल जन, क्रूर कर्म है अपनाया ॥४॥

अन्वयार्थ— तत्थ— उन दोनों मरणो में से, **पढमं—** प्रथम, **ठाणं—** स्थान, **इमं—** इस (बालमरण = अकाममरण) को, **महावीरेण—** भगवान् महावीर ने, **देसियं—** बतलाया है, **जहा—** जैसे कि, **कामगिद्धे—** कामभोगो मे गृद्ध-आसक्त, **बाले—** बाल (अज्ञानी) जन, **भिसं—** अत्यन्त, **कूराइं—** क्रूरकर्म, **कुव्वइ—** करता है।

भावार्थ— उन दोनो मरणो (स्थानो) मे से सर्वप्रथम इस स्थान-बाल-मरण (अकाममरण) को ही भगवान् महावीर ने बतलाया है। जैसे कामासक्त बाल (अज्ञानी) जीव अत्यन्त क्रूरकर्म करता है।

विवेचन—बाल का लक्षण— जो कामगृद्ध और अतिक्रूर है।

कामगिद्धे : व्याख्या— जो इच्छाकाम और मदनकामो मे गृद्ध— अभिकांक्षायुक्त आसक्त है।

भिसं कूराइं कुव्वई : व्याख्या— जो अत्यन्त क्रूर- रौद्र कर्म (हिंसा आदि) करता है। आशय यह है कि ऐसा जीव समर्थ हो या असमर्थ क्रूरता के कारण तन्दुलमत्स्य की तरह मन

से ही क्रूरकर्म करके अकाममरण पाकर मरता है।

मूल— जे गिद्धे कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छई।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई ॥५॥

संस्कृत-छाया— यो गृद्ध कामभोगेषु, एक कूटाय गच्छति।
न मया दृष्ट परलोक, चक्षुर्दृष्टेयं रति ॥५॥

पद्यानुवाद— आसक्त कामभोगो मे जो, वह कूटलोक को जाता है।
परलोक नही देखा है मैने, रति भोग दृष्टि मे आता है ॥५॥

अन्वयार्थ— जे— जो व्यक्ति, **कामभोगेसु गिद्धे—** काम-भोगो मे गृद्ध (आसक्त) होता है, **एगे कूडाय—** वह अकेला कूट (मृगादि की हिसारूप द्रव्यकूट और मृषाभाषा रूप भावकूट) की ओर, **गच्छई—** जाता है। (वह कहता है), **मे—** मैने, **परे लोए—** परलोक (तो), **न दिट्ठे—** देखा (ही) नही है, (किन्तु) **इमा—** यह, **रई**[१] — रति (सासारिक विषयसुख) तो, **चक्खुदिट्ठा—** चक्षुदृष्ट (प्रत्यक्ष ऑको से देखी) है।

भावार्थ— जो व्यक्ति कामभोगो मे आसक्त है, वह अकेला (द्रव्य-भाव) कूट की ओर जाता है। (वह धर्म-प्रेरको से कहता है—) परलोक तो मैने देखा नही है, (किन्तु) यह (कामभोग सेवन से उत्पन्न) रति (विषय सुख) तो प्रत्यक्ष ऑखो से देखी है।

विवेचन— बालजीव कामभोगो मे गृद्ध क्यो ? अज्ञानी जीव कामभोगो के सुख को प्रत्यक्ष मानता है और परलोक को परोक्ष। इसलिए वह नि शक होकर कामभोगो मे मग्न रहता है, इनके दुष्परिणामो का विचार नही करता।

काम और भोग— भगवती सूत्र (श ७उ ७) मे शब्द और रूप को 'काम' और गन्ध, रस तथा स्पर्श को 'भोग' कहा गया है। अथवा काम का अर्थ स्त्रीसग और भोग का अर्थ विलेपनादि है।

कूडाय : व्याख्या : 'कूट' शब्द के यहॉ मुख्यतया दो अर्थ किये गये है— (१) कूट (जाल) की तरह नरक भी कूट है। क्योकि वह भी अनेक प्राणियो की यातना का कारण है। जैसे कूट मे पडे हुए मृग को व्याध अनेक प्रकार से मारते है, वैसे ही नरक मे पड़े हुए प्राणी को भी परमाधार्मिक नरकपाल मारते है, अत कूट यानी नरक को जाता है, यह एक अर्थ है। (२) अथवा कूट- द्रव्यत. मृगादिबन्धन है, भावत मिथ्याभाषण आदि है। अत इस प्रकार के कूट मे प्रवृत्त होता है। अर्थात् वह मासादि लोलुपतावश मृगादि को बन्धन मे डालता है, मिथ्याभाषण आदि मे प्रवृत्त होता है।

१ रति : दो अर्थ- (१) काम-भोग सेवन जनित आनन्द अथवा (२) स्त्रीसं [illegible] ाह्लाद।

मूल— हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा, नत्थि वा पुणो ॥६ ॥

संस्कतृ-छाया— हस्तगता इमे कामाः, कालिका येऽनागताः।
को जानाति परोलोकः, अस्ति वा नास्ति वा पुनः ॥६ ॥

पद्यानुवाद— हस्तगत है कामभोग ये, सदिग्ध भविष्य के भोग यहाँ।
है किसे पता परलोक रम्य, उत्तर इसका है स्पष्ट कहाँ ? ॥६ ॥

अन्वयार्थ—इमा— ये (प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले), **कामा—** कामभोग (के सुख तो), **हत्थागया—** अभी हाथ मे आये हुए है, **जे—** जो, **अणागया—** भविष्य मे मिलने वाले सुख है, वे, **कालिया—** अनिश्चित काल मे प्राप्त होने वाले- संदिग्ध है। **को जाणइ—** कौन जानता है कि, **परे लोए—** परलोक, **अत्थि वा—** है भी, **नत्थि वा पुणो—** या फिर कतई नही है।

विवेचन— हत्थागया इमे कामा : आशय (१)वृहद्वृत्ति के अनुसार सुकृत आदि कर्म करने वालो के लिए परलोक का अस्तित्व निश्चित होने पर भी हाथ मे आए द्रव्य को कौन पैरो से ठेल देता है ? इस न्याय से कौन भला हस्तगत काम-सुखो को छोडकर आगामी काल मे मिलने वाले काम-सुखो के लिए प्रयत्न करता है ? वास्तव मे तो परलोक का भी निश्चय नही है। अथवा (२) चूर्णि के अनुसार— कोई भी मूर्ख गाँठ मे बँधे हुए चावलो को छोड़कर, भविष्य मे होने वाले चावलो के लिए आरम्भ नही करता।

निराकरण— जो आत्मा, परलोक एव धर्म का रहस्य जानता है, वह इन अनिष्टकारक कामभोगो का त्याग करता तथा वैषयिक सुखो से अनन्त गुने आत्मिक सुख के लिए ही प्रयत्न करता है। अतः भोगवादी अज्ञजनो का यह कथन यथार्थ नही है।

मूल— 'जणेण सद्धिं होक्खामि' इइ बाले पगब्भई।
काम-भोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जई ॥७ ॥

संस्कृत-छाया— जनेन सार्धं भविष्यामि, इति बालः प्रगल्भते।
कामभोगानुरागेण, क्लेशं सम्प्रतिपद्यते ॥७ ॥

पद्यानुवाद— 'रहना जनता के साथ', मान यो, बाल धृष्ट बन फिरता है।
काम-भोग मे राग-विवश हो, क्लेश-पाश मे पड़ता है ॥७ ॥

अन्वयार्थ— जणेण सद्धिं— 'मै तो आम जनता के साथ', **होक्खामि—** रहूँगा, **इइ—** ऐसा मान कर, **बाले—** बालजन, **पगब्भई—** धृष्टता पर उतर जाता है। (फिर वह) **काम भोगाणुराएणं—** काम-भोगो के प्रति अनुराग के कारण, **केसं—** मानसिक सक्लेश,

संपडिवज्जई— पाता है ।

विवेचन— 'जणेण सद्धिं होक्खामि' : व्याख्या— अधिकाश लोग भोगासगी है तो मै भी उन्ही के साथ चलूँगा, अथवा जैसे आम लोग स्त्री आदि को पालते है, वैसे मै भी पालूँगा । इतने सब लोग मूर्ख नही है ।

पगब्भई : आशय— इस प्रकार वह धृष्टता का सहारा लेता है, इस प्रकार की मिथ्यावाचालता के कारण वह स्वय नष्ट होता है, दूसरो को भी नष्ट करता है । वह ऐसा नही सोचता कि मै विवेकवान् और प्रामाणिक हूँ और बहुजन समुदाय यदि उन्मार्गगामी और अविवेकी हो तो मै उनके साथ अविवेकी क्यो बनूँ ?

केसं संपडिवज्जई : आशय— जीव को अपने द्वारा कृतकर्मो का फल स्वयमेव भोगना पडता है, इस दृष्टि से कामभोगासक्ति के परिणामस्वरूप यहाँ और वहाँ होने वाला दीर्घकालीन संक्लेश भी स्वय को ही भोगना पडेगा ।

मूल— तओ से दंडं समारभइ, तसेसु थावरेसु य ।
अट्ठाए य अणट्ठाए, भूयग्गामं[1] विहिंसई ॥८ ॥

संस्कृत-छाया— तत· स दण्ड समारभते, त्रसेसु स्थावरेषु च ।
अर्थाय चानर्थाय, भूतग्राम विहिनस्ति ॥८ ॥

पद्यानुवाद— त्रस या स्थावर जीवो पर फिर वह, करता दण्डप्रयोग मुदा ।
निरर्थक हो या सार्थक फिर वह, प्राणिहिंसारत रहे सदा ॥८ ॥

अन्वयार्थ—तओ—फिर, **से**—वह, **तसेसु**—त्रस, **य**—और, **थावरेसु**—स्थावर जीवो पर, **दंडं**— दण्ड-प्रयोग, **समारभइ**— करता है । (इस प्रकार) **अट्ठाए**— प्रयोजन से, **य**— या कभी, **निरट्ठाए**— निष्प्रयोजन ही, **भूयग्गामं**— प्राणी-समूह की, **विहिंसई**— हिंसा करता है ।

भावार्थ — फिर वह (बालजन) त्रस और स्थावर प्राणियो के प्रति दण्डप्रयोग (हिंसा) करता है । इस प्रकार वह सार्थक या निरर्थक भी प्राणि-समूह की हिंसा करता है ।

विवेचन—दण्डं— जिससे आत्मा दण्डित हो या जिसके द्वारा प्राणियो को दण्डित-पीडित किया जाए उसे दण्ड कहते है । वह तीन प्रकार का है- मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड । दण्ड का अर्थ हिंसा है ।

अट्ठाए य अणट्ठाए : व्याख्या— अर्थ-प्रयोजन, धनप्राप्ति आदि, अनर्थ-व्यर्थ ही अर्थात्— न अपने लिए और न अपने मित्र आदि इष्टजनो के लिए ।

निरर्थक दण्ड के विषय मे पशुपाल की कथा परिशिष्ट मे देखे ।

१. भूयगामं- लुधियाना से प्र काशित ।

मूल— **हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे।**
भुञ्जमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं त्ति मन्नई ॥९ ॥
कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ मलं संचिणइ, सिसुणागुव्व [1] मट्टियं ॥१० ॥

संस्कृत-छाया— हिंस्रो बालो मृषावादी, मायी च पिशुनः शठः।
भुञ्जान. सुरां मांसं, श्रेयो इदमिति मन्यते ॥९ ॥
कायेन वचसा मत्तः, वित्ते गृद्धश्च स्त्रीषु।
द्विधा मल संचिनोति, शिशुनाग इव मृत्तिकाम् ॥१० ॥

पद्यानुवाद— है हिंसक बाल मृषावादी, मायावी पिशुन व शठ मानो।
मद्य-मांस सेवन कर, इसको श्रेय मानता वह जानो ॥९ ॥
वह मत्त; वचन तन से रहता, धन-नारी में आसक्त सदा।
शिशुनागसदृश दोनो मुख से, मलसंचय करता यदाकदा ॥१० ॥

अन्वयार्थ—बाले— बाल (अज्ञानी वह है, जो), **हिंसे—** हिसक है, **मुसावाई—** मृषावादी है, **माइल्ले—** मायावी (कपटी) है, **पिसुणे—** पिशुन (चुगलखोर) है, **सढे—** शठ (धूर्त्त) है, (तथा) **सुरं मंसं भुञ्जमाणे—** मद्य एवं मांस का सेवन करता हुआ, (वह) **मन्नई—** मानता है कि, **सेयमेयं त्ति—** यही श्रेयस्कर है ॥९ ॥

(वह) **कायसा—** शरीर से, (और) **वयसा—** वाणी से, **मत्तं—** मत्त (मतवाला- मदान्ध) होता है, **वित्ते—** धन, **य—** और, **इत्थिसु —** स्त्रियो मे, **गिद्धे—** गृद्ध (आसक्त) रहता है। वह **दुहओ—** दोनो (राग और द्वेष) से, **मलं—** कर्ममल का, (वैसे ही) **संचिणइ—** संचय करता है, **सिसुणागु—** जैसे शिशुनाग (अलसिया या केचुआ) शरीर और मुख दोनो से, **मट्टियं व्व—** मिट्टी एकत्रित करता है ॥१० ॥

शरीर और वाणी से मत्त बना हुआ, वह धन और स्त्रियो मे अत्यन्त आसक्त रहता है। वह राग और द्वेष दोनो से कर्ममल का वैसे ही संचय करता है, जैसे अलसिया या केचुआ शरीर और मुँह दोनों से मिट्टी इकट्ठी करता है।

विवेचन— माइल्ले : अर्थ— माया कहते है— दूसरो को ठगने की चिन्ता को। ऐसी माया वाला- मायावी।

सढे-शठ : चार अर्थ—(१) धूर्त्त— जो वेश परिवर्तन करके अपने आपको अन्य रूप मे प्रकट करता है, ऐसा बहुरूपिया, **(२)** मूढ, **(३)** दुष्ट अथवा **(४)** आलसी। बृहद्वृत्ति में इसे मण्डिक चोरवत् कहा गया है।

१. सिसुणागोव्व- लुधियाना से प्रकाशित

दुहओ : दो प्रकार से : पॉच आशय— (१) राग और द्वेष से, (२) पुण्य या पाप से, (३) अन्त करण से तथा वाणी से, (४) स्वय करता हुआ, दूसरो से करवाता हुआ और (५) इहलोक बन्धन या परलोकबन्धन ।

सिसुणाग— शिशुनाग : दो अर्थ— (१) छोटा सर्प (केचुआ) या (२) गण्डूपद— अलसिया । वह मुँह से मिट्टी खाकर जीता है । उसके शरीर पर भी मिट्टी चिपक जाती है । इस प्रकार वह अन्दर और बाहर दोनो ओर से मिट्टी सचित कर लेता है ।

बाल जीवों को प्राप्त होने वाले इह-पारलौकिक दुष्फल का स्मरण

मूल— तओ पुट्ठो आयंकेणं, गिलाणो परितप्पई ।
पभीओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेहि अप्पणो ॥११ ॥

संस्कृत-छाया— तत स्पृष्ट आतकेन, ग्लान॰ परितप्यते ।
प्रभीतः परलोकात्, कर्मानुप्रेक्ष्य आत्मन ॥११ ॥

पद्यानुवाद— आतकस्पृष्ट अज्ञानी फिर, बन ग्लान तप्त मन होता है ।
निज अशुभकर्म का चिन्तन कर, परलोकभीत हो रोता है ॥११ ॥

अन्वयार्थ— तओ— तत्पश्चात्-(अष्टविधकर्ममल का सचय करने के बाद) **आयंकेणं—** प्राणघातक रोग से, **पुट्ठो—** स्पृष्ट (आक्रान्त) होने पर (बालजीव), **गिलाणो—** ग्लान (खिन्न) एव, **परितप्पई—** सतप्त होता है (तथा) **अप्पणो—** अपने किये हुए, **कम्माणुप्पेहि—** दुष्कर्मो का अनुप्रेक्षण (चिन्तन) करके, **परलोगस्स—** परलोक से, **भीओ—** भयभीत होता है ।

भावार्थ— फिर वह भोगासक्त बालजीव प्राणघातक रोग से ग्रस्त होने पर ग्लान होता है और अपने द्वारा किये हुए अशुभ कर्मो का स्मरण-चिन्तन करके परलोक से भयभीत होता है ।

विवेचन— कम्माणुप्पेहि : व्याख्या— वह रोगग्रस्त बालजीव अपने द्वारा किये गये हिंसा, असत्यभाषण, ठगी, बेईमानी आदि अशुभ कार्यो को याद करता है कि मैने अपने जीवन मे कोई भी शुभ आचरण नही किया, सदैव अपने आपको अजर-अमर मान कर अहकारवश गलत काम किये, इस प्रकार मन मे खिन्न होता है । विषयासक्त चित्तवाले को, अन्तिम समय मे प्रायः ऐसा पश्चात्ताप होता है ।

मूल— सुया मे नरए ठाणा, असीलाणं च जा गई ।
बालाणं कूरकम्माणं, पगाढा जत्थ वेयणा ॥१२ ॥

संस्कृत-छाया— श्रुतानि मया नरकस्थानानि, अशीलानां च या गति॰ ।

बालानां क्रूरकर्मणाम्, प्रगाढा यत्र वेदना ॥१२ ॥

पद्यानुवाद— दुःशीलजनो की नरको मे, दुर्गति मैने जो कान सुनी ।
उन क्रूरकर्मयुत बालजीवो की, गाढ वेदना करुण बनी ॥१२ ॥

अन्वयार्थ—(वह सोचता है) **मे—** मैने, **नरए ठाणा—** नारकीय (कुम्भी, वैतरणी, असिपत्र आदि) स्थानो के विषय मे, **सुया—** सुना है, **च—** और, **असीलाणं—** दुःशील, **कूरकम्माणं—** (तथा) क्रूरकर्म करने वाले, **बालाणं—** बाल जीवो की, **जा—** जो , **गई—** (अन्तिम) गति है, (यह भी सुना है ।) **जत्थ—** जहा (उन्हे) **पगाढा वेयणा—** तीव्र (शीत-उष्ण आदि) वेदना होती है ।

भावार्थ— अज्ञानी सोचता है कि मैने नरक के स्थानो का वर्णन सुना है, जो कि शीलरहित और क्रूरकर्मा बालजीवों की अन्तिम गति है, जहाॅ उन्हे प्रगाढ वेदना होती है ।

विवेचन— निष्कर्ष— अन्तिम समय मे रोगग्रस्त अज्ञजीव सतप्त और भयभीत होकर सोचता है— 'मैने नरक मे कुम्भी, वैतरणी, असिपत्र आदि भयंकर स्थानो का वर्णन सुना है, हिसादि क्रूरकर्म करने वाले दुराचारी जीवो की वही गति है, जहाॅ दीर्घकाल तक निरन्तर शीत-उष्ण आदि की तथा नरकपालो द्वारा दी जाने वाली अत्यन्त उत्कट यातनाएॅ है । मैने भी अपने जीवन मे ऐसे ही क्रूरकर्म किए है । इसलिए मेरी भी वही दुर्गति होगी । हाय ! मै कैसे उन वेदनाओ को सह पाऊँगा ?

मूल— तत्थोववाइयं ठाणं, जहामेयमणुस्सुयं ।
आहाकम्मेहिं गच्छंतो, सो पच्छा परितप्पई ॥१३ ॥

संस्कृत-छाया— तत्रौपपातिकं स्थानम्, यथा मयानुश्रुतम् ।
यथाकर्मभिर्गच्छन्, सः पश्चात् परितप्यते ॥१३ ॥

पद्यानुवाद— है स्थान नरक मे यथा दु:खद, मैने शास्त्रो से जाना है ।
कर्मानुसार जाता प्राणी, वह पीछे पछताता है ॥१३ ॥

अन्वयार्थ—जहा—जैसा कि, **मे—** मैने, **एयमणुस्सुयं—** परम्परा से यह सुना है, **तत्थ—** उन नरको मे, **ओववाइयं ठाणं—** औपपातिक स्थान है, (अर्थात्- वहाॅ कुम्भी आदि मे तत्काल नारक उत्पन्न हो जाता है) । **पच्छा—** आयुष्य-क्षय होने के पश्चात्, **आहाकम्मेहिं—** अपने कृत कर्मो के अनुसार, **गच्छंतो—** वहाॅ जाता हुआ, **सो—** वह प्राणी, **परितप्पई—** परिताप करता है ।

भावार्थ— मैने परम्परा से यह सुना है— जैसा कि उन नरक स्थानो में उत्पन्न होने के औपपातिक स्थान है । (अर्थात्- जीव वहाॅ अन्तर्मुहूर्त्त मे ही कुम्भी आदि में उत्पन्न हो जाता है ।) आयुष्य क्षीण होने के पश्चात् जीव अपने कृतकर्मो के अनुसार-वहाॅ जाता हुआ बहुत

पश्चात्ताप करता है।

विवेचन— ओववाइयं ठाणं— देव और नारक औपपातिक रूप से जन्म लेते है। जीवो की उत्पत्ति के तीन प्रकार है— सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपात। द्वीन्द्रिय आदि जीव सम्मूर्च्छनज और पशु-पक्षी, मनुष्य आदि गर्भज होते है।

मूल— जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं।
विसमं मग्गमोइण्णो, अक्खे भग्गंमि सोयई ॥१४॥
एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्मं पडिवज्जिया।
बाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयई ॥१५॥

संस्कृत-छाया— यथा शाकटिको जानन्, सम हित्वा महापथम्।
विषम मार्गमुत्तीर्ण, अक्षे भग्ने शोचति ॥१४॥
एव धर्म व्युत्क्रम्य, अधर्म प्रतिपद्य।
बालो मृत्युमुख प्राप्त, अक्षे भग्न इव शोचति ॥१५॥

पद्यानुवाद— गाडीवान सुपथ छोड जिम, कुपथ शकट को ले जाता।
विषम मार्ग मे धुरी टूटने, पर वह चिन्तित हो जाता ॥१४॥
यो धर्ममार्ग को छोड मूढ जो, पापमार्ग पर चलता है।
धुरी टूटे गाडीवान-सम वह, मृत्यु-समय दु ख धरता है ॥१५॥

अन्वयार्थ—जहा— जैसे, **सागडिओ—** कोई गाडीवान, **समं महापहं—** समतल महान् मार्ग को, **जाणं—** जानता हुआ भी, **हिच्चा—** उसे छोडकर, **विसमं मग्गं—** विषम मार्ग से, **ओइण्णो—** उतर(चल) पडता है, (और तब), **अक्खे भग्गंमि—** गाडी की धुरी टूट जाने पर, **सोयई—** शोक करता है ॥१४॥

एवं— इसी प्रकार, **धम्मं—** (अहिसा-सत्य आदि) धर्म (मार्ग) का, **विउक्कम्म—** उल्लघन कर, **अहम्मं—** (हिसा आदि) अधर्म (मार्ग) को, **पडिवज्जिया—** स्वीकार करता है, (वह) **मच्चुमुहं पत्ते—** मृत्यु के मुख मे पडा हुआ, **बाले—** बाल जीव (भी) **अक्खे भग्गे व—** धुरी टूटे हुए गाड़ीवान की तरह, **सोयई—** शोक करता (चिन्तित होता) है ॥१५॥

भावार्थ— जैसे कोई गाडीवान समतल राजमार्ग को जानता हुआ भी उसे छोडकर विषम मार्ग मे उतर पडता है और तब गाडी की धुरी टूट जाने पर वह चिन्तित हो जाता है, इसी प्रकार जो (अहिसा-सत्यादियुक्त) धर्मपथ का उल्लघन कर (हिंसा-असत्यादि-युक्त) अधर्मपथ को स्वीकार करता है, वह मृत्यु के मुख मे पडा हुआ अज्ञानी जीव उसी तरह शोक करता है, जिस तरह धुरी के टूटने पर गाडीवान शोक करता है।

विवेचन— अक्खे भग्गम्मि सोयई: व्याख्या— साफ, समतल और चौडा रास्ता जानता हुआ भी जो गाडीवान जान-बूझकर ऊबड-खाबड रास्ते से अपनी गाडी ले जाता है, वह गाडी की धुरी टूट जाने पर पछताता है कि धिक्कार है मेरे ज्ञान को कि मैने जान-बूझकर इस विपत्ति को मोल लिया। उस गाड़ीवान की तरह ही धर्मपथ को छोडकर अधर्मपथ पर चलने वाला बालजीव भी मृत्यु के समय पछताता है कि हाय ! मैने धर्ममार्ग को जान-सुनकर भी अधर्ममार्ग को अपनाया, जिसका मारणान्तिक वेदनारूप फल मे भोग रहा हूँ।

मूल— तओ से मरणंतंमि, बाले संतस्सई भया।
अकाममरणं मरइ, धुत्तेव कलिणा जिए ॥१६ ॥

संस्कृत-छाया— ततः स मरणान्ते, बालः सत्रस्यति भयात्।
अकाममरणं म्रियते, धूर्त इव कलिना जितः ॥१६ ॥

पद्यानुवाद— वह अज्ञ मृत्यु की बेला मे, परलोक-ताप से डरता है।
हारे जुआरी सम सशोक वह, अकाममरण से मरता है ॥१६ ॥

अन्वयार्थ—तओ— इसके पश्चात्, **से बाले—** वह अज्ञानी मनुष्य, **मरणंतंमि—** मृत्यु का अन्तिम समय (उपस्थित होने पर), **भया—** (परलोक-नरकादि के) भय से, **संतस्सई—** सत्रस्त होता है। **कलिणा—** एक ही दॉव मे, **जिए—** पराजित हुए, **धुत्ते व—** जुआरी की तरह (शोक करता हुआ वह), **अकाममरणं—** अकाममरण से, **मरइ—** मरता है।

भावार्थ— इसके पश्चात् वह अज्ञानी मनुष्य मृत्यु का समय उपस्थित होने पर परलोक-भय से सत्रस्त होता है, तथा एक ही दॉव मे हारे हुए जुआरी की तरह शोक करता हुआ वह अकाममरण से मरता है।

विवेचन— अकाममरण का अकामत्व— बालजीव का चित्त रागादि से व्याकुल होने के कारण मृत्यु के समय नरकगति-गमन के भय से घबराता है। आशय यह है कि वह मरना नही चाहता, विवशतापूर्वक मरता है और मृत्यु से घबराता है, यही मरण का अकामत्व है।

धुत्ते व कलिणा जिए : व्याख्या— जिस प्रकार एक ही दॉव मे सर्वस्व हारा हुआ जु ा री शोक करता है, वैसे ही बाल जीव भी थोडे-से कटुफल वाले संक्लेश बहुल मनुष्य सम्बन्धी भोगो को भोगकर समस्त दिव्यसुख हारकर शोक करता हुआ मरता है।

सकाममरण का स्वरूप

मूल— एयं अकाममरणं, बालाणं तु पवेइयं।
इत्तो सकाममरणं, पंडियाणं सुणेह मे ॥१७ ॥

संस्कृत-छाया— एतदकाममरणं, बालानां तु प्रवेदितम्।

इत. सकाममरणम्, पण्डिताना शृणुत मे ॥१७ ॥

पद्यानुवाद— अकाममरण यह बालजनो का, था वीरप्रभु ने बतलाया।

अब मुझ से सुनो सकाममरण, ज्ञानी ने जिसको अपनाना ॥१७ ॥

अन्वयार्थ— एयं तु— यह(पूर्वोक्त)तो, **बालाणं—** अज्ञानीजनो का, **अकाममरणं—** अकाममरण का, **पवेइयं—** प्रतिपादन (वीरप्रभु द्वारा) किया गया है। **इत्तो—** अब यहाँ से आगे, **पंडियाणं—** पण्डितो के, **सकाममरणं—** सकाममरण को, **मे—** मुझ से, **सुणेह—** सुनो।

भावार्थ— यह (पूर्वोक्त) बालजनो का अकाममरण है, ऐसा तीर्थङ्करो ने कहा है। अब यहाँ से आगे पण्डितो के सकाममरण के विषय मे मुझसे सुनो।

विवेचन— बालाणं अकाममरणं : तात्पर्य— दुष्कृतकर्म वाले तथा नरकादि परलोक से भयभीत होने वाले लोगो का जो मरण पूर्वगाथाओ मे कहा गया है, वह अकाममरण बालजनो का ही होता है।

मूल— मरणं पि सपुण्णाणं, जहा मेयमणुस्सुयं।

विप्पसण्णमणाघायं, संजयाणं[१] वुसीमओ ॥१८ ॥

संस्कृत-छाया— मरणमपि सुपुण्यानां, यथामयैतदनुश्रुतम्।

विप्रसन्नमनाघात, सयताना वश्यवताम् ॥१८ ॥

पद्यानुवाद— है पुण्यवानों का मरण सुना, जैसा मैंने है समझ लिया।

आघातरहित अतिहर्षयुक्त, विजितेन्द्रिय मुनि ने ग्रहण किया ॥१८ ॥

अन्वयार्थ—जहा—जैसा कि, **मे—**मैंने, **एयमणुस्सुयं—**परम्परा से यह सुना है कि, **संजयाणं—** सयत, **वुसीमओ—** इन्द्रियो को वश मे करने वाले, (और) **सपुण्णाणं—** पुण्यशालियो का, **मरणं पि—** मरण (एवं जीवन भी), **विप्पसन्नं—** अतिप्रसन्न (एव) **अणाघायं—** आघातरहित होता है।

भावार्थ— जैसा कि मैने परम्परा से यह भी सुना है- सयमी और जितेन्द्रिय पुण्यात्माओ का मरण (एव जीवन भी) अतिप्रसन्न एव आघातरहित होता है।

विवेचन— सकाममरण किनका और कैसा ?— प्रस्तुत गाथा मे सकाममरण अर्थात् पण्डितमरण के अधिकारियो के तीन लक्षण दिये है— (१) सयमी, (२) जितेन्द्रिय और (३) पुण्यशाली। सकाममरण कैसा होता है ? इसे बताने के लिए दो विशेषण प्रयुक्त किये गये है- विप्रसन्न और अनाघात।

---

१ सजयाण— महासभा कलकत्ता(तेरापथ)।

वुसीमओ : चार रूप : चार अर्थ— (१) **वश्यवन्त** = आत्मा और इन्द्रियॉ जिनके वश मे है, (२) **वसीमन्त** = साधुगुणो से बसने वाले, (३) **वशिमान** = सविग्न साधु और (४) **वृषिमन्त** = जितेन्द्रिय ।

विप्पसण्णं : तीन रूप : तीन व्याख्या— (१) **विप्रसन्न मन : ख्यात**— अर्थात् मृत्यु के समय जिनका मन सुप्रसन्न है— कषायरूपी कालुष्य के दूर हो जाने से अकलुष है, वे सुप्रसन्नमना महामुनि उनका ख्यात— स्वसंवेदन से प्रसिद्ध मरण, (२) **सुप्रसन्नैराख्यातं**— सुप्रसन्न— पापपंक के नष्ट हो जाने से अत्यन्त निर्मल-शेष तीर्थङ्करो द्वारा आख्यात-कथितमरण, (३) **विप्रसन्नं अनाघातं**— विशेष रूप से या विविध भावना आदि से जो प्रसन्न है अर्थात्— मोहरज हट जाने से मृत्यु के समय भी अनाकुल-चित्त है, वे विप्रसन्न कहलाते है । उनरो सम्बन्धित मरण भी उपचार से विप्रसन्न है, तथा अनाघात अर्थात्-तथाविध यतना के कारण तथा विधिवत् प्रतिलेखन-प्रमार्जन के कारण उनका मरण अन्य प्राणियो के तथा अपने लिए विघात-रहित है, अथवा जीवनभर शुभकार्य या धर्माचरण करने के कारण मृत्यु का नाम सुनकर हृदय को भयवश या मोहवश कोई आघात नही होता, इसलिए भी यह मरण आघात रहित है ।

पुण्यशाली ही क्यों ?— यह मरण पुण्यात्माओ का ही होता है, अपुण्यवानो का नही, इसका कारण आगम का यह कथन है कि "समाहिमरण अभव्वजीवा ण पावेति' अभव्य जीव प्रकर्ष पुण्यरहित होने के कारण समाधिमरण नही पाते ।

'संजयाणं' का विशेष अर्थ— सयत का विशेष अर्थ है— जो सम्यक् प्रकार से यतनाशील है या पापों से उपरत है; चारित्रवान् है ।

सकाममरण के अधिकारी

मूल— **न इमं सव्वेसु भिक्खूसु, न इमं सव्वेसुऽगारिसु ।**
नाणासीला अगारत्था, विसमसीला य भिक्खुणो ॥१९ ॥

संस्कृत-छाया— नेदं सर्वेषा भिक्षूणां, नेद सर्वेषां अगारिणाम् ।
नानाशीला अगारस्था, विषमशीलाश्च भिक्षवः ॥१९ ॥

पद्यानुवाद— पाते न मरण यह सभी साधु, और नही गृहस्थो मे सारे ।
विविधरूप व्रत धरे गृहीजन, विषमशील मुनिव्रत धारे ॥१९ ॥

अन्वयार्थ— **इमं**— यह सकाममरण, **ण सव्वेसु भिक्खूसु**— न सभी भिक्षुओ को प्राप्त होता है, (और) न, **इमं**— यह, **सव्वेसुऽगारिसु**— सभी गृहस्थो को । **अगारत्था**— गृहस्थ, **नाणासीला**— नाना प्रकार के शीलो से युक्त होते है, **य**— और, **भिक्खुणो**— बहुत

से भिक्षु भी, **विसमसीला**— विषम (विकृत) शील वाले होते है ।

भावार्थ— यह सकाममरण न तो सभी भिक्षाजीवी साधुओ को प्राप्त होता है और न ही यह सभी गृहस्थो को । क्योकि गृहस्थ विभिन्न प्रकार के शील वाले होते है और बहुत से साधु भी विषम (विकृत) शील वाले होते है ।

विवेचन— पण्डितमरण-प्राप्ति का रहस्य— वैसे तो सामान्यरूप से सकाममरण या पण्डितमरण का अधिकारी महाव्रती साधु या व्रती गृहस्थ होता है, किन्तु यहॉ शास्त्रकार इस बात का निषेध करते है कि सभी गृहस्थो को तो दूर रहा, सभी भिक्षुओ को भी यह पण्डितमरण उपलब्ध नही होता, अपितु किन्ही उत्कृष्ट पुण्यशाली विरले भावभिक्षुओ को ही यह प्राप्त होता है । इसका कारण बताते हुए नीचे की पक्ति मे कहा गया है— बहुत से भिक्षु विषमशील होते है । इसका रहस्य खोलते हुए बृहद्वृत्तिकार कहते है— भिक्षुओ का शील अतिदुर्लक्षता के कारण अतिगहन अथवा विसदृश है, एक समान नही है । अन्यतीर्थीय साधु तो दूर रहे, जैन साधु भी मृत्यु के समय सभी अविकल चारित्री या आशसा, शल्य एव निदान से रहित नही होते । सभी भिक्षुओ मे अविकल (निरतिचार-अखण्ड) चारित्र नही होता ।

कई साधुओ (अन्यतीर्थी) के मतानुसार पॉच यम और पॉच नियम ही व्रत है, कई कन्दमूल-फल के आहार को ही व्रत मानते है, और कई आत्मतत्त्व-परिज्ञान को ही व्रत समझते है, कई अभ्युदय की ही कामना करते है, कई मोक्षकामी होते हुए भी उसके साधन को सम्यक् नही जानते, वे आरम्भ से मोक्ष मानते है, अत इनमे अविकल चारित्र की सम्भावना न होने से इनका मरण पण्डितमरण नही हो सकता । तथा गृहस्थो मे भी जैनेतर गृहस्थो की बात तो दूर रही, जैनगृहस्थो मे भी सब मे देशविरतिरूप चारित्र अविकलरूप से पाया नही जाता । उनके शील मे भी एकरूपता नही है । जैसे— कई कहते है— गृहस्थाश्रम का परिपालन करना ही महाव्रत है, कई ७०० शिक्षापदो को ही गृहस्थो का व्रत मानते है, कई गृहस्थाश्रम को ही उत्कृष्टधर्म मानते है, इत्यादि अनेक प्रकार के शील वाले गृहस्थ है । देश-विरतिरूप शील का भी अनेक प्रकार का विधान है, फिर उनका अविकल पालन सभी जैन गृहस्थ नही करते । इस कारण सभी गृहस्थो को भी अन्तिम समय मे यह पण्डितमरण उपलब्ध नही होता ।

मूल— संति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा ।
गारत्थे हि य सव्वेसिं, साहवो संजमुत्तरा ॥२० ॥

संस्कृत-छाया— सन्त्येकेभ्यो भिक्षुभ्य, गृहस्थाः संयमोत्तरा ।
अगारस्थेभ्यश्च सर्वेभ्यः, साधवः संयमोत्तरा ॥२० ॥

पद्यानुवाद— होते कई गृहस्थ श्रमण से, बढकर धर्मविरतिधारी ।
पर सभी गृहस्थो से बढकर, होते मुनिगण संयमधारी ॥२० ॥

अन्वयार्थ— एगेहिं भिक्खूहिं— कुछ भिक्षुओ की अपेक्षा, **गारत्था**— गृहस्थ, **संजमुत्तरा**— संयम मे श्रेष्ठ, **संति**— होते है, **य**— तथा, **सव्वेहिं गारत्थे हि**— सभी गृहस्थो से, **साहवो**— शुद्धाचारी साधुगण, **संजमुत्तरा**— सयम मे श्रेष्ठ है ।

भावार्थ— कुछ भिक्षुओ से गृहस्थ सयम (चारित्रधर्म) मे बढकर होते है, किन्तु सभी गृहस्थो की अपेक्षा शुद्धाचारी साधुगण संयम मे श्रेष्ठ होते है ।

विवेचन— कौन, किन से संयम मे श्रेष्ठ?- प्रस्तुत गाथा मे सयम अर्थात् शुद्धचारित्रधर्म की न्यूनाधिकता का रहस्य खोलते हुए वृहद्वृत्तिकार स्पष्ट करते है कि कुप्रवचन-भिक्षु जीवादि तत्त्वो से अनभिज्ञ होते है, वे आरम्भ-परायण होते है, तथा स्नान, कन्द-मूलादि भक्षण आदि मे धर्म मानते है, अत. वे सर्वथा अचारित्री होते है, उनकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि एवं देशचारित्री गृहस्थ क्या सयम मे बढकर नही है ? किन्तु यह बात निश्चित है कि संसार के सभी गृहस्थो, यहाँ तक कि अनुमोदन के सिवाय सर्वोत्तम देशविरति प्राप्त श्रावको से अविकल चारित्री परिपूर्ण सयमी साधु संयम मे श्रेष्ठ है । आशय यह है कि अव्रती या नामधारी, चारित्ररहित भिक्षुओ से देशव्रती गृहस्थ सयम मे बढ़कर है, और उनकी अपेक्षा सर्वव्रती शुद्धचारित्री साधु सयम मे श्रेष्ठ है ।

संवाद— कुलिगी (वेषधारी) साधु और श्रावक का अन्तर बताने के लिए वृहद्धत्तिकार ने एक सवाद प्रस्तुत किया है । वह परिशिष्ट मे देखे ।

मूल— चिराजिणं नगिणिणं, जडी-संघाडिमुण्डिणं ।
एयाणि वि न तायंति, दुस्सीलं परियागयं ॥२१ ॥

संस्कृत-छाया— चीराजिनं नाग्न्य, जटित्वं सघाटीमुण्डित्वम् ।
एतान्यपि न त्रायन्ते, दुःशीलं पर्यायागतम् ॥२१ ॥

पद्यानुवाद— चीवर अरु मृगचर्म, नग्नता, जटा,कंथ, सिर का मुण्डन ।
दु.शील व्रती के लिये कभी, ये सभी न कर सकते रक्षण ॥२१ ॥

अन्वयार्थ—चीर—वल्कल या चीवर, **अजिणं**— मृगचर्म, **नगिणिणं**— नग्नता, **जडी**— जटाधारण, **संघाडी**— चिथडों की कथा-धारण, **मुण्डिणं**— मुण्डन, शिरो-मुण्डन, **एयाणि वि**— ये सब ब्राह्माचार या वेष (द्रव्यलिङ्ग) भी, **दुस्सीलं परियागयं**— दीक्षापर्याय को प्राप्त दुःशील— (दुराचारी) साधु की, **न तायंति**— (दुर्गति से) रक्षा नही कर सकते ।

विवेचन— विविध वेष भी दुराचारी के रक्षक नहीं— प्रस्तुत गाथा मे बताया गया है कि साधु अगर दु शील है तो चाहे जिस किसी उत्कृष्ट वेष मे हो, चाहे नग्न रहता हो, जटा रखता हो, सिर मुँडाता हो, या छाल पहनता हो, उसे दुर्गति से ये कोई नही बचा सकते । सद्गति या पण्डितमरण का कारण एक मात्र व्रत या शुद्धचारित्र-पालन है, अमुक वेष या अमुक ब्राह्माचार नही । जिसका चित्त कषाय और मिथ्यात्व से कलुषित है, जिसमे बाह्य बकवृत्ति है, उसके बाह्माचार अतिकष्टजनक हो तो भी नरकादि कुगति-निवारण मे समर्थ नही है ।

मूल— पिंडोलए व दुस्सीले, नरगाओ न मुच्चई ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिवं ॥२२ ॥

संस्कृत-छाया— पिण्डावलगोऽपि दु शीलो, नरकान्न मुच्यते ।
भिक्षादो वा गृहस्थो वा, सुव्रतो क्रामति दिवम् ॥२२ ॥

पद्यानुवाद— पिण्डोलक दु शील भिक्षु भी, ना मुक्त नरक से होते है ।
भिक्षु हो, अथवा गृहवासी, सद्व्रती स्वर्ग मे जाते है ॥२२ ॥

अन्वयार्थ—पिण्डोलए व— भिक्षा द्वारा गृहीत पिण्ड (आहार) से निर्वाह करने वाला भी (यदि) **दुस्सीले—** दु:शील है, (तो वह) **नरगाओ—** नरक से, **न मुच्चई—** मुक्त नही हो सकता । **भिक्खाए वा—** भिक्षु हो, अथवा **गिहत्थे वा—** गृहस्थ हो, **सुव्वए—** यदि वह सुव्रती है तो, **दिवं कम्मई—** स्वर्ग में जाता है ।

विवेचन— निरतिचार व्रतपालन ही सुगति और पण्डितमरण का हेतु- इस गाथा निष्कर्ष यह है कि भिक्षु हो चाहे गृहस्थ, यदि वह अपनी-अपनी मर्यादा मे रहकर विशुद्ध रूप से व्रत-पालन करता है तो वह सकाम-मरण से मरकर देवलोक मे जाता है । परन्तु यदि वह साधुवेषी, है, कठोर क्रियाकाण्डी है, अथवा निर्दोष भिक्षा प्राप्त आहार से जीवन निर्वाह करता है, दीर्घतप करता है, किन्तु व्रतपालन निरतिचारूप से नही करता, उसके व्रत, तप, नियम आदि निदान, आशसा और शल्य से युक्त है, वह दुःशील है, दभ, दिखावा, आडम्बर और झूठ-फरेब करता है तो नरक से नही बच सकता ।

दु शील पिण्डोलक के विषय मे राजगृहनगर के दुर्गति भिक्षुक की कथा परिशिष्ट मे देखिए ।

सुव्रती श्रावक को देवलोक-प्राप्ति

मूल— अगारि-सामाइयंगाइं, सड्ढी काएण फासए ।
पोसहं दुहओ पक्खं, एगरायं न हावए ॥२३ ॥

एवं सिक्खासमावन्ने, गिहवासे[१] वि सुव्वए।
मुच्चइ छवि-पव्वाओ, गच्छे जक्खसलोगयं ॥२४ ॥

संस्कृत-छाया—अगारी सामायिकागानि, श्रद्धी कायेन स्पृशति ।
पौषधमुभयो पक्षयोः, एकरात्र न हापयेत् ॥२३ ॥
एव शिक्षासमापन्नः, गृहिवासेऽपि सुव्रत. ।
मुच्यते छविःपर्वण, गच्छेद् यक्षःसलोकताम् ॥२४ ॥

पद्यानुवाद— श्रावक श्रद्धालु स्वय तन से, सामायिक आदि ग्रहण करते ।
दोनो पक्षो मे पौषधव्रत, ना एकरात्रि भी कम करते ॥२३ ॥
ऐसी शिक्षा से युक्त गृही, यदि सुव्रत पालन करता है ।
तज कर औदारिक तन अपना, वह देवलोक पद धरता है ॥२४ ॥

अन्वयार्थ— **सड्ढी**—श्रद्धालु, **अगारि**— गृहस्थ श्रावक, **सामाइयंगाइं**— सामायिक (साधना) के सभी अङ्गो का, **काएण**— काया से, **फासए**— स्पर्श करे । **दुहओ पक्खं**— कृष्ण और शुक्ल दोनो पक्षो मे, **पोसह**— पोषधव्रत को, **एगराइं**— एक रात्रि के लिए भी, **न हावए**— न छोडे ॥२३ ॥

एवं— इस प्रकार, **सिक्खासमावन्ने**[२]— शिक्षा से समापन्न, **सुव्वए**— सुव्रती, **गिहवासेऽवि**—गृहवास मे रहता हुआ भी, **छविपव्वाओ**— औदारिक शरीर से, **मुच्चइ**— मुक्त हो जाता है, (और) **जक्खसलोगयं**— यक्ष—वैमानिक देव के लोक (देवलोक) मे, **गच्छे**— जाता है ॥२४ ॥

विवेचन— अगारि-सामाइयंगाइं : व्याख्या- सामायिक शब्द से तात्पर्य है- सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक और चारित्रसामायिक। उसके दो भेद है- (१) अगारिसामायिक और (२) अनगार-सामायिक । चूर्णि के अनुसार- अगारि-सामायिक के १२ अङ्ग है, जो कि श्रावक के बारह व्रत है । बृहद्धत्ति के अनुसार-अगारि-सामायिक के तीन अङ्ग है- (१) निः शंकता, (२) यथाकाल स्वाध्याय और (३) अणुव्रतादि । वस्तुतः अगारिसामायिक सम्यग्दर्शन-सामायिक, श्रुतसामायिक और देशविरतिरूप सामायिक, ये तीन रूप है ।

---

१. गिहिवासे— लुधियाना से प्रकाशित ।
२ सिक्खासमावन्ने— शिक्षा से यहाँ तात्पर्य है- व्रतों की आसेवना करना । शास्त्रों में शिक्षा दो प्रकार की बताई गई है— (१) ग्रहण शिक्षा (गुरुसेवा में रहकर ली जाने वाली शिक्षा) और (२) आसेवना शिक्षा- (जो गृहीत व्रतों का बार-बार अभ्यास करने से प्राप्त होती है ।)। यहाँ आसेवना-शिक्षा की दृष्टि से कहा गया है ।

काएण फासइ— 'काया से स्पर्श करता है', का तात्पर्य है— सक्रियरूप से आचरण करता है। यहाँ उपलक्षण से मन से और वचन से भी स्पर्श करता है— यह समझ लेना चाहिए।

पोसहं दुहओ पक्खं— कृष्ण एवं शुक्ल दोनो पक्षो मे चतुर्दशी, पूर्णिमा आदि तिथियो मे पौषध (धर्म का पोषण करने वाला आहारादि त्याग रूप पौषध) व्रत करे।

एगराइं न हावए : तात्पर्य— यहाँ रात्रि शब्द का ग्रहण इसलिए किया गया है कि दिन मे कदाचित् व्याकुलता के कारण न कर सकता हो तो रात्रि मे पौषध अवश्य करे। यद्यपि पौषधव्रत सामायिक के अङ्गरूप से सिद्ध है, फिर इसका पृथक् रूप से जो ग्रहण किया गया है, वह इसके प्रति आदर बताने के लिए है। तथा सामायिक जैसे श्रावक का ९ वाँ व्रत है, वैसे पौषध भी ११ वाँ व्रत है, और ये दोनो शिक्षाव्रत की कोटि मे होने से इनकी विशेष रूप से आराधना करने के लिए पृथक्-पृथक् ग्रहण किया गया है।

गिहिवासेऽवि : आशय— 'गृहवास मे रहता हुआ भी' शब्द मे अवि (अपि) शब्द से 'प्रव्रज्यापर्याय मे भी' का ग्रहण हो जाता है। ऐसी स्थिति मे प्रव्रज्यापर्याय ग्रहण करके भी पूर्वोक्त अनगार-सामायिक का ग्रहण अभीष्ट है।

छविपव्वाओ : शब्दार्थ और भावार्थ— छवि का अर्थ है— चमडी और पर्व का अर्थ है— शरीर के सन्धिस्थल जैसे कि घुटने, कुहनी आदि। छविपर्व का तात्पर्यार्थ हुआ चर्म-अस्थि आदि से बना हुआ औदारिक शरीर।

जक्खसलोगयं— यक्ष का अर्थ यहाँ वैमानिक देव है। यक्षो-देवो के तुल्य लोक-यक्षसलोक है।

संवृत अनगार की मरणोत्तर गति

मूल— अह जे सुंवडे भिक्खू, दोण्ह अन्नयरे सिया।
सव्वदुक्खप्पहीणे वा, देवे वावि महिड्डिए ॥२५॥

संस्कृत-छाया— अथ य संवृतो भिक्षु, द्वयोरन्यतरस्मिन् स्यात्।
सर्वदुःखप्रक्षीणो वा, देवो वाऽपि महर्द्धिक ॥२५॥

पद्यानुवाद— सवृत है जो साधु यहाँ, दो गति मे से (वे) कोई पाते।
होते है दु:खमुक्त सर्वथा, या फिर ऋद्धिमान् वे सुर होते ॥२५॥

अन्वयार्थ— अह— और, **जे—** जो, **सुंवडे—** सवृत (पाँच आस्रवो का निरोध करने वाला), **भिक्खू—** भिक्षु होता है, (उसकी) **दोण्हं अन्नयरे—** दो मे से एक स्थिति, **सिया—** सम्भव है, **सव्वदुक्खप्पहीणे वा—** या तो वह सर्व दु:खो से विमुक्त हो जाता है, **देवे वावि महिड्डिए—** अथवा वह महर्द्धिक देव होता है।

भावार्थ— इसके अतिरिक्त जो संवृत भिक्षु होता है, उसकी दो मे से कोई एक स्थिति सम्भव है— या तो वह समस्त दुःखो से सदा के लिए मुक्त हो जाता है, अथवा वह महर्द्धिक देव बनता है ।

सव्वदुक्खप्पहीणे— क्षुधा, पिपासा, इष्टवियोग, अनिष्टसयोग आदि समस्त दुःखो से सदा के लिए रहित अथवा जिसके समस्त दुःख नष्ट हो गए हो, अर्थात् सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है ।

महिड्ढिए महर्द्धिक— महती ऋद्धि-सुखादि सम्पदा वाला देव ।

महर्द्धिक देवों का स्वरूप और स्थान

मूल— **उत्तराइं विमोहाइं, जुइमंताणुपुव्वसो ।**
समाइण्णाइं जक्खेहिं, आवासाइं जसंसिणो ॥२६ ॥
दीहाउया इड्ढिमंता, समिद्धा कामरूविणो ।
अहुणोववन्नसंकासा, भुज्जो अच्चिमालिप्पभा ॥२७ ॥

संस्कृत-छाया— उत्तराणि विमोहानि, द्युतिमन्त्यनुपूर्वशः ।
समाकीर्णानि यक्षैः, आवासाः यशस्विनः ॥२६ ॥
दीर्घायुषो ऋद्धिमन्तः, समृद्धाः कामरूपिणः ।
अधुनोत्पन्नसंकाशाः, भूयोऽर्चिमालिप्रभाः ॥२७ ॥

पद्यानुवाद— है उत्तम आवास देवो के, क्रमशः मन्दमोह द्युतिमान् ।
महायशस्वी देवो से वे, भरे हुए लगते छविमान् ॥२६ ॥
दीर्घायु वे ऋद्धि के धारक, कामरूप ज्योतिर्धारी ।
तत्काल उदित दिनमणि के-से, तेजस्वी प्रखर किरणधारी ॥२७ ॥

अन्वयार्थ—आवासाइं— देवताओ के आवास (स्वर्ग के स्थान), **अणुपुव्वसो उत्तराइं—** क्रमशः ऊर्ध्व (ऊपर-ऊपर) अथवा उत्तम, **विमोहाइं—** मोहरहित से, **जुईमंता—** द्युति (कान्ति) मान् (और), **जक्खेहिं समाइण्णाइं—** देवो से आकीर्ण (व्याप्त) होते है ।(उनमे रहने वाले देव), **जसंसिणो—** यशस्वी, **दीहाउया—** दीर्घायु (लम्बी स्थिति वाले), **इड्ढिमंता —** ऋद्धिमान, **समिद्धा—** समृद्ध (अत्यन्त दीप्तिमान) **कामरूविणो—** इच्छानुसार रूप बनाने वाले, **अहुणोववन्नसंकासा** [१] — तत्काल उत्पन्न हुए हो, ऐसे, कान्तिमान, **भुज्जो अच्चिमालिप्पभा—** अनेक सूर्यो के समान प्रभा वाले (अतितेजस्वी) होते है ।

१. अहुणोववन्नसंकासा : दो अर्थ, तात्पर्य-(१) चूर्णि के अनुसार अभिनव उत्पन्न देह की तरह सर्वाधिक द्युति वाले, अथवा (२) बृहद्वृत्ति के अनुसार-प्रथम उत्पन्न देवों के तुल्य । तात्पर्य यह है कि उन देवों में बालक, युवक, वृद्ध आदि औदारिक शरीर की-सी अवस्थाएँ नही होती । उनका रूप, कान्ति, लावण्य आदि उत्पत्ति के समय जैसा होता है, वैसा ही आयुष्य के अन्त तक होता है ।

विवेचन-विमोहाइ : तात्पर्य— विमोह शब्द के चूर्णिकार ने दो अर्थ किये है— मिथ्यात्वमोहरूप अन्धकार से रहित और पुरुषो को मोहसज्ञा से मोहने वाली स्त्रियो से रहित । बृहद्वृत्तिकार ने दो अर्थ किये है— (१) वेदमोहनीय के उदय की मदता से विमोह के समान, (२) अथवा मोह दो प्रकार का है- द्रव्यमोह और भावमोह । द्रव्यमोह अन्धकार है, जो वहाँ सतत रत्नो से प्रकाशित होने के कारण नही है, भावमोह— मिथ्यादर्शन है, जो वहाँ नही है । क्योकि वंहाँ (अनुत्तरविमान में) सभी देव सम्यग्दृष्टि होते है । सौधर्म देवलोक से लेकर अनुत्तरविमान तक देव उत्तरोत्तर मन्द-मन्दतर मोह वाले है ।

देव-आवासों में जाने के अधिकारी

मूल— ताणि ठाणाणि गच्छंति, सिक्खित्ता संजमं तवं ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, जे संति परिनिव्वुडा ॥२८ ॥

संस्कृत-छाया— तानि स्थानानि गच्छन्ति, शिक्षित्वा सयम तप ।
भिक्षुका वा गृहस्था वा, ये सन्ति परिनिवृत्ता· ॥२८ ॥

पद्यानुवाद— हो भिक्षाजीवी या गृहस्थ, उपशान्त-हृदय जो होते है ।
सयम-तप-साधन करके वे, उन स्थानो मे जाते है ॥२८ ॥

अन्वयार्थ—भिक्खाए वा— भिक्षाजीवी साधु हो, **गिहत्थे वा—** अथवा गृहस्थ हो, **जे—**जो, **परिनिव्वुडा—** परिनिवृत्त हिसा आदि से विरत या शान्त, **संति—** होते है, वे **संजमं—** सयम (और), **तवं—** तप का, **सिक्खित्ता—** अभ्यास करके, **ताणि ठाणाणि—** उन पूर्वोक्त स्थानो (देव-आवासों) मे, **गच्छंति—** जाते है ।

विवेचन— संति परिनिव्वुडा— दो रूप दो अर्थ— (१) शान्ति-परिनिर्वृत- जो शान्ति- उपशम से परिनिवृत्त है, अर्थात्— कषायाग्नि बुझ जाने से अत्यन्त शीतल है, अथवा (२) सन्ति परिनिवृत्ता— जो पापो से सर्वथा निवृत्त हो गए है ।

भिक्खाए वा गिहत्थे वा तात्पर्य— इस पक्ति का तात्पर्य यह है कि १७ प्रकार के सयम और बारह प्रकार के तप का अभ्यास जारी रखने वाला तथा उपशान्त या हिंसादि पापो से सर्वथा निवृत्त भिक्षु तो हो सकता है, गृहस्थ श्रावक प्रतिमाधारी हो तभी वह इन गुणो से युक्त हो सकता है, इसलिए गृहस्थ भी भावसाधु की तरह हो, तभी उन (पूर्वोक्त) देवलोको को प्राप्त कर सकता है ।

पण्डितमरणयोग्य साधु की मृत्यु के समय मनः स्थिति

मूल— तेसिं सोच्चा सपुज्जाणं, संजयाणं वुसीमओ ।
न संतसंति मरणंते, सीलवंता, बहुस्सुया ॥२९ ॥

संस्कृत-छाया— तेषां श्रुत्वा सत्पूज्यानां, सयतानां वश्यवताम् ।
न संत्रस्यन्ति मरणान्ते, शीलवन्तो बहुश्रुताः ॥२९ ॥

पद्यानुवाद— उन दान्त संयमी पूज्यो का, सुन शिक्षाप्रद यह शुभ वर्णन ।
शीलवान् बहुश्रुत मुनिवर वे, पाते न त्रास, जब आए मरण ॥२९ ॥

अन्वयार्थ—**तेसिं**— उन, **सपुज्जाणं**—सत्पूज्यवरो, **संजयाणं**— संयमी मुनियो और **वुसीमओ**—जितेन्द्रिय भिक्षुओ का (पूर्वोक्त वर्णन), **सोच्चा**— सुनकर, **सीलवंतो**— शीलवान और, **बहुस्सुया**— बहुश्रुत मुनि, **मरणंते**— मृत्यु के समय में भी, **न संतसंति**— सत्रस्त नही होते ।

भावार्थ— उन पूजनीय संयत एवं जितेन्द्रिय महान् आत्माओ का वृत्तान्त (सत्पुरुषो द्वारा) सुनकर शीलवान् एवं बहुश्रुत साधक मृत्यु के अन्तिम क्षणो मे भी संत्रस्त नही होते है ।

विवेचन— संयत मुनि मृत्यु से नहीं डरते— पण्डितमरण के योग्य संयत, जितेन्द्रिय, सुव्रती मुनि मृत्यु को निकट आए जानकर जरा भी नही घबराते, क्योकि उनके पास सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी धन बल है जिसके कारण मृत्यु को वे एक महोत्सव मानते है । आचार्य नेमिचन्द्र कहते है— जिनके पास सुगृहीत तपरूपी पाथेय है, जिनका सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र विशुद्ध है, वे समाहित आत्मा वाले श्रमण मृत्यु को 'उत्सव' मानते हैं ।[१] जो धार्मिक पुरुष की गति को नही जानते, जिन्होने अपने जीवन मे धर्माचरण नही किया, ऐसे लोग ही मृत्यु के समय उद्विग्न होते है कि हाय ! हम न मालूम कहाँ जाएँगे ? किन्तु धर्मात्मा एवं धर्मफल के ज्ञाता तो मृत्य के समय जरा भी नही घबराते । बल्कि मृत्यु के समय वे सोचते है— मै कृतकृत्य हूँ, मैने धर्म उपार्जित किया है, उसका फल दुर्गति हो ही नही सकता, मिलेगी सद्गति ही । यही पण्डितमरण का लक्षण है ।

पण्डितमरण साधक का मृत्यु के समय कर्त्तव्य

मूल— **तुलिया विसेसमादाय, दयाधम्मस्स खंतिए ।**
विप्पसीएज्ज मेहावी, तहाभूएण अप्पणा ॥३० ॥
तओ काले अभिप्पेए, सड्ढी तालिसमंतिए ।
विणएज्ज लोमहरिसं, भेयं देहस्स कंखए ॥३१ ॥

संस्कृत-छाया—तोलयित्वा विशेषमादाय दयाधर्मस्य क्षांत्या ।
विप्रसीदेन्मेधावी तथाभूतेनात्मना ॥३० ॥

१. सुगहियतव-पत्थयणा विसुद्धसमत्तनाणचारित्ता ।
मरणं ऊसवभूयं, मन्नन्ति समाहियप्पाणो ॥ — सुखबोधा पत्र १०८

तत काल अभिप्रेते, श्रद्धी तादृशमन्तिके ।
विनयेल्लोमहर्ष, भेद देहस्य काक्षेत ॥३१ ॥

पद्यानुवाद— उभय मरण की तुलना कर, ले दया धर्म अरु क्षमा विशेष ।
प्रसन्नता रखकर मेधावी, हो तथाभूत मन जीवन-शेष ॥३० ॥
मरण-समय की इष्ट घडी मे, श्रद्धालु निर्भय चित्त धरे ।
गुरुचरणो मे अनशनपूर्वक, देहत्याग का भाव करे ॥३१ ॥

अन्वयार्थ—मेहावी— मेधावी साधक, **तुलिया—** (बालमरण और पण्डितमरण की परस्पर) तुलना करके (इनमे से), **विसेसमादाय—** विशिष्ट (सकाममरण) को स्वीकार करे । (तथा मरणकाल मे), **दयाधम्मस्स खंतिए—** दयाधर्म एव क्षमा से पवित्र, **तहाभूएण अप्पणा—** तथाभूत आत्मा से, **विप्पसीएज्ज—** अत्यन्त प्रसन्न रहे ॥३० ॥

तओ— तत्पश्चात्, **काले अभिप्पए—** मरणकाल जब निकट आए (या अभिप्रेत हो) **सड्ढी—** जिस श्रद्धा से प्रव्रज्या या सल्लेखना स्वीकार की थी, **तालिसमंतिए—**वैसी ही श्रद्धा रखने वाला भिक्षु गुरु के निकट, **लोमहरिसं—** पीडा-जन्य लोमहर्ष (रोमाच) को, **विणएज्ज—** दूर करे, (तथा) **देहस्स—** शान्ति से शरीर के, **भेयं—** भेद की, **कंखए—** प्रतीक्षा (काक्षा) करे ॥३१ ॥

विवेचन— तुलिया : दो तात्पर्यार्थ— (१) स्वय को तौल कर अपनी धृति, दृढता, उत्साह आदि की परीक्षा करके, (२) बालमरण और पण्डितमरण दोनो की तुलना करके ।

विसेसमादाय— दो तात्पर्यार्थ— (१) (प्रसगवश) भक्तपरिज्ञा आदि मरणो मे किसी विशेष मरण को स्वीकार करके अथवा (२) बालमरण और पण्डितमरण, इन दोनो मे जो विशिष्ट (पण्डितमरण) है, उसको स्वीकार करके ।

दयाधम्मस्स : खंतिए अभिप्राय— (१) दयाप्रधान धर्म-सम्बन्धी क्षान्ति (सहिष्णुता एव क्षमा), उपलक्षण से मार्दव आदि दशविध श्रमणधर्म से, (२) दयाधर्म यतिधर्म का विशिष्ट रूप से ।

तहाभूएण अप्पणा : आशय— (१) उपशान्त मोहोदयरूप आत्मा से, अथवा (२) जिस प्रकार मरणकाल से पहले अनाकुलचेता था, उसी प्रकार मृत्युकाल मे अवस्थित आत्मा से ।

विप्पसीएज्ज : दो अर्थ— (१) (मृत्यु के समय) विशेष रूप से प्रसन्न हो, उद्विग्न नही । अथवा (२) कषायरूपी पक हट जाने जाने से (मृत्यु के समय प्रसन्नता) स्वच्छता प्राप्त करे, किन्तु बारह वर्ष तक सल्लेखना कर लेने के बाद भी अपनी अंगुली मोडकर तोड देने वाले तथाकथित तपस्वी की तरह कषायालम्बन न रखे । (कथा परिशिष्ट मे देखें ।)

काले अभिप्पेए : आशय— अभिप्रेत-अभिरुचित-अभीष्ट मरणकाल के आने पर। मरणकाल कब अभिप्रेत होता है ? जब योग—मन,वचन और काया का व्यापार बन्द होने लगे।

सड्ढी तालिसं : दो तात्पर्य— (१) श्रद्धावान् साधक तादृश— वैसे मृत्यु भय के उत्थित भाव अथवा मरण को, गुरु के समीप जाकर विनयपूर्वक निवेदन करे, अथवा(२) अन्तिम समय मे भी वैसे ही (तादृश) श्रद्धावान् होकर। अर्थात्— जिस श्रद्धा से प्रव्रज्या स्वीकार की थी या सल्लेखना-ग्रहण की थी। कहा भी है—

"जाए सद्धाए णिक्खतो परियायट्ठाणमुत्तम, तमेव अणुपालेज्जा।"

सकाममरण की सामान्य विधि का निर्देश

मूल— अह कालंमि संपत्ते, आघायाय समुस्सयं।
सकाममरणं मरई, तिण्हमन्नयरं मुणी ॥३२॥

॥ त्तिबेमि ॥

संस्कृत-छाया— अथ काले संप्राप्ते, आघातयन् समुच्छ्रितम्।
सकाममरणेन म्रियते, त्रयाणामन्यतरेण मुनिः ॥३२॥

इति ब्रवीमि।

पद्यानुवाद— मरण घड़ी आने पर मुनिवर, अनशन से कृश देह करे।
सकाममरण त्रिविध मे कोई, एक मरण स्वीकार करे ॥३२॥

अन्वयार्थ—अह— इसके पश्चात्, **कालम्मि संपत्ते**— मृत्युकाल प्राप्त होने पर, **सम्मुस्सयं**— समुच्छ्रय का अर्थात्- कार्मण शरीर और औदारिक शरीर का, **आघायाय**— संलेखना द्वारा (धीरे-धीरे) त्याग (विनाश) करता हुआ, **मुणी**— मुनि, **तिण्हमन्नयरं**— भक्तपरिज्ञा, इंगिनी या प्रायोपगमन, इन तीनो मे से किसी एक, **सकाममरणं**— सकाममरण से, **मरइ**—मृत्यु प्राप्त करता है। **त्तिबेमि**— ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन- आघायाय समुस्सयं : तात्पर्य— (१) बृहद्वृत्ति के अनुसार समुच्चय— और आन्तरिक (कार्मण) शरीर का नाश करता हुआ, (२) अथवा- शरीर के विनाश का अवसर आने पर। संल्लेखना मे तपस्या करने और कषायविजय करने से, बाह्य औदारिक शरीर कृश होकर धीरे-धीरे क्षीण होता है, और साथ ही आन्तरिक कार्मणशरीर भी क्षीण होता जाता है।

तिण्हमन्नयरं— भक्तपरिज्ञा, इंगिनी और पादपोपगमन ये अनशन के तीन प्रकार है।

मुनि को इन तीनो मे से किसी एक का स्वीकार करके उसके द्वारा देह त्याग करना चाहिए। भक्तपरिज्ञा उसे कहते हैं— जिसमे चतुर्विध आहार और बाह्याभ्यन्तर उपधि का यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान किया जाता है, इगिनी या इगितमरण उसे कहते है- जिसमे अनशनकर्ता एक निश्चित स्थान मे रहता है, उससे बाहर नही जाता। पादपोपगमन मे साधक कटे हुए वृक्ष की भॉति शरीर निरपेक्ष होकर स्थिर रहता है।

॥अकाम-मरणीय : पंचम अध्ययन समाप्त॥

पंचम अध्ययन का परिशिष्ट (कथा भाग)

(१) सार्थक या निरर्थक प्राणिहिंसा : दुर्गतिफलदायिनी

(तओ से दंडं समारंभइ, तसेसु थावरेसु अ।
अट्ठाए य अणट्ठाए.....अ. ५, गाथा ८)

दुर्मति अजापालक (गडरिया) प्रतिदिन अपनी बकरियो को चराने के लिए जगल मे ले जाया करता था। बकरियो को चराते-चराते जब दोपहर हो जाती तो वह एक बड के पेड की छाया मे बैठ जाता, उसकी बकरियाँ भी उसके आसपास ही बैठ जाती। वही बैठा-बैठा वह अजापालक एक छोटा-सा धनुष बनाता और उस पर बेर की गुठली रखकर शाम होने तक उस वटवृक्ष के पत्तो को छेदता रहता। यो करते-करते उसने वटवृक्ष के सभी पत्तो को सछिद्र कर दिया।

एक दिन अपने बड़े भाई से बहिष्कृत एक राजकुमार वहाँ आया। उसने नजर उठाकर उस वटवृक्ष का पत्ता-पत्ता छेद वाला देखा तो आश्चर्य भरी मुद्रा मे उस गडरिये से पूछा— "अहो ! इस बड़ के पत्ते छेद वाले हो रहे है। बता सकते हो इन सब पत्तो को किसने छेद डाला है ?" इस पर अजापालक ने सगर्व कहा- "और कौन करता ? मैने ही इन सब पत्तो को सछिद्र किया है। जब बकरियाँ चर कर दोपहर मे इस बड के नीचे बैठ जाती है तब मै यही बैठकर समय बिताने के लिए गिलोल पर बेर की गुठली चढाकर पत्तो की ओर निशाना साधता हूँ और दिनभर मे एक-एक करके कई पत्तो को छेद डालता हूँ।"

राजकुमार ने अजापालक की पत्र-छेदन-कुशलता देखकर मन ही मन विचार किया कि मेरे बडे भाई ने मुझे जो राज्य से निकाल दिया है, उसका बदला लेने के लिए इस गडरिये से उसकी आँखे फुड़वाई जा सकती है। यह सोचकर राजकुमार ने पहले तो उस गडरिये की कार्यकुशलता की अत्यन्त प्रशंसा की तत्पश्चात् उसने बहुत-सा धन देकर कहा कि क्या तुम मै कहूँ उस व्यक्ति की आँखे फोड़ सकते हो ?

उसने कहा— "बेशक, मै फोड सकता हूँ।"

इस पर वह राजकुमार उस गडरिये को अपने साथ शहर मे ले गया और एक गुप्त मकान मे रहने एवं खाने-पीने आदि की व्यवस्था कर दी। एक दिन राजकुमार का बडा भाई, जो राजा था, घोड़े पर बैठकर कही जा रहा था। जब वह मकान के निकट से होकर जाने लगा तो उस राजकुमार ने गडरिये से कहा- "झटपट निशाना साधकर इसी की आँखे फोड दो।" गडरिये ने गिलोल पर गोली चढाकर उसकी आँखों मे मारी, जिससे तत्काल उसकी

ऑखे फूट गई । वह अन्धा हो गया । फलत· यह राजकुमार उसके स्थान पर राजा बन गया ।

राजा बन जाने पर उसने गडरिये से कहा— "अब तुम अपनी मनचाही वस्तु मॉग लो । मै तुम्हे मुँहमॉगी वस्तु दूँगा ।" गडरिये ने कहा—"मै जिस गॉव मे रहता हूँ । वह गॉव ही मुझे इनाम मे दे दीजिए ।" राजा ने उसे वह गॉव इनाम मे दे दिया ।

कथा का निष्कर्ष यही है कि जैसे अजापालक ने निष्प्रयोजन वृक्ष के हरे पत्तो का छेदन किया था, तथा किसी के कहने पर प्रयोजनवश चाहे राजा की ऑखे फोड़ डाली थी, मगर इन दोनो प्रकार के निरर्थक एव सार्थक दण्ड- हिंसा का बुरा फल भोगना पड़ेगा । इसी तरह जो व्यक्ति मन-वचन-काया से प्राणियो के प्रति सार्थक या निरर्थक दण्ड-प्रयोग करते है, उन्हे उन पापकर्मो का बुरा फल अवश्य ही भोगना पडेगा । सबसे बढकर दुष्परिणाम तो यह है कि उनका मरण बिगड़ जाता है ।

— उत्तराध्ययन अ. ५, गाथा ८

(२) कतिपय साधुओं की अपेक्षा गृहस्थ संयम में बढ़कर
('संति एगेहिं भिक्खूहिं गारत्था संजमुत्तरा'..... अ. ५, गा. २०)

एक श्रावक ने किसी साधु से पूछा— "मुनिवर श्रावक और साधु मे क्या अन्तर है ?" साधु ने इस प्रश्न का उत्तर दिया— "श्रावक जी ! जितना अन्तर सरसो और मेरुपर्वत मे होता है, उतना ही अन्तर दोनो मे है ।"

मुनि की बात सुनकर श्रावक को अत्यन्त आश्चर्य हुआ । उसने कुछ व्याकुल-सा होकर उक्त साधु से पुनः प्रश्न किया— "अच्छा मुनिवर ! यह बताइये कि कुलिंगियो (वेशधारी साधुओं) और व्रतधारी श्रावको मे क्या अन्तर है ?"

साधु ने इसके उत्तर मे वही बात पुन· दोहराई अर्थात् सरसो और मेरुपर्वत जितना अन्तर है । इस उत्तर से श्रावक को सन्तोष हुआ ।

आशय यह है कि आस्तिक्य भाव हीन तथा सर्वथा चारित्र-विहीन कुतीर्थिक कुशील आदि साधुओ की अपेक्षा सम्यग्दर्शन-सम्पन्न गृहस्थ उत्तम है ।

— उत्तराध्ययन, अ. ५, गाथा २०

(३) केवल भिक्षाजीविका दुःशील साधक को नरक से बचा नहीं सकती

(पिंडोलए न दुस्सीले नरगाओ न मुच्चइ..... अ. ५, गाथा २२)

राजगृह नगर मे दुर्गति नाम का एक भिक्षुक प्रतिदिन नगर के सभी मुहल्लो मे भिक्षा मॉगने के लिए घूमता था। किन्तु दुर्भाग्यवश कभी उसे पर्याप्त भिक्षा नही मिलती थी, कभी-कभी तो बिल्कुल ही नही मिलती थी। एक दिन वैभारगिरि के निकटवर्ती उद्यान मे नगरवासियों ने मिलकर एक प्रीतिभोज का आयोजन किया था। इसने जब यह सुना कि आज उद्यान में बहुत से लोगो के लिए सरस स्वादिष्ट भोजन बन रहा है तो यह भी अपने पात्र लेकर उस उद्यान में पहुँच गया। वहॉ बहुत-से मनुष्यों को पंक्तिबद्ध भोजन करते देख इसकी जीभ मे पानी आ गया। यह भिक्षा पाने की आशा से वहॉ भोजन कर रहे प्रत्येक व्यक्ति के पास जा-जाकर दीनतापूर्वक कहने लगा—"दाता ! मुझे भी कुछ खाने को मिल जाए; मैं कई दिनो का भूखा हूँ।" इस प्रकार दीनवचन कहकर वह लोगो का ध्यान अपनी ओर खीचने का प्रयत्न करता रहा। परन्तु नागरिक लोग उसकी रसलोलुपता, आलस्यपरायणता और आचारहीनता से परिचित थे। इस कारण उस भाग्यहीन को किसी ने कुछ नही दिया; क्योकि लोग जानते थे कि इसको भिक्षा देना, इसके पुरुषार्थ को नष्ट करना है। इसकी भिक्षा पौरुषघ्नी भिक्षा है।

जब दुर्गति भिक्षुक को मॉगने पर भी वहॉ से कुछ भी न मिला तो उसे बहुत रोष चढा। उसने ईर्ष्या-द्वेषवश इस प्रकार विचार किया- "ये सब लोग कितने निर्दय एव स्वार्थी है कि स्वयं तो ठूॅस-ठूॅसकर खा रहे है, किन्तु मुझ दीन-हीन को एक टुकडा तक भी नही देते। अत' जो यहॉ वैभारगिरि के निकट बैठे हुए है, इन सब निर्दयी-स्वार्थियो पर तो पर्वत से एक बडी शिला लुढकाकर चूर-चूर कर डालना चाहिए।"

ऐसे दुष्ट विचारो से प्रेरित होकर वह भिक्षुक वैभारगिरि पर जा चढा और क्रोध से आगबबूला होकर उसने वहॉ से एक बड़ी भारी शिला उन पर पटकने के अभिप्राय से वहॉ से लुढकाई। किन्तु शिला लुढकते ही वह वहॉ से दूर हट न सका, इस कारण वह शिला के नीचे दब गया। दबते ही उसका शरीर चूर-चूर हो गया। फलतः रौद्रध्यान पूर्वक उसकी वही मृत्यु होने पर मरकर सातवी नरक में गया।

अतः केवल भिक्षाजीविका साधु की दुर्गति (नरकादि) से रक्षा नही कर सकती, उसका दुर्ध्यान, दु:शीलता उसे अवश्य ही नरक मे ले जाएँगे। सम्यक् चारित्र-व्रत ही दुर्गति से उसकी रक्षा कर सकता है।

— उत्तराध्ययन अ. ५, गाथा २२

(४) शरीर-क्षीणता के साथ कषायक्षीणता हो. तभी समाधिपूर्वक सकाममरण

(..... विप्पसीएज्ज मेहावी, तहाभूएण अप्पणा० अ. ५, गाथा ३०.)

सुगुप्ताचार्य का उग्रबुद्धि नामक शिष्य यथानाम तथागुण की कहावत को चरितार्थ करता था। उसकी इच्छा हुई कि मै तपस्वी तो हूँ ही, अत. अन्तिम आराधना के रूप मे मै बारह वर्ष की संल्लेखना— साधना अङ्गीकार करके क्यो नही नाम कमा लूँ !अत उसने आचार्यश्री से आज्ञा प्राप्त किये बिना ही बारह वर्ष की सल्लेखना-साधना स्वीकार कर ली। जब एक वर्ष पूर्ण हुआ तो वह आचार्यश्री के पास आकर कहने लगा— "भगवन् ! अब आप मुझे यावज्जीव अनशन के लिए आज्ञा प्रदान कीजिए।" उसकी बात सुनकर आचार्य ने कहा— "वत्स ! अभी समय नही आया है।" आचार्यश्री की बात सुनकर शिष्य चुप हो गया।

उसके पश्चात् जब दूसरा वर्ष पूर्ण हो गया, तब उसने आचार्यश्री से यावज्जीव अनशन की आज्ञा के लिए पुनः निवेदन किया। आचार्यश्री का भी वही उत्तर था- "अभी अवसर नही आया है।" आचार्यश्री की बात पर शिष्य फिर शान्त रहा।

जब तृतीय वर्ष की सल्लेखना मे छह मास शेष रहे तो उसने पुनः आचार्यश्री से प्रार्थना की- "भगवन् ! अब तो मुझे यावज्जीव अनशन ग्रहण करने की आज्ञा दीजिए।"

इस पर भी आचार्य ने अपनी अनुमति एवं स्वीकृति न दी।

इस प्रकार उग्रबुद्धि शिष्य को बारह वर्ष सल्लेखना के व्यतीत होने आए, फिर भी आचार्य ने उसे अनशन ग्रहण करने की आज्ञा नही दी।

अन्त मे जब उग्र सल्लेखना एव तपस्या से उसका शरीर कृश हो गया, और वह मांस-चर्बी रहित केवल अस्थिपजर मात्र रह गया, तब बारहवे वर्ष के अन्तिम दिन वह पुनः आचार्य महाराज के पास पहुँचा और कहने लगा— भते ! सल्लेखना करते-करते मुझे बारह वर्ष हो चुके हैं। देखिये, इस समय मेरे शरीर की कैसी दशा हो गई है। इसमे अब नाममात्र के भी रक्त-मांस आदि नही रहे। मेरा शरीर बिलकुल सूखकर कांटा-सा हो गया है। सभी अङ्गोपाग शिथिल, निर्बल और रूक्ष हो गये है। अत. अब आप कृपा करके मुझे अनशन करने की आज्ञा प्रदान कर दीजिए।"

आचार्य ने उसकी मन स्थिति देखकर कहा- "वत्स ! अभी भी तुम्हारे लिए यावज्जीव अनशन का अवसर नही आया है।"

आचार्यश्री की बात सुनकर उग्रबुद्धि शिष्य को गुस्सा आ गया। उसने खीझकर क्षोभवश आचार्यश्री के देखते ही देखते अपने हाथ की कनिष्ठिका (सबसे छोटी) अगुली को तोडकर कहा- "क्या अब भी आप मुझे अनशन के लिए अयोग्य समझते हैं? आशा है, अब आप मुझे अनशन के लिए आज्ञा प्रदान कर देगे।"

इस पर आचार्यश्री ने कहा- "वत्स ! मै देख रहा हूँ, अभी तक केवल तुम्हारा शरीर ही कृश हुआ है। इसके सिर्फ रक्त-मांस ही सूखे है, तुम्हारे कषाय न तो कृश हुए है, और न ही उनकी परिणति सूखी है। वह तो पूर्ववत् बनी हुई है। यदि उग्र-तपस्वी का क्रोध भी उग्र होता जाता है, वह उपशान्त नही होता है तो उस लम्बी तपस्या से क्या लाभ? इसीलिए तो मैने तुमसे कहा कि तुम्हारे लिए अभी अनशन का उपयुक्त अवसर नही आया है। अगर मै तुम्हारी मनःस्थिति को पहले ही जान गया होता तो बात इतनी आगे बढाने की जरूरत ही न होती।"

इस प्रकार घोर तपस्वी उग्रबुद्धि शिष्य का मरण कषाय के सद्भाव मे सकाममरण न होकर अकाममरण ही हुआ।

अतः मुमुक्षु साधक मृत्यु की घड़ी आने से पूर्व शरीर-संल्लेखना के साथ कषाय की संल्लेखना अवश्य करे, अन्यथा सुखद, सुप्रसन्न एव कषाय रहित पवित्र अन्तःकरणयुक्त समाधिपूर्वक सकाममरण होना कठिन है। समाधिपूर्वक मरण ही तप्त तप का, आचरित व्रत या धर्म का तथा पठित श्रुत का सार है।

— उत्तराध्ययन अ. ५, गाथा ३०

षष्ठ अध्ययन : क्षुल्लक-निर्ग्रन्थीय

(अध्ययन सार)

इस अध्ययन का नाम क्षुल्लक-निर्ग्रन्थीय है ।

क्षुल्लक का अर्थ यहाँ छोटा साधु या लघु शिष्य है, जो कुछ ही दिन हुए मुनिधर्म मे दीक्षित हुआ हो साथ ही निर्ग्रन्थ बना हो, अर्थात्— बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थो से मुक्त हुआ हो, उसके बाह्य-आभ्यन्तर-ग्रन्थत्याग का संक्षिप्त निरूपण इस अध्ययन मे है ।

'निर्ग्रन्थ' शब्द जैन आगम और जैनदर्शन का बहुत ही प्राचीन और महत्त्वपूर्ण प्रचलित शब्द है । आगमो मे अनेक स्थानो पर निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र के नाम से भगवान् महावीर को सम्बोधित किया है । बौद्ध साहित्य मे भी भगवान् महावीर को 'निग्गण्ठ' (निर्ग्रन्थ) कहा गया है । तपागच्छ पट्टावली के अनुसार भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के बाद सुधर्मास्वामी से आठ आचार्यो तक भगवान् महावीर का सघ और धर्म (जैनधर्म) निर्ग्रन्थ-धर्म के नाम से प्रचलित था ।

स्थूल और सूक्ष्म दोनो प्रकार के ग्रन्थो का परित्याग कर क्षुल्लक अर्थात्- साधु निर्ग्रन्थ होता है ।

कषायवश या राग-द्वेष-मोहवश आत्मा जिन पदार्थो से कर्मो द्वारा ग्रथित हो जाता है, जकड जाता है, बँध जाता है, उसे 'ग्रन्थ' कहते है । अथवा जिन क्षेत्र-वास्तु, धन-धान्यादि के साथ अथवा मिथ्यात्व, कषाय आदि के साथ प्राणी आत्मा को कर्म के साथ ग्रथित सम्बद्ध कर देते है— बाँध देते है, उसे 'भावग्रन्थ' कहते है ।

ग्रन्थ बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकार का है । बाह्य ग्रन्थ दस प्रकार का है— (१) क्षेत्र, (२) वास्तु (भूमि गृह आदि), (३) धन (सोना आदि), (४) धान्य, (५) संचय (तृण-काष्ठादि संग्रह) (६) सयोग (मित्र, ज्ञाति, स्वजन, श्वसुरकुल आदि का आसक्तियुक्त सम्बन्ध) (७) यान (वाहन आदि) (८) शयनासन (पलंग, चौकी, शय्या आदि) (९) दासी-दास तथा (१०) कुप्य, (घर का उपयोगी सामान) ।

आभ्यन्तर ग्रन्थ १४ प्रकार का है— (१) क्रोध, (२) मान, (३) माया, (४) लोभ, (५) प्रेय (राग या आसक्तियुक्त- मोह), (६) दोष (अप्रीतिरूप द्वेष) (७) मिथ्यात्व, जिनोक्त तत्त्व मे विपरीत बोध (अज्ञान—अविद्या) (८) वेद (९) अरति (संयम मे चित्तोद्वेग) (१०) रति (मनोज्ञ विषयो, वेद या असंयम मे रमण या रुचि), (११) हास्य, (१२) शोक (१३) भय और (१४) जुगुप्सा ।

जहाँ शरीर, वस्तु, आहार, कनक आदि पर मूर्च्छा होती है, वहाँ भी परमार्थतः ग्रन्थ है। राग-द्वेष का बन्धन भी ग्रन्थ है। ग्रन्थ का अर्थ गाँठ है, फिर भले ही बाहर की हो चाहे अन्दर की। साधक को इन बाह्य और आभ्यन्तर सभी ग्रन्थो का स्वरूप ज्ञ-परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से इनका परित्याग करना आवश्यक है।

प्रस्तुत अध्ययन मे सर्वप्रथम मिथ्यात्वरूप आभ्यन्तर ग्रन्थयुक्त प्राणी को दूसरे अनेक ग्रन्थो का जनक बताकर उसे समस्त दुःखो की उत्पत्ति एवं अनन्त संसार-परिभ्रमण का कारण बताया है। मिथ्यात्व के बदले यहाँ अविद्या शब्द का प्रयोग किया गया है। अज्ञान और मिथ्यात्व इन दोनो का समावेश अविद्या मे हो जाता है। पातंजल योग दर्शन के अनुसार-अविद्या का अर्थ है— अनित्य मे नित्य की, अशुचि मे शुचि की, दुःख में सुख की और अनात्मा में आत्मा की अनुभूति।[१] जैनदर्शन के अनुसार अधर्म-धर्म, जीव-अजीव, साधु-असाधु, संसारमार्ग-मोक्षमार्ग, कर्ममुक्त-अमुक्त; आदि के प्रति विपरीत दृष्टि, सज्ञा (समझ) या श्रद्धा मिथ्यात्व है। आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक आदि ५ या २५ प्रकार के मिथ्यात्व है। यह विपरीत दृष्टि या श्रद्धा ही अविद्या है।

इसीलिए दूसरी गाथा मे साधक को विद्यावान (सम्यग्दर्शनयुक्त ज्ञान सम्पन्न) बनकर पुत्र-कलत्रादि मोह सम्बन्धो को पाश (बन्धनहेतु) और एकेन्द्रियादि मे जन्म का मार्ग जानकर स्वयं सत्यान्वेषण करने और सर्वभूतमैत्री का आचरण करने की प्रेरणा दी है।

अविद्या के कारण स्वकर्मवश दुःख पाता हुआ मनुष्य कभी माता-पिता आदि स्वजनो को, कभी गो, अश्व आदि पशुवर्ग, मणि-माणिक आदि धन, दास-दासी, तथा चल-अचल सम्पत्ति, धान्य, गृहोपयोगी साधन आदि को अपनी— त्राण का कारण मानता है, अतः साधक को इनके प्रति गृद्धि (मूर्च्छा), आसक्ति एवं ममता का परित्याग कर देना चाहिए, पूर्वाश्रम के परिचित सजीव-निर्जीव पदार्थो से कोई संसर्ग नही रखना चाहिए। तभी वह इनके बन्धनो से मुक्त, स्वतन्त्रविहारी एवं सच्चे माने मे निर्ग्रन्थ हो सकता है, यह तीसरी से छठी गाथा तक बताया गया है।

इष्ट वस्तु के संयोग-वियोग एवं अनिष्ट वस्तु के सयोग-वियोग से होने वाले सुख-दुःख सभी आत्मा (मन) से सम्बन्धित है। वस्तु अपने आप मे दुःख-सुख देने वाली नही होती। यह सोचकर इष्ट-अनिष्ट संयोग-वियोग के लिए प्राणिहिंसा, असत्य, वैर, भय आदि से दूर रहना चाहिए। यह सातवी गाथा मे बताया गया है।

---

१. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥

९ वी से ११ वी गाथा तक यह बताया गया है कि ज्ञान और क्रिया दोनो से मोक्ष होता है, इस सिद्धान्त को मानकर कई ज्ञानवादी लोग हिंसा आदि पापो का प्रत्याख्यान किये बिना केवल आचार-विचार को जान लेने मात्र से बन्ध, मोक्ष की या तत्त्वज्ञान की लम्बी-चौडी व्याख्या कर देने मात्र से अथवा बहुत-सी भाषाएँ या विद्याएँ या दर्शनशास्त्रो को सीख लेने मात्र से सर्वदुःखो (दुःखमूल कर्मो) से मुक्ति मानते हैं, परन्तु ऐसे एकान्तवादी लोग मिथ्यात्वग्रन्थी से ग्रस्त हैं।

१२वी से १६वी गाथा तक शरीर एवं शरीर से सम्बन्धित पदार्थों के प्रति आसक्ति, मोह-ममत्व या आकांक्षा के त्याग का उपदेश देते हुए ग्रन्थत्याग का विवेक बताया है कि शरीरासक्ति सर्वदुःखो का कारण है अतः मन-वचन-काया से शरीर के प्रति आसक्ति न रखे। शरीरासक्तिवश अनेक प्रकार के पापकर्म मनुष्य करता है और उनके फलस्वरूप दीर्घकाल तक ससार परिभ्रमण करता है। इसलिए साधु को पूर्वकर्मो के क्षय के लिए ही इस शरीर को निर्दोष आहारादि से धारण करना है, मोक्ष का लक्ष्य रखने वाला साधक विषयाकांक्षा कभी न करे, न भोग-विलासार्थ निदान करे। जब तक शरीर है, तब तक यथावसर इसे कर्मबन्ध के कारणो से दूर रखे। आवश्यकता-पूर्तिमात्र निर्दोष भिक्षा द्वारा आहार-पानी ले। आवश्यक वस्तुओ का भी लेशमात्र संग्रह न करे। पक्षी की तरह निरपेक्ष, अप्रतिबद्ध एव स्वतन्त्र विचरण करे। सदा अप्रमत्त रहे। यही ग्रन्थत्याग का उपाय है।

कुल मिलाकर आत्मार्थी एव मुमुक्षु साधक के लिए इस अध्ययन मे निर्ग्रन्थता का सुन्दर उपदेश है।

छट्ठा अध्ययन : क्षुल्लक-निर्ग्रन्थीय

(छट्ठमज्झयणं : खुड्डागनियंठिज्ज)

अविद्या : भवभ्रमणरूप दुःख का हेतु

मूल— जावन्तऽविज्जापुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए ॥१ ॥

संस्कृत-छाया— यावन्तोऽविद्याः पुरुषाः सर्वे ते दुःखसभवाः ।
लुप्यन्ते बहुशो मूढाः, संसारे ऽनन्तके ॥१ ॥

पद्यानुवाद— जितने विद्याहीन पुरुष, वे जग मे दुःख बढाते है ।
बहुधा अनन्त इस भवसागर, मे मूढ कठिन दुःख पाते है ॥१ ॥

अन्वयार्थ—जावन्त—जितने भी, **अविज्जापुरिसा—** अविद्यावान (मिथ्यात्व से अभिभूत) पुरुष है, **ते सव्वे—** वे सब, **दुक्खसंभवा—** दुःख को उत्पन्न करने वाले है। (वे) **मूढा—** विवेकमूढ, **अनंतए संसारम्मि—**अनन्त संसार मे, **बहुसो—** बार-बार, **लुप्पंति—**लुप्त होते है ।

विवेचन— अविज्जापुरिसा : व्याख्या— जिनमे यथार्थ तत्त्व-बुद्धि न हो, वे अविद्या पुरुष है। अविद्या का अर्थ यहाँ सर्वथा ज्ञानाभाव नही, किन्तु मिथ्यात्व से अभिभूत विद्या—अविद्या है । अविद्या-प्रधान पुरुष अविद्या पुरुष है ।

दुक्खसम्भवा : दो अर्थ— (१) जिनमे दुःख का सम्भव हो, वे दुःखसम्भव अथवा (२) दु.खजनक पापकर्मो का जिनके जीवन मे सम्भव— उत्पत्ति हो, वे दुःखसम्भव है ।

लुप्पंति बहुसो मूढा— व्याख्या— मूढ— हिताहित विवेक करने से असमर्थ अथवा चातुर्गतिक संसार मे भ्रमण करते हुए अनेक बार लुप्त होते है— दरिद्रता आदि से पीडित होते है ।

विद्यारहित पुरुष के सम्बन्ध मे दिव्य कुम्भनिर्माण विद्यारहित पुरुष की कथा परिशिष्ट मे दी गई है ।

के दो पक्ष : सत्य और मैत्री

मूल— समिक्ख पंडिए तम्हा, पासजाईपहे[1] बहू।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा मेत्तिं भूएसु कप्पए ॥२ ॥

संस्कृत-छाया— समीक्ष्य पण्डितस्तस्मात्, पाशजातिपथान् बहून् ।
आत्मना सत्यमेषयेत्, मैत्रीं भूतेषु कल्पयेत् ॥२ ॥

---

१ जाइपहे— लुधियाना से प्रकाशित ।

पद्यानुवाद— जीवयोनि के जातिपथो को, पण्डित पाश प्रबल जाने ।
स्वय सत्य की खोज करे अरु, जगजीवो से मैत्री ठाने ॥२ ॥

अन्वयार्थ—तम्हा— इसलिए, **पंडिए—** पण्डित पुरुष, **बहू—** अनेकविध, **पास-जाइपहे—** पाश (स्त्री-पुत्र धनादिरूप बन्धन) (एव) एकेन्द्रियादि जाति पथो की, **समिक्ख—** समीक्षा कर, **अप्पणा—** स्वय, **सच्चमेसेज्जा—** सत्य का अन्वेषण करे, (तथा) **भूएसु—** सर्वजीवो के प्रति, **मेत्तिं—** मैत्री का, **कप्पए—** आचरण करे ।

विवेचन— पासजाईपहे : दो व्याख्याएँ— (१) चूर्णि मे पास का अर्थ पश्य— देखो एव 'जाईपहे' का अर्थ— 'चौरासी लक्ष जीवयोनियो को' है, अथवा— (२) बृहद्वृत्ति मे पाश का अर्थ है— अत्यन्त परवशता के हेतु स्त्री-पुत्रादि बन्धन एव जातिपथ का अर्थ है— (वे ही स्त्री-पुत्रादि सम्बन्ध तीव्र मोहोदय के हेतु होने से) जातियो अर्थात्- एकेन्द्रियादि जातियो के पथो- यानी उन जातियो मे ले जाने वाले मार्गो को । वे अविद्यावानों के विलोप के हेतु है ।

अप्पणा सच्चमेसेज्जा : तात्पर्य— स्वय सत्य की खोज करे, न कि किसी दूसरे के दबाव, या भय से या लोकरजन के लिए । सत्य के तीन अर्थ बृहद्वृत्ति मे किये गये है- (१) सत् यानी जीव— उसके लिए सम्यक् रक्षण एव प्ररूपणादि की दृष्टि से जो हित है, वह सत्य है, (२) सत्य का अर्थ संयम एवं (३) सदागम (यथार्थ ज्ञान) भी है ।

निष्कर्ष— प्रस्तुत गाथा मे बताया गया है कि एकेन्द्रियादि जाति मे उत्पत्ति के कारणभूत स्त्री-पुत्र-धनादि प्रचुर बन्धनो (पाशों) की यथार्थ समीक्षा मे पण्डित हो, वही सत्य की खोज कर सकता है, और सत्य को स्वतन्त्र चेतना से प्राप्त करके सर्व प्राणियो के साथ मैत्री कर सकता है । निर्ग्रन्थत्व के लिए यह अनिवार्य है ।

अविद्या के विविध रूपों का निराकरण

मूल— माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा ।
नालं ते मम ताणाय, लुप्पन्तस्स सकम्मुणा ॥३ ॥
एयमट्ठं सपेहाए, पासे समियदंसणे ।
छिंद [1] गेहिं सिणेहं [2] च, न कंखे पुव्वसंथवं ॥४ ॥

---

१ छिंदे- लुधियाना से प्रकाशित ।
२ गेहिं-सिणेह - दोनों में अन्तर— गृद्धि से आशय है, द्रव्य, गाय, भैंस, भेड-बकरी, धन-धान्य आदि के प्रति आसक्ति तथा स्नेह का अर्थ है— परिजनों, बन्धुजनों के प्रति मोह ।

संस्कृत-छाया— माता पिता स्नुषा भ्राता, भार्या पुत्राश्चौरसाः ।
नालं ते मम त्राणाय, लुप्यमानस्य स्वकर्मणा ॥३ ॥
एतमर्थ स्वप्रेक्षया, पश्येत् समितदर्शनः ।
छिन्द्याद् गृद्धि स्नेहं च, न कांक्षेत पूर्वसंस्तवम् ॥४ ॥

पद्यानुवाद— माता-पिता, स्नुषा, भाई, पत्नी और पुत्र नही अपना ।
निज कर्मोदय से पीड़ित जन के, ये त्राण न, साथी है सपना ॥३ ॥
यह अर्थ समझ निज प्रज्ञा से, सम्यग्दर्शी मन भाव धरे ।
आसक्ति स्नेह का मूल काट, (पूर्व) परिचित जन की ना चाह करे ॥४ ॥

अन्वयार्थ—माया— माता, **पिया—** पिता, **ण्हुसा—** स्नुषा (पुत्रवधू), **भाया—** भ्राता, **भज्जा—** भार्या(पत्नी), **य—** और, **ओरसापुत्ता—** अपने औरस पुत्र, **ते—** ये सब, **सकम्मुणा—** अपने द्वारा कृत ज्ञानावरणीयादि कर्मो से, **लुप्पन्तस्स मम—** पीडा पाते हुए मेरे, **ताणाय—** त्राण— रक्षण करने में, **अलं न—** समर्थ नही है ॥३ ॥

समियदंसणे— सम्यग्दर्शी (या सम्यग्द्रष्टा) पुरुष, **एअं—** इस (पूर्वोक्त), **अट्ठ—** कथन (या तथ्य) की, **सपेहाए—** अपनी प्रेक्षा (दृष्टि) से, **पासे—** देखे (हृदय मे विचार करे), **गेहिं—** गृद्धि (पूर्वोक्त बन्धन रूप ग्रन्थो पर आसक्ति), **च—** और, **सिणेहं—** रागात्मक स्नेह का, **छिंद—** छेदन करे, **पुव्वसंथवं—** तथा अपने पूर्वपरिचितजनो के अधिक संस्तव— संसर्ग) की, **न कंखे—** कांक्षा न करे ।

विवेचन— निष्कर्ष— माता और कौटुम्बिक जन स्वकर्मवश पीडा भोगते हुए व्यक्ति को पीड़ा से बचाने मे समर्थ नही है । एक मात्र— धर्म ही शरणागत की रक्षा करने मे समर्थ है । ये सब शरण-दायक या त्राण-सहायक नही है, बल्कि इनके प्रति मोह या आसक्ति करने से ये बन्धनकारक है अतः उनके प्रति आसक्ति या राग या मोह या (स्नेह) हो तो उसे जड से ही काट दो, तथा जो व्यक्ति किसी कारणवश ग्राम, नगर, कुटुम्ब आदि की दृष्टि से पूर्व परिचित है, उनसे भी अधिक संसर्ग रखने की लालसा न रखे ।

वस्तुतः समस्त सजीव— निर्जीव सांसारिक पदार्थो के प्रति आसक्ति या मोह (स्नेहरूप) ही ग्रन्थ का कारण है । निर्ग्रन्थता के लिए आसक्ति एवं स्नेहादि का तथा पूर्व परिचित पदार्थो के प्रति अति संसर्ग का त्याग करना आवश्यक है । तभी साधक आत्मभाव मे स्थिर रह सकता है ।

मूल— गवासं मणिकुण्डलं, पसवो दास-पोरुसं ।
सव्वमेयं चइत्ताणं, कामरूवी भविस्ससि ॥५ ॥

थावरं जंगमं चेव, धणं धण्णं उवक्खरं।
पच्चमाणस्स कम्मेहिं, नालं दुक्खाउ[1] मोयणे ॥६॥

संस्कृत-छाया— गवाश्वं मणिकुण्डलं, पशवो दासपौरुषम्।
सर्वमेतत् त्यक्त्वा त्व, कामरूपी भविष्यसि ॥५॥
स्थावर जगम चैव, धनं धान्यमुपस्करम्।
पच्यमानस्य कर्मभि., नाल दु:खान्मोचने ॥६॥

पद्यानुवाद— गो, अश्व और मणि-कुण्डल ये, पशु सेवक, जनसमूह सभी।
इन सबको स्वेच्छा से छोडता, वह कामरूप हो देव कभी ॥५॥
स्थावर-जगम धन-धान्य तथा, उपलब्ध अन्य साधन सारे।
कर्मो से पीडित प्राणी के, दु.खभोग को न ये टारे ॥६॥

अन्वयार्थ—गवासं— गो (गाय-बैल आदि), अश्व, **मणि-कुण्डल—** मणि, कुण्डल, **पसवो—** सभी पालतू पशुगण, **दास-पोरुसं—** दास पौरुष— पुरुष समूह, **एयं सव्वं—** इन सबका, **चइत्ताणं—** त्याग करने वाला साधक, (परलोक मे), **कामरूवी—** इच्छानुसार रूप बनाने मे समर्थ— देव, **भविस्ससि—** होगा ॥५॥

कम्मर्हि—कर्मो से, **पच्चमाणस्स—** दुःखरूप विपाक (फल) पाते हुए प्राणी को, **थावरं—** स्थावर (अचल) **चेव—** और, **जंगमं—** जगम (चल) सम्पत्ति, **धणं—** धन, **धण्णं—** धान्य(अन्न), (और) **उवक्खरं—** उपस्कर, (गृहोपकरण-घर का सामान), **दुक्खाउ—** दुःख से, **मोयणे—** मुक्त करने-कराने मे, **अलं न—** समर्थ नही होते ॥६।

विवेचन—निष्कर्ष— गो, अश्व आदि, तथा स्थावर, जगम, सम्पत्ति, धन, धान्य एव गृहसामग्री आदि समस्त सजीव-निर्जीव सांसारिक पदार्थो का सग्रह—परिग्रह बाह्यग्रन्थ है। मनुष्य अविद्यावश इनका ममत्वपूर्वक सग्रह करता है, ताकि दुष्कर्मो के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले दु.ख से ये सब बचा सके, किन्तु ये सब एक-एक या सभी मिलकर भी उसे दुःख से बचाने मे समर्थ नही होते। इन सासारिक पदार्थो का त्याग अथवा गृहस्थदशा मे इनके प्रति ममत्व का त्याग यदि सरागसंयमपूर्वक होगा तो उसे पुण्यकर्मवश देवगति प्राप्त हो सकेगी, जहॉ वैक्रियशक्ति से वह मनचाहा रूप बना सकेगा। किन्तु वह त्याग यदि रागरहित होगा तो कर्मनिर्जरा होने से परम्परा से मोक्ष प्राप्त हो सकेगा। तात्पर्य यह है कि एकमात्र ग्रन्थ-त्याग द्वारा ही सब दु खो— कर्मफलस्वरूप प्राप्त कष्टो से बच सकता है।

१ दुक्खाओ— लुधियाना से प्रकाशित।

'गवास' आदि का आशय— प्रस्तुत दोनो गाथाओ मे प्रयुक्त गो, अश्व आदि या धन-धान्य आदि जातिवाचक शब्द है, प्रत्येक शब्द अपनी-अपनी जाति के सभी प्रकार के सजीव या निर्जीव पदार्थो का वाचक है। जैसे— गाय शब्द गोजाति के गाय, बैल, साड, बछड़ा, बछड़ी आदि का वाचक है। इसी प्रकार मणि शब्द समस्त प्रकार की मणियो का तथा कुण्डल शब्द समस्त प्रकार के आभूषणो का वाचक है।

हिंसादि आभ्यन्तर ग्रन्थों का त्याग अनिवार्य

मूल— अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए।
'न हणे पाणिणो पाणे', भय-वेराओ उवरए ॥७॥
आयाणं नरयं दिस्स, नायएज्ज तणामवि।
दोगुञ्छी अप्पणो पाए, दिन्नं भुञ्जेज्ज भोयणे ॥८॥

संस्कृत-छाया— अध्यात्मस्थ सर्वतः सर्व, दृष्ट्वा प्राणान्प्रियात्मकान्।
न हन्यात्प्राणिनः प्राणान्, भयवैरादुपरत ॥७॥
आदानं नरक दृष्ट्वा, नाददीत तृणमपि।
जुगुप्स्यात्मन· पात्रे, दत्तं भुञ्जीत भोजनम् ॥८॥

पद्यानुवाद— अपने सम देखो सब जग को, सुख और आयुबल है प्यारा।
भय वैरो से उपरत हो, मत बनो जीव के हत्यारा ॥७॥
परिग्रह अदत्तादान नरकसम, यो जान न तृण भी ग्रहण करे।
पाप-अरुचि मुनि निज पात्रो मे, दिया आहार स्वीकार करे ॥८॥

अन्वयार्थ—सव्वं—सब(प्राणियो) को, **सव्वओ**— सब दिशाओ से होने वाला (अथवा सब तरह से), **अज्झत्थं**— अध्यात्म (सुख) प्रिय है, (तथा) **पाणे**— तथा प्राणियो को, **पियायए**[1] — अपना आयुष्य प्रिय है, **दिस्स**— यह देख (सोच) कर, **भय-वेराओ उवरए**— भय और वैर से उपरत साधक, **पाणिणो**— किसी भी प्राणी के, **पाणे**— प्राणो का, **न हणे**— हनन (हिसा) न करे ॥७॥

आयाणं— आदान(अदत्त का ग्रहण या ममत्वपूर्वक ग्रहण—परिग्रह), **नरयं**—नरक (नरकगमन का हेतु) है, **दिस्स**— यह जान (देख) कर (मुनि), **तणामवि**—बिना दिया हुआ एक तिनका भी, **न आयएज्ज**— ग्रहण न करे। **दोगुञ्छी**— असयम (या पाप) के प्रति जुगुप्सा (अरुचि) रखने वाला मुनि, **अप्पणो पाए**— अपने निश्राय के पात्र मे, **दिन्नं**— गृहस्थ द्वारा दिया हुआ ही, **भोयणं**— भोजन, **भुञ्जेज्ज**— ग्रहण— सेवन करे ॥८॥

१. पियायए—पियाउए : तीन रूप तीन अर्थ — (१) प्रियायुष्का - जिन्हें अपनी आयु (जीवन) प्रिय है, (२) प्रियात्मान :— जिन्हें अपनी आत्मा (जीवन) प्रिय है, (३) प्रियदयान्— जिन्हें अपनी दया- रक्षा प्रिय है।

विवेचन— अज्झत्थं सव्वओ सव्वं : दो व्याख्याएँ— (१) सबको सब प्रकार से (इष्टसयोग— अनिष्टवियोगादि कारणो से होने वाला शारीरिक एव मानसिक सब प्रकार का) अध्यात्म सुख (अपने आपको होने वाला आत्मिक-मानसिक सुख) इष्ट है, (२) सभी दिशाओ से होने वाला या मनोऽभिमत शब्दादि से होने वाला सभी प्रकार का शारीरिक-मानसिक सुख, जैसे स्वय (आत्मा) को इष्ट है, वैसे अन्य प्राणियो को भी है।

आयाणं : दो तात्पर्यार्थ— आदान का शब्दशः अर्थ होता है— ग्रहण करना। ग्रहण दो प्रकार से किया जाता है— बिना दिया हुआ ग्रहण करना और ममत्वपूर्वक ग्रहण करना— सग्रह करना। इनमे पहला अदत्तादान (चोरी) है और दूसरा है— परिग्रह। ये दोनो ही एक या दूसरे प्रकार से आदान है। और दोनो को नरक बताया है। वस्तुत अदत्तादान एव परिग्रह दोनो नरक के हेतु है। अतः यहाँ कारण मे कार्य का उपचार करके इन्हे 'नरक' कहा गया है।

अप्पणो पाए— 'अपने पात्र में' (शंका—समाधान) — शका हो सकती है क्या पात्र रखना परिग्रह नही है? समाधान है— ममत्वभाव से रहित होकर सयमी जीवन निर्वाह के लिए रखा जाने वाला पात्र या अन्य धर्मोपकरण परिग्रह नही है। ये सयम साधना मे उपयोगी होने से धर्मोपकरण कहलाते है।

हिंसादि आभ्यन्तर ग्रन्थों से निवृत्ति आवश्यक— निर्ग्रन्थ के लिए बाह्य ग्रन्थो की तरह प्रस्तुत दो गाथाओ मे हिंसा, अदत्तादान एव परिग्रह इन तीनो आभ्यन्तर ग्रन्थो से, तथा उपलक्षण से मृषावाद और मैथुन इन दोनो ग्रन्थो से भी निवृत्ति सूचित की गई है।

दोगुञ्छीः जुगुप्सी : दो अर्थ— (१) असंयम से जुगुप्सा करने वाला, अथवा(२) आहार किये बिना धर्माचरण करने मे असमर्थ शरीर से जुगुप्सा करने वाला।

पापों का त्याग किये बिना ही मुक्ति : प्रथम भ्रान्तमान्यता

मूल— इहमेगे उ मन्नंति, अपच्चक्खाय पावगं।
आयरियं विदित्ता णं, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥९॥

संस्कृत-छाया— इहैके तु मन्यन्ते, अप्रत्याख्याय पापकम्।
आर्यत्वं विदित्वा, सर्वदु खेभ्यो विमुच्यते ॥९॥

पद्यानुवाद— यो कतिपय वादी मान रहे, पापो का बिन परित्याग किए।
आचारमात्र का ज्ञाता ही, हो सर्वदु.ख से मुक्त जिए ॥९॥

अन्वयार्थ— इह— इस जगत् मे, **एगे उ—** कतिपय ज्ञानवादी यो, **मन्नंति—** मानते है कि, **पावगं—** पापो का, **अपच्चक्खाय—** प्रत्याख्यान-त्याग किये बिना ही, **आयरियं—**

(अपने-अपने मत के) आचार को, **विदित्ता णं**— जान लेने मात्र से ही (व्यक्ति), **सव्वदुक्खा**— (शारीरिक-मानसिक) सभी दुःखो से, **विमुच्चई**— विमुक्त हो जाता है ।

विवेचन— ज्ञानमात्र से मुक्ति का निराकरण— 'ज्ञान ही मुक्ति का अङ्ग है,' यह मान्यता युक्तिविरुद्ध है, जैसे रोगी को औषधादि के ज्ञानमात्र से रोग से मुक्ति नही मिलती, वैसे ही भवभ्रमणरूप भावरोगी को ज्ञानावरणीयादि कर्मरूप भावरोग से भी पचमहाव्रतो का आचरण किये बिना मात्र उनके ज्ञान से मुक्ति नही मिलती ।

कुछ मतवादियो (सांख्यो) कथन है— पंचविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र-कुत्राश्रमे रत ।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि, मुच्यते नात्र संशयः ॥

अर्थात्— पच्चीस तत्त्वो का ज्ञाता, (सर्वदुःखो से) निःसन्देह मुक्त हो जाता है, फिर वह चाहे जिस आश्रम मे रत हो, जटाधारी हो, या चोटीधारी हो ।

उक्तसूत्र गाथा मे इसी भ्रान्तमान्यता की ओर संकेत किया है ।

बन्ध-मोक्ष का ज्ञान बघारने से ही मुक्ति : द्वितीय भ्रान्त मान्यता

मूल— भणंता अकरेंता य, बंधमोक्खपइण्णिणो ।
वायावीरियमेत्तेण, समासासेंति अप्पयं ॥१० ॥

संस्कृत-छाया— भणन्तो ऽकुर्वन्तश्च बन्धमोक्षप्रतिज्ञिन· ।
वाग्वीर्यमात्रेण समाश्वासयन्त्यात्मानम् ॥१० ॥

पद्यानुवाद— बन्ध-मोक्ष के परिज्ञाता, परमार्थ कहे, पर चलें नही ।
वचनमात्र के बल से ही, आश्वस्त स्वय को करे सही ॥१० ॥

अन्वयार्थ—भणंता— जो 'ज्ञान ही मोक्ष का कारण है', यो कहते है, **य—** किन्तु, **अकरेंता—** मोक्ष के लिए कोई क्रिया नही करते, (वे) **बन्धमोक्खपइण्णिणो—** बन्ध और मोक्ष के सिद्धान्तो की प्रतिज्ञा (मुख से बोल कर स्थापना) ही करने वाले है। (वे) **वायावीरियमेत्तेण—** वाणी की वीरता (वचनबल) मात्र से ही, **अप्पयं—** अपने आपको, **समासासेंति—** आश्वस्त करते हैं ।

भावार्थ— 'ज्ञान से ही मोक्ष होता है,' यो कुछ लोग कहते है, किन्तु मोक्ष के उपाय के रूप मे कोई क्रिया नही करते ।वे बन्ध और मोक्ष के सिद्धान्तो की केवल प्रतिज्ञा (स्थापना) ही करने वाले (ज्ञानवादी) है ।ऐसे लोग वाणी के बल से अपने आपको आश्वासन देते रहते है

भाषा, विद्या और अनुशासन भी त्राण देने में असमर्थ

मूल— न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं ।
विसन्ना पावकम्मेहिं, बाला पंडियमाणिणो ॥११ ॥

संस्कृत-छाया— न चित्रा त्रायते भाषा, कुतो विद्यानुशासनम् ।

विषण्णाः पापकर्मभि , बाला· पण्डितमानिन· ॥११ ॥

पद्यानुवाद— नाना भाषा और विद्या के, बल से भी त्राण नही पाते ।

पापकर्म मे सने मूढ, पण्डितमानी धोखा खाते ॥११ ॥

अन्वयार्थ—**चित्ता भासा**— विविध भाषाएँ, **न तायए**— रक्षा नही कर पाती, **विज्जाणुसासणं**—नाना विद्याओ का अनुशासन (शिक्षण), **कुओ**— कहाँ से रक्षण कर सकता है ? **पंडियमाणिणो बाला**— अपने आपको पण्डित मानने वाले बालजीव, **पावकम्मेहिं**— पापकर्मो मे, **विसण्णा**— डूबे रहते है ।

विवेचन— चित्ता भासा : विश्लेषण— सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी आदि विविध भाषाओ का ज्ञान ही मुक्ति का अङ्ग है, इस प्रकार की अविद्या (भ्रान्तधारणा) मे पडे हुए लोगो से शास्त्रकार कहते हैं— भाषाज्ञान पापो से रक्षा नही कर सकता ।

विज्जाणुसासणं— विविध लौकिक ज्ञान— विज्ञानात्मिका विद्याओ अथवा विचित्र मन्त्रात्मिक विद्याओ का अनुशासन— शिक्षण भी पाप से या भव-भ्रमण से बचा नही सकता ।

पापकर्मो मे निमग्न · कौन और क्यो ?— विविध भाषाओ तथा विद्याओ के ज्ञान और शिक्षण के बल पर अपने आपको पण्डित मानने वाले तथा इन्ही को मुक्ति का अङ्ग मानने वाले अज्ञानी जीव नि शंक होकर हिंसादि पापकर्मो मे रचे-पचे रहते है ।

शरीरासक्त पुरुष भी दुःख के उत्पादक

मूल— जे कई सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो ।

मणसा कायवक्केणं, सव्वे ते दुक्खसंभवा ॥१२ ॥

संस्कृत-छाया— ये केचित् शरीरे सक्ता·, वर्णे रूपे च सर्वश ।

मनसा कायवाक्येन, सर्वे ते दु खसभवाः ॥१२ ॥

पद्यानुवाद— जो इस शरीर मे मूर्च्छित होकर, मन-वचन-काय से प्रीति धरे ।

वर्ण-रूप मे सर्वभाव से, मोहित हो दु·ख की वृद्धि करे ॥१२ ॥

अन्वयार्थ— **जे केई**— जो कोई, **मणसा कायवक्केणं**— मन, काया और वचन से, **सरीरे**— शरीर मे, **य**— और, **वण्णे रूवे**— (शरीर के) वर्ण और रूप मे, **सव्वसो**— सर्वथा, **सत्ता**— आसक्त है, **ते सव्वे**— वे सब, **दुक्खसंभवा**— अपने लिए दु·ख उत्पन्न करते है ।

विवेचन— मन-वचन-काया से शरीर में आसक्तिःकैसे ?— मन से सतत यह चिन्तन करना कि हम सुन्दर, बलिष्ठ, सुदृढ एवं गठीले शरीर वाले कैसे बने ? वाणी से उन-उन रसायनो तथा विद्याओ के ज्ञाता लोगो से शरीर को पुष्ट, सुन्दर बनाने वाले, भस्म, जडी-बूटी

औषध-भैषज आदि के विषय मे पूछते रहना, और काया से भस्म, रसायन, औषध-भैषज आदि का उपयोग करके शरीर को बलिष्ठ बनाने का प्रयत्न करना शरीर मे आसक्ति है ।

दुक्खसम्भवा : व्याख्या— ऐसे शरीरासक्त लोग शरीर को पुष्ट, बलिष्ठ एव सुन्दर बनाने एवं उसकी रक्षा करने के लिए नाना प्रकार के आरम्भ-समारम्भादि पापकर्म करते रहते है, देवी-देवो के आगे पशुबलि करते रहते है, मास-मद्यादि अभक्ष्य चढाते है, वे सब नाना प्रकार के पापकर्मबन्ध के फलस्वरूप इस जन्म एव अन्य जन्मो मे दुःखभाजन बनते है ।

मूल— आवन्ना दीहमद्धाणं, संसारम्मि अणंतए ।
तम्हा सव्वदिसं पस्सं [1] अप्पमत्तो परिव्वए ॥१३ ॥

संस्कृत-छाया— आपन्ना दीर्घमध्वानं, संसारेऽनन्तके ।
तस्मात् सर्वदिशं दृष्ट्वा, अप्रमत्त· परिव्रजेत् ॥१३ ॥

पद्यानुवाद— अनन्तससार मे दीर्घपथ पा, सोच-समझ कर चरण धरे ।
अत· देखकर सभी दिशा को, अप्रमत्त हो मुनि विचरे ॥१३ ॥

अन्वयार्थ—(वे) **अणंतए संसारम्मि—** इस अनन्त ससार मे, **दीहमद्धाणं—**लम्बे मार्ग को, **आवन्ना—** प्राप्त (स्वीकार) किये हुए है । **तम्हा—** इसलिए साधक को, **सव्वदिसं पस्सं—** सर्वदिशाओ (जीवो के उत्पत्तिस्थानों) को देखभाल कर, **अप्पमत्तो—** अप्रमत्त होकर, **परिव्वए—** विचरण करना चाहिए ।

विवेचन— सर्वदिशाएँ : व्याख्या— यहाँ दिशा शब्द से समस्त भाव-दिशाओ का ग्रहण किया गया है, जो कि १८ है— (१) पृथ्वीकाय, (२) अप्काय, (३) तेजस्काय, (४) वायुकाय, (५) मूलबीज, (६) स्कन्धबीज, (७) अग्रबीज, (८) पर्वबीज, (९) द्वीन्द्रिय, (१०) त्रीन्द्रिय, (११) चतुरिन्द्रिय, (१२) पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक, (१३) नारक, (१४) देव, (१५) सम्मूर्च्छनज, (१६) कर्मभूमिज, (१७) अकर्मभूमिज और (१८) अन्तर्द्वीपज मनुष्य ।

अप्पमत्तो परिव्वए : दो अर्थ— (१) इन एकेन्द्रियादि जीवो की विराधना न हो इस प्रकार सावधान (अप्रमत्त) रहकर, अथवा (२) मद्य-विषय-कषाय-निद्रा-विकथादि प्रमाद से दूर रहकर संयम-मार्ग मे विचरण करे, ताकि इन उपर्युक्त सब भाव दिशाओ मे भ्रमण न करना पडे ।

---

१. पस्स— तेरापंथ महासभा कलकत्ता संस्करण ।

अप्रमत्तता के विविध उपाय

मूल— बहिया उड्ढमादाय, नावकंखे कयाइ वि।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ॥१४॥

संस्कृत-छाया— बाह्यमूर्ध्वमादाय, नावकाक्षेत् कदापि च।
पूर्वकर्मक्षयार्थम्, इम देह समुद्धरेत् ॥१४॥

पद्यानुवाद— उच्च लक्ष्य धर, कदापि बाह्य-विषयो की काक्षा करे नही।
सचित कर्मो के क्षय-हेतु, इस तन को धारण करे सही ॥१४॥

अन्वयार्थ—उड्ढमादाय— ऊर्ध्व (मुक्ति का) लक्ष्य अपना कर, साधक, **कयाइ वि—** कदापि, **बहिया—** बाह्य (मोक्षबाह्य) विषयो की, **न अवकंखे—** अकाक्षा न करे। **इमं देहं—** इस शरीर को, **पुव्वकम्मक्खयट्ठाए—** केवल पूर्वबद्ध कर्मो को क्षय करने के लिए ही, **समुद्धरे—** धारण करे।

भावार्थ— ऊर्ध्व (मुक्तिगमन का उच्च) लक्ष्य अपना कर साधक मोक्ष-बाह्य विषयो की आकाक्षा कभी भी न करे तथा इस शरीर को भी सिर्फ पूर्वसचित कर्मो को क्षय करने के लिए ही धारण करे।

देहं समुद्धरे— इस देह का उचित आहारादि सेवन करके परिपालन करे। सयमपालन, कर्मक्षय एव आत्म-शुद्धि शरीर-धारण के हेतु है। अत. शरीर धारण भी अनासक्तिपूर्वक करना है।

मूल— विविच्च [1] कम्मुणो हेउं, कालकंखी परिव्वए।
मायं पिंडस्स पाणस्स, कड लद्धूण भक्खए ॥१५॥

संस्कृत-छाया— विविच्य कर्मणो हेतु, कालकाक्षी परिव्रजेत्।
मात्रां पिण्डस्य पानस्य, कृत लब्ध्वा भक्षयेत् ॥१५॥

पद्यानुवाद— कर्महेतु को दूर हटा, कर्त्तव्य-काल का ध्यान करे।
अशन-पान मात्रा मे ग्रहण कर, निर्दोष पिण्ड पा देह धरे ॥१५॥

अन्वयार्थ—कालकंखी— कालकाक्षी (समयज्ञ— अवसर का ज्ञाता) साधक, **कम्मुणो हेउं—** कर्म के हेतुओ को, **विविच्च—** दूर करके, **परिव्वए—** विचरण करे, **कडं—** गृहस्थ के द्वारा उसके अपने लिए तैयार किये हुए, **पिंडस्स पाणस्स—** आहार और पानी, **मायं—** उचित मात्रा मे (आवश्यकतानुसार), **लद्धूण—** प्राप्त (ग्रहण) करके, **भक्खए—** सेवन करे।

---

१. विगिंच- लुधियाना से प्रकाशित।

विवेचन— कम्मुणो हेउं : विश्लेषण— ज्ञानावरणीयादि आठ प्रकार के कर्मबन्ध के उपादान कारण तो मिथ्यात्व, अविरति आदि है, किन्तु निमित्त कारण इन आठो ही कर्मो के पृथक्-पृथक् है ।

मायं पिंडस्स पाणस्स— पिण्ड ओदनादि अन्न को और पान— पेय पदार्थ को कहते है ।

मूल— सन्निहिं च न कुव्विज्जा, लेवमायाए संजए ।
पक्खी पत्तं समादाय, निरवेक्खो परिव्वए ॥१६ ॥

संस्कृत-छाया— सनिधि च न कुर्वीत, लेपमात्रया सयतः ।
पक्षी पत्र समादाय, निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥१६ ॥

पद्यानुवाद— रजनी मे साधु नही रखे, वेह लेपमात्र अन्नादिक पास ।
ले पात्र चले नि·स्पृह पक्षीवत् मन मे अदम्य धरकर विश्वास ॥१६ ॥

अन्वयार्थ—संजए— संयमी मुनि, **लेवमायाए—** [1] लेपमात्र भी , **सन्निहिं** [2] — सचय, **न च कुव्विज्जा—** नही करे । **निरवेक्खो पक्खीपत्तं समादाय—** पक्षी की भाँति निरपेक्ष होकर (कल की अपेक्षा न रखता हुआ पात्र आदि लेकर), **परिव्वए—** सयममार्ग मे विचरण करे ।

भावार्थ— निर्ग्रन्थ सयत लेशमात्र भी सग्रह न करे । वह पक्षी की तरह दूसरे दिन के लिए सग्रह से निरपेक्ष रहता हुआ भिक्षापात्र लेकर भिक्षा के लिए पर्यटन करे ।

पक्खीपत्तं समादाय निरवेक्खो परिव्वए : दो व्याख्या—(१) एक व्याख्या अन्वयार्थ मे दी जा चुकी है (२) चूर्णिकार के अनुसार— 'पत्त' शब्द मे श्लेष होने से यह द्वि-अर्थक है— पक्षी के लिए पत्र(पख) और साधक के लिए 'पात्र' । अत· अर्थ किया गया है— जैसे पक्षी अपने पखो को साथ लिए उड़ता है, उसे पीछे की कोई चिन्ता या अपेक्षा नही रहती, उसी तरह मुनि भी अपने पात्र आदि उपकरणो को साथ लेकर विहार करे, कही संग्रह करके रखे नही, पीछे की चिन्ता से मुक्त, निरपेक्ष होकर विचरण करे ।

मूल— एसणासमिओ लज्जू, गामे अणियओ चरे ।
अप्पमत्तो पमत्तेहिं, पिंडवायं गवेसए ॥१७ ॥

---

१. लेवमायाए— लेपमात्र आशय—जितनी मात्र में किसी वस्तु का पात्र पर लेप लगे, उतनी मात्रा । यहाँ मात्रा शब्द परिमाण के अर्थ में है ।

२ सन्निहि : सन्निधि · दो अर्थ—(१) अशन आदि को स्थापित करके रखना, (२) दूसरे दिन के लिए सग्रह करना ।

संस्कृत-छाया— एषणासमितो लज्जावान्, ग्रामेऽनियतश्चरेत् ।
अप्रमत्तः प्रमत्तेभ्य., पिण्डपात गवेषयेत् ॥१७ ॥

पद्यानुवाद— एषणासमित लज्जायुत मुनि, अनियत ग्रामादिक मे विचरे ।
हो अप्रमत्त गृहवासी से, वह पिण्डपात की खोज करे ॥१७ ॥

अन्वयार्थ—एसणासमिओ— एषणा समिति के उपयोग मे तत्पर, **लज्जू**— लज्जावान् अर्थात्—सयमशील साधु, **गामे**— ग्राम-नगरादि मे, **अणियओ**— अनियत, (नित्यवास रहित), **चरे**— विचरण करे,(तथा) **अप्पमत्तो**— अप्रमादी साधु, **पमत्तेहिं**— गृहस्थो से निर्दोष, **पिंडवायं**— पिण्डपात- भिक्षा की, **गवेसए**— गवेषणा करे ।

भावार्थ— एषणा समिति से युक्त और सयमशील मुनि, ग्राम-नगर आदि मे अनियत (प्रतिबन्ध रहित) होकर विचरण करे । तथा अप्रमत्त साधु गृहस्थो से निर्दोष भिक्षा की गवेषणा करे ।

पमत्तेहिं— प्रमत्तों से : तात्पर्य— गृहस्थ विषय आदि प्रमाद का सेवन करने के कारण प्रमत्त कहलाते है ।

उपसंहार—

मूल— एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी, अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे ।
अरहा नायपुत्ते, भगवं[1] वेसालिए वियाहए ॥१८ ॥ ॥त्ति बेमि ॥

संस्कृत-छाया— एव स उदाहृतवान् अनुत्तरज्ञान्यनुत्तरदर्शी अनुत्तरज्ञान-दर्शनधर ।
अर्हन् ज्ञातपुत्र· भगवान् वैशालिको विख्यात· ॥

पद्यानुवाद— इस तरह श्रेष्ठ ज्ञानी दर्शी, अति श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शनधारी,
अर्हन् वैशालिक ज्ञातपुत्र, व्याख्यान किया जनहितकारी ॥१८ ।.

अन्वयार्थ—से— उन, **अणुत्तरनाणी**— अनुत्तरज्ञानी, **अणुत्तरदंसी**— अनुत्तरदर्शी, **अणुत्तरनाणदंसणधरे**— अनुत्तरज्ञानदर्शनधारी, **अरहा**— अर्हन्, **नायपुत्ते**—ज्ञातपुत्र, **वेसालिए**— वैशालिक (और) **वियाहिए**— व्याख्याता, **भगवं**— भगवान् (महावीर ने) **एवं**— इस प्रकार, **उदाहु**— कहा है

त्ति बेमि— ऐसा मै कहता हूँ ।

विवेचन— अनुत्तर : अर्थ— अनुत्तर शब्द यहाँ सर्वत्र सर्वोत्कृष्ट अर्थ मे प्रयुक्त है ।

ज्ञान और दर्शन में अन्तर— दर्शन-सामान्यग्राही होता है, ज्ञान-विशेषग्राही होता है ।

विशालिक : वैशालिक : दो अर्थ— (१) जिसके विशाल शिष्यगण, तीर्थ आदि हैं, (२) जिसकी विशाला माता है । यह भगवान् महावीर का विश्लेषण है ।

॥क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय : षष्ठ अध्ययन समाप्त ॥

१ भयव— लुधियाना से प्रकाशित ।

षष्ठ अध्ययन का परिशिष्ट (कथा भाग)

(१) सम्यग्ज्ञान-क्रियारहित जीवन दुःखों का कारण

(जावंतऽविज्जापुरिसा सव्वे ते दुक्खसम्भवा ..... अ.६, गा.१)

एक भाग्यहीन दरिद्र खेती आदि कार्यो में बहुत ही परिश्रम करता था, फिर भी उनके फल से वंचित रहता था। अतः उसने विदेश जाकर धन कमाने का विचार किया। तदनुसार वह गॉव छोडकर विदेश चला गया। वहॉ उसने धन कमाने के अनेक उपाय आजमाए, परन्तु भाग्य ने साथ नही दिया। वह धन कमाने की आशा मे इधर-उधर मारा-मारा फिरा, परन्तु कुछ भी धन हाथ न लगा। आखिर निराश होकर उसने घर लौटने का दृढ निश्चय कर लिया।

जब वह घर की ओर आ रहा था तो मार्ग मे एक रात्रि को एक गॉव के बाहर एक यक्ष के मन्दिर मे ठहर गया। वहॉ उसने देखा कि किसी व्यक्ति ने विद्या सिद्ध करके यक्ष मन्दिर से बाहर निकलकर एक कलश की पूजा की, फिर उसने प्रार्थना की— 'हे कलश ! तू मेरे लिये शय्या, पलंग आदि से युक्त एक सुन्दर आवास गृह तैयार कर दे।" ऐसी प्रार्थना करते ही उस कुम्भ ने प्रार्थना के अनुसार मिनटो में सब कुछ तैयार कर दिया। तत्पश्चात् वह विद्यासिद्ध पुरुष उस आवास गृह मे रातभर ठहरा, मनोवांछित सुखभोग किया। प्रात. काल होते ही वह सब लुप्त हो गया। यह देखकर दरिद्र के मुँह मे पानी आ गया। उसने सोचा— "मै व्यर्थ ही इधर-उधर भटकता रहा, इससे न तो मुझे कोई लाभ हुआ, न सुख। अत. अच्छा तो यह है कि मै इस कल्पतुल्य सिद्धपुरुष की सेवा करके ऐसा ही कलश प्राप्त कर लूँ।"

इस विचार के अनुसार वह दरिद्र उस विद्यासिद्ध पुरुष के साथ रहकर जी-जान से उसकी सेवा करने लगा।

वह सिद्धपुरुष भी उस दरिद्र की सेवा से अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने दरिद्र से पूछा— "बोलो, तुम क्या चाहते हो ?" इस पर दरिद्र बोला— "हे सिद्धपुरुष ! मै एक जन्मदरिद्र और भाग्यहीन पुरुष हूँ। अनेक उद्यम करने पर भी मै कही भी धन प्राप्त नही कर सका। दरिद्रता-निवारण के लिए मै देश-विदेश मे बहुत भटकता फिरा किन्तु मुझे कही भी सफलता नही मिली। मेरे लिए यह दारिद्र्य का दुःख असह्य हो उठा है। मै इसके कारण अत्यन्त संतप्त और दुःखी हूँ। अतः आप कोई ऐसा वरदान दे, जिससे मैं भी आपके समान यथेष्ट सुखोपभोग कर सकूँ।"

शरणागतवत्सल सिद्धपुरुष उसकी दुःख गाथा सुनकर अत्यन्त द्रवित हो गया। सोचा—'बेचारे दरिद्रता से व्याकुल इस पुरूष का उद्धार करना मेरा कर्तव्य है।' अत

सिद्धपुरुष ने उससे पूछा— "मेरे पास विद्या से अभिमत्रित कामकुम्भ है तथा कामकुम्भविधायिनी विद्या भी है। दोनो मे से तुम्हे क्या दूँ ? कोई भी एक चीज मॉग लो। मै तुम्हे अवश्य दूँगा।"

सिद्धपुरुष की बात सुनकर कामभोगो मे आसक्त दरिद्र ने सोचा— 'कौन विद्या सिद्ध करने का कष्ट उठाएगा और फिर उतना कष्ट उठाने पर भी पता नही, विद्या सिद्ध हो या नही ? अतएव यही अच्छा होगा मै मै विद्या से अभिमत्रित उस कामकुम्भ को ही मॉग लूँ।'

यो विचार करके विद्या सिद्ध करने मे कायर एवं आलसी उस दरिद्र ने विद्यासिद्ध पुरुष से कहा— "स्वामिन् ! मुझे आप विद्या से अभिमत्रित कामकुम्भ ही देने की कृपा करे।"

सिद्धपुरुष ने उस दरिद्र को वह अभिमत्रित कामकुम्भ दे दिया।

कामकुम्भ हाथ मे आते ही दरिद्र अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसे लेकर सीधा घर पहुँचा। अब वह कामकुम्भ के प्रभाव से मनचाहे भवन एव साधन-सामग्री पाकर अपने बन्धु-बान्धवो के साथ सुखपूर्वक रहने लगा। उसके सभी बन्धु कामकुम्भ के प्रभाव से मनचाही चीज मिल जाने के कारण काम-काज छोडकर इसी के साथ निष्क्रिय एव निठल्ले होकर रहने लगे। हाथ से कार्य एव श्रम करना छोड देने से उनका सबका कार्य करने का अभ्यास छूट गया, उनके अगोपाग भी जरा-सा श्रम करने या काम करने से कतराने लगे। उनको अब कोई भी कार्य करने मे कष्टानुभव होता था। खाना, पीना, सोना, पडे रहना ,या गपशप लगाना, या किसी व्यसन का पोषण करना यही प्राय उनकी दिनचर्या बन गई; क्योकि कामकुम्भ से प्राप्त सुख-साधनो का उपभोग करने मे उन्हे कुछ भी करना-धरना नही पडता था। इस तरह कामचोरो की इस टोली के नायक उस दरिद्र की एव उसके सभी बन्धुओ की समस्त पूर्वोपार्जित सम्पत्ति नष्ट हो गई।

एक बार कामचोरो के इस नायक के मन मे विचार उठा कि मै अपने बन्धुओ के साथ अत्यन्त आमोद-प्रमोद के साथ जीवन बिता रहा हूँ। अत· इच्छा होती है कि मदिरापान करके इन सबके साथ नृत्य करके विशेष आनन्द लूटूँ। तदनुसार उसने हर्षावेश मे आकर मदिरापान कर लिया। इसके पश्चात् वह कामकुम्भ को अपने मस्तक पर रखकर नाचने लगा। साथ ही उसके बन्धु-बान्धव भी नशे मे मस्त होकर नाचने लगे। मदिरा का नशा तेज होते ही वह कामकुम्भ सिर से खिसककर धडाम से जमीन पर गिर पडा और उसके टुकडे-टुकडे हो गए।

अब क्या था ? कामकुम्भ के नष्ट होते ही उसके प्रभाव से प्राप्त हुई धन, भवन आदि समस्त सामग्री भी लुप्त हो गई। उनके पास जो पुरानी पूँजी थी, वह तो बहुत पहले ही समाप्त

हो चुकी थी और हाथ से कार्य करना एवं श्रम करना छूट जाने से कोई धन्धा करके या मेहनत करके कमाने-खाने की आदत नही रही। अतः सर्वस्व नष्ट हो जाने से अब उनके पास भीख माँगने या दूसरों की गुलामी करने के सिवाय कोई चारा न रहा। अतः वह दरिद्र पहले से भी अतिदरिद्र होकर कष्टपूर्वक जिन्दगी बिताने लगा।

अगर वह दरिद्र सिद्धपुरुष से मन्त्रित कामकुम्भ न लेकर कामकुम्भ बनाने की विद्या सीख लेता तो एक कुम्भ के नष्ट होते ही विद्या के बल से थोड़े से श्रम से दूसरा कुम्भ तैयार कर लेता और इस प्रकार की दुर्दशा का शिकार न होता परन्तु विद्या सिद्ध करने की क्रिया (श्रम) से बचकर बना-बनाया सीधा कामकुम्भ मिल जाने से अतिप्रमादी एवं पराधीन बनकर अन्त मे दुःख का भागी बना। इसी प्रकार अन्य अज्ञानी व्यक्ति सम्यग्ज्ञानपूर्वक क्रिया करके शाश्वत सुखमय मोक्ष रूप कामकुम्भ की विद्या सीखने के पुरुषार्थ से बचकर या कतरा कर, अज्ञानदशा मे सम्यक्पुरुषार्थहीन बन कर पड़ा रहता है, या कोरा ज्ञान बघारता रहता है, वह कामभोगों के नशे मे चूर होकर मोक्ष-सुखप्रदायक कामकुम्भ को दूर फेक देता है और फिर अज्ञानवश अहर्निश दुःख भोगता है।

— उत्तराध्ययन अ. ६, गाथा १



सप्तम अध्ययन : उरभ्रीय

(अध्ययन सार)

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'उरभ्रीय' है । इसका नामकरण 'उरभ्र' (भेड का बच्चा- मेढे) के वर्णन से प्रारम्भ होने के आधार पर हुआ है । अनुयोगद्वार मे इसका नाम 'एलकीय' मिलता है ।

श्रेय और प्रेय दो मार्ग है । श्रेय का अर्थ है— त्याग, तप एव विषय-कषायादि से मुक्त होकर आत्मसुख का मार्ग और प्रेय का अर्थ है— अदूरदर्शी होकर परिणाम मे दु.ख वाले क्षणिक विषय-सुखो का मार्ग । श्रेयमार्ग को ग्रहण करने वाला साधक पूर्वबद्धकर्मो को क्षय करके अनन्त-अक्षय सुखो को प्राप्त करता है, जबकि प्रेय मार्ग को ग्रहण करने वाला पॉचो इन्द्रियो के क्षणिक विषयसुखो मे आसक्त होकर दु:ख पाता है, रोग, शोक, चिन्ता, भय, उद्वेग आदि से ग्रस्त रहता है । पॉच उदाहरणो द्वारा प्रस्तुत विषय को स्पष्टत: समझाया गया है ।

प्रस्तुत अध्ययन मे सर्वप्रथम उरभ्र (मेढे) का एक सुन्दर एव व्यावहारिक उदाहरण देकर बताया गया है कि जीव थोडे-से क्षणिक सुखो के प्रलोभन मे भ्रान्तिवश फॅसकर उसके फलस्वरूप भविष्य मे होने वाले कितने बडे अनिष्ट को— हानि को न्यौता दे देता है । अत साधक पॉचो इन्द्रियो के विषयसुखो के प्रलोभन मे न फॅसे, अन्यथा उसे दूरगामी अनिष्ट परिणामो को भोगना पडेगा । प्रथम उदाहरण इस प्रकार है—

एक धनिक ने अपने यहॉ एक गाय, बछडा और मेढा— (भेड का बच्चा- मेमना) पाल रखे थे । वह मेढे को बहुत अच्छा, ताजा और हरा स्निग्ध भोजन खिलाता-पिलाता, उसे स्नानादि कराता । धनिक गाय और उसके बछडे को सूखा घास-चारा डाल देता । बछडा मालिक के इस रूखे व्यवहार को देखकर मन ही मन उदास और चिन्तित हो गया । वह गाय से शिकायत करता है— "मॉ ! मालिक मेमने को बढिया-बढिया स्निग्ध पदार्थ खिलाता है, उसका लालन-पालन पुत्र की तरह करता है, और तुम्हे केवल सुखी घास डाल देता है, जबकि तुम उसे दूध देती हो और मुझे भी रूखा-सूखा चारा डाल देता है, वह भी भर पेट नही । और न मेरे प्रति कोई प्यार भरा व्यवहार करता है । ऐसा क्यो है ?"

गाय ने अपने त्रिय बछडे को समझाया— "वत्स ! मालिक उसे अच्छा खिला-पिलाकर मोटा ताजा कर रहा है, उसका कारण है । जिसकी मृत्यु निकट होती है, उसे मनचाहे पदार्थ खिलाये जाते है । परन्तु कुछ ही दिनो मे देखना उसकी क्या दशा होती है ? वेटा ! सूखी घास खाकर जीना, हमारी दीर्घायु का लक्षण है ।"

कुछ दिन बीते। एक दिन धनिक के घर मेहमान आए। बछडे के देखते ही देखते मोटे-ताजे मेंढे के गले पर छुरी चली और उसका मॉस पकाकर मेहमानो को खिलाया गया। बछडा इस भयानक दृश्य को देखकर कॉप उठा। उसने आकर गाय से पूछा-"मॉ! मालिक ने आज मेमने को मेहमान के स्वागत मे काट दिया है, क्या मै भी इसी तरह काटा जाऊँगा?"

गाय ने उसे दुलारते हुए कहा-"नही बेटा! तू तो सूखी घास खाकर जीता है। जो रूखा-सूखा खाता है, उसे ऐसा कटुफल नही भोगना पडता। जो मनचाहे सुस्वादु भोजन खाकर गुलछर्रे उडाते है, उन्ही के एक दिन गले काटे जाते है।" (-बृहद्‌वृत्ति के अनुसार)

इस दृष्टान्त को दार्ष्टान्तिक द्वारा समझाते हुए कहा गया है कि इसी प्रकार जो अज्ञानी व्यक्ति क्षणिक विषय-सुखो के उपभोग के प्रलोभन मे आकर हिंसा करता है, झूठ-फरेब करता है, लूट-पाट एव चोरी करता है, ठगी करता है, स्त्रियो मे आसक्त रहता है, अन्य विषयो का लोलुप बनता है, महारम्भ-महापरिग्रह मे रत रहता है, मॉस-मदिरा का सेवन करता है, दूसरो को दबाता-सताता है, मांसादि अभक्ष्य पदार्थो को चबा जाता है, वह मोटी तोद वाला, रक्त से लाल और स्थूल— पुष्ट होकर अन्त मे मेमने की दशा प्राप्त कर नरक का मेहमान बनता है। उसे बहुत पापकर्म करके एकत्रित धन, कामभोगो के साधन, आसन, शय्या, वाहन आदि सब कुछ यही छोडकर जाना पडता है, अतः मृत्यु के समय वह उस मेमने की तरह बहुत दुःख और शोक करता है। इस प्रकार के पापकर्मी अज्ञानी जीव कृतकर्मो के वश होकर घोर नरक मे जाते हैं।

प्रस्तुत अध्ययन मे आत्महितैषी को बालभाव छोडकर, प्रेय मार्ग का मोह त्यागकर श्रेयोमार्ग (अबाल-भाव) ग्रहण करने की प्रेरणा दी है।



सप्तम अध्ययन : उरभ्रीय

(सत्तमं अज्झयणं : उरब्भिज्जं)

उरभ्र-दृष्टान्त द्वारा विषयभोगों के कटुपरिणामों का दिग्दर्शन

मूल— जहाएसं [१] समुद्दिस्स, कोइ पोसेज्ज एलयं।
ओयणं जवसं देज्जा, पोसेज्जा वि सयंगणे ॥१ ॥

संस्कृत-छाया— यथादेश समुद्दिश्य, कोऽपि पोषयेदेलकम् ।
ओदनं यवस दद्यात्, पोषयेदपि स्वकागणे ॥१ ॥

पद्यानुवाद— उद्देश्य अतिथि के ज्यो कोई मेढे का पोषण करता है ।
चावल जौ खाने को दे, आगन मे रक्षण करता है ॥१ ॥

अन्वयार्थ—जहा— जैसे, **कोइ—** कोई व्यक्ति, **आएसं समुद्दिस्स—** सम्भावित अतिथि के उद्देश्य से, **एलयं—** एलक-मेमने का, **पोसेज्ज—** पोषण करता है, (उसे) **ओयणं—** ओदन-चावल, **जवसं—** जौ या हरी घास, (आदि) **देज्जा—** देता है, और **सयंगणे वि पोसेज्जा—** अपने ऑगन मे ही उसका पोषण करता है ।

विवेचन— एलयं—एलक— एडक · सगत अर्थ— प्रस्तुत अध्ययन का नाम उरभ्रीय है । उरभ्र— मेढे (भेड के बच्चे—मेमने) को कहते है । इसलिए एलक का सगत अर्थ मेढा या मेमना ही है ।

आएसं समुद्दिस्स— जिसके आने पर घर के लोगो को उसके आतिथ्य हेतु विविध कार्यो के लिए आदेश दिया जाता है, वह आदेश— पाहुना या मेहमान है । उसके उद्देश्य से— अर्थात्— " जब वह आएगा, तब इसे खिलाया जाएगा ।"

जवसं : विभिन्न अर्थ— (१) टीकाओ के अनुसार— "मूग, उडद आदि धान्य'और (२) शब्दकोष के अनुसार— 'तृण, घास, गेहूँ, आदि धान्य' ।

मेमने के रूपक का तात्पर्य— प्रस्तुत १ से १० वी गाथा तक एलक के रूपक द्वारा पापपरायण मनुष्य की दशा की तुलना की गई है । इस विषय की कथा अध्ययन सार मे दी गई है ।

मूल— तओ से पुट्ठे परिवूढे, जायमेए महोदरे ।
पीणिए विउले देहे, आएसं परिकंखए ॥२ ॥
जाव न एइ आएसे, ताव जीवइ से दुही ।
अह पत्तम्मि आएसे, सीसं छेत्तूण भुज्जई ॥३ ॥

---

१. जहाऽऽएस— लुधियाना से प्रकाशित ।

संस्कृत-छाया— ततः स पुष्टः परिवृढः, जातमेदो महोदरः ।
प्रीणितो विपुले देहे, आदेश परिकांक्षति ॥२ ॥
यावन्नैत्यादेशः, तावज्जीवति स दुःखी ।
अथ प्राप्त आदेशे, शीर्ष छित्त्वा भुज्यते ॥३ ॥

पद्यानुवाद— फिर वह मेढा पुष्ट हुआ, बढ गया मेद, बल, स्थूलोदर ।
अतितृप्त बढ़ा उसका तन, आदेश प्रतीक्षा करता घर ॥२ ॥
जब तक न अतिथि आता घर पर, वह दुःखी तभी तक जीता है ।
सिर काट अतिथि के आने पर, फिर घर मे खाया जाता है ॥३ ॥

अन्वयार्थ— **तओ**— फिर, **से**— वह मेमना, **पुट्ठे**— (अच्छा-खाने-पीने से) पुष्ट, **परिवूढे**— बलिष्ठ, **जायमेए**— चर्बी बढ जाने से मोटा, **महोदरे**— मोटे पेट (तोद) वाला हो जाता है । (अब वह) **पीणिए**— अत्यन्त तृप्त, **विउले देहे**— मांसल देह वाला मेमना (बस), **आएसं**— आदेश अर्थात् पाहुने की, **परिकंखए**— प्रतीक्षा करता है ॥२ ॥

जाव— जब तक, **आएसे**— अतिथि, **न एइ**— नही आता है, **ताव**— तब तक, **से दुही**— वह बेचारा (दुःखी), **जीवइ**— जीता है । **अह**— इसके बाद, **आएसे पत्तंमि**— अतिथि के आते ही, (वह) **सीसं छेत्तूण भुज्जइ**— सिर काट कर खा लिया जाता है ॥३ ॥

विवेचन— **परिकंखए : आशय**—वस्तुत मेमने की इच्छा मेहमान के आने की प्रतीक्षा सम्भव नही है, क्योकि वह तो बेचारा मृत्यु के भय से कांप रहा है । अतः यहाँ अर्थ होगा— मानो वह मेहमान के आने की प्रतीक्षा कर रहा है ।

से दुही : सेऽदुही : आशय— सेऽदुही मे अकार का प्रश्लेष होने से अर्थ हो जाता है— जब तक पाहुना नही आता, तब तक ही वह अदुःखी होकर जीवित है । अदुःखी का अर्थ है— सुखी होकर जीता है; क्योकि फासी पर चढाए जाने वाले वध्य मानव को मण्डन कराया जाता है, वैसे ही इस वध्य (मारे जाने वाले) मेमने को खूब अच्छा-अच्छा खिलाया जाता है, उसको नहलाया-धुलाया जाता है, उसके शरीर को हल्दी आदि से रगा जाता है, उसके गले मे माला डाली जाती है । अर्थात् उसका बहुत लाड-प्यार किया जाता है । इस दृष्टि से वह मेमना सुखी बतलाया गया है, किन्तु वस्तुतः वह दु खी है, अर्थात्— बेचारा है ।

रसगृद्ध पापी की भी यही दशा : दार्ष्टान्तिक

मूल— जहा खलु से [१] उरब्भे, आएसाए समीहिए ।
एवं बाले अहम्मिट्ठे, ईहई नरयाउयं ॥४ ॥

१ से खलु- लुधियाना से प्रकाशित ।

संस्कृत-छाया— यथा स खलूरभ्र, आदेशाय समीहितः ।
एवं बालोऽधर्मिष्ठ; ईहते नरकायुः ॥४ ॥

पद्यानुवाद— जैसे निश्चय ही वह मेढा, मेहमान-नाम पर पलता है ।
वैसे अधर्मयुत अज्ञानी, नरकायुबन्ध मन धरता है ॥४ ॥

अन्वयार्थ— **जहा**— जैसे, **आएसाए**— पाहुने के लिए, **समीहिए**— परिकल्पित, **से उरब्भे**—वह मेमना, **खलु**— यथार्थ मे उसकी प्रतीक्षा करता है, **एवं**— इसी प्रकार, **अहम्मिट्ठे**— अधर्मिष्ठ, **बाले**— अज्ञानी जीव भी, **नरयाउयं**— नरक के आयुष्य की मानो, **ईहई**— आकाक्षा (या प्रतीक्षा) करता है ।

भावार्थ— जैसे पाहुने के लिए निश्चित किया हुआ वह मेमना मानो उसकी प्रतीक्षा करता है, इसी प्रकार अधर्मिष्ठ (रसगृद्ध) बालजन भी मानो नरकायु की प्रतीक्षा (या आकाक्षा-सी) करता है ।

विवेचन—ईहई नरयाउयं : आशय— जैसे मेमना पाहुने की मानो प्रतीक्षा करता है, क्योकि पाहुने के लिए पहले से उसे निश्चित कर दिया गया है, वैसे ही अधर्मिष्ठ पापी अज्ञानी जन भी मानो नरकायु (नरक-जीवन) की आकाक्षा या प्रतीक्षा करता है, क्योकि वह भी नरक-गमन के अनुरूप पापाचरण करता है ।

नरकायु के अनुकूल अधर्मिष्ठ बाल के आचरण

मूल— **हिंसे बाले मुसावाई, अद्धाणंमि विलोवए ।**
अन्नदत्तहरे तेणे, माई कण्हु [१] हरे सढे ॥५ ॥
इत्थी-विसय-गिद्धे य, महारंभ-परिग्गहे ।
भुञ्जमाणे सुरं मंसं, परिवूढे परंदमे ॥६ ॥
अयकक्कर-भोई य, तुन्दिल्ले चियलोहिए ।
आउयं नरए कंखे, जहाएसं [२] व एलए ॥७ ॥

संस्कृत-छाया— हिस्रो बालो मृषावादी, अध्वनि विलुम्पक ।
अन्यदत्तहर स्तेन, मायी कन्नुहर शठः ॥५ ॥
स्त्रीविषयगृद्धश्च, महारभपरिग्रहः ।
भुञ्जान सुरां मास, परिवृढ परदम ॥६ ॥
अजकर्करभोजी च, तुन्दिल चितलोहित ।
आयुर्नरकाय काक्षति, यथाऽऽदेशमिवैडक ॥७ ॥

१ कं नु— लुधियाना से प्रकाशित ।
२ जहाऽएसं— लुधियाना से प्रकाशित ।

पद्यानुवाद— हिसक अज्ञ मृषावादी, पथिको का धन हरने वाला ।
मायावी चोर धूर्त लुटेरा, परवस्तुहरण की मति वाला ॥५ ॥
स्त्री और विषयो मे मूर्च्छित, महारम्भ-परिग्रहधारी ।
जो सुरा मांस का भोगी है, बलिष्ठ तथा परदमनकारी ॥६ ॥
कर्करध्वनि से जो खाता है अजवत्, तुन्दिल है, अतिरक्त भरा ।
नर नरक-आयु का अभिलाषी, ज्यो अतिथि- हेतु अज मरे खरा ॥७ ॥

अन्वयार्थ—हिंसे— हिंसक, **बाले**—अज्ञानी, **मुसावाई**— मृषावादी, **अद्धाणंमि विलोवए**— पथिको को मार्ग मे लूटने वाला, **अन्नदत्तहरे**— दूसरो को दी हुई वस्तु को बीच मे ही हड़प जाने वाला, **तेणे**— चोर, **माई**— मायावी—कपटी, **कण्हुहरे**— कुतोहर (मै किसका हरण करूँ इसी उधेडबुन मे निरन्तर संलग्न) तथा **सढे**— शठ-धूर्त ॥५ ॥

इत्थीविसयगिद्धे य— और स्त्रियो तथा अन्य विषयो मे गृद्ध (आसक्त), **महारंभ-परिग्गहे**—महारम्भी और महापरिग्रही, **सुरं मंसं भुञ्जमाणे**— मदिरा और मास का उपभोग करने वाला, **परिवूढे**— वलिष्ठ (एव), **परंदमे**— दूसरो को दमन करने (सताने) वाला ॥६ ॥

अंयकक्करभोई— मेमने की तरह कर— कर शब्द करते हुए मॉस आदि अभक्ष्य खाने वाला, **तुन्दिल्ले**— मोटी तोद वाला, **चियलोहए**— अधिक रक्त वाला (वह मूढ पुरुष), **नरए आउयं**— उसी प्रकार नरक के आयुष्य की, **कंखे**— आकांक्षा करता है, **जहा**— जैसे, **आएसं व एलए**— हृष्ट-पुष्ट हुआ मेमना पाहुने की प्रतीक्षा करता है ॥७ ॥

विवेचन— अन्नदत्तहरे : दो अर्थ— (१) जो राजा आदि द्वारा दूसरो के लिए दी हुई वस्तु को बीच मे ही छीन-झपट लेता है, (२) अथवा जो दूसरो के द्वारा अदत्त— नही दी हुई— अपने अधिकार से बाहर की वस्तु को हरण कर लेता है ।

परिवूढं : आशय— मास और रक्त बढ जाने से अत्यधिक शक्तिशाली समर्थ (जबर्दस्त) व्यक्ति ।

महारम्भ परिग्गहे— अनेक प्राणियो का घात करने वाली प्रवृत्ति (व्यापार) महारम्भ है और धन-धान्यादि का अत्यधिक सग्रह महापरिग्रह है, जो महारम्भ-महापरिग्रह वाला है ।

नरये आउयं : आशय— नरक के योग्य कुकृत्य करने से नरक के आयुष्य— जीवन की मानो वह आकाक्षा करता है ।

ऐसे महापापी को अन्तिम समय शोक

मूल— आसणं सयणं जाणं, वित्तं कामे य भुञ्जिया ।
दुस्साहडं धणं हिच्चा, बहुं संचिणिया रयं ॥८ ॥

तओ कम्मगुरु जंतू, पच्चुप्पन्न परायणे।
अयव्व आगयाएसे, मरणंतंमि सोयई ॥९ ॥

संस्कृत-छाया— आसन शयनं यान, वित्त कामान् भुक्त्वा।
दु:खाहृत धन त्यक्त्वा, बहु सचित्य रज ॥८ ॥
तत: कर्मगुरुर्जन्तु, प्रत्युत्पन्नपरायण ।
अज इवागत आदेशे, मरणान्ते शोचति ॥९ ॥

पद्यानुवाद— आसन शय्या रथ वित्त काम, जी भर के भोग चले जग से।
बहुकष्ट-प्राप्त धन छोड चले, अतिकर्मधूलि के सचय से ॥८ ॥
तब जीव कर्म से भारी हो, प्रत्यक्ष जगत् मे मन धरता।
अतिथि आये मेमने की तरह, मरणान्त-समय चिन्ता करता ॥९ ॥

अन्वयार्थ—आसणं—आसन, **सयणं**— शय्या, **जाणं**—यान(वाहन), **वित्तं**—धन, **य**—और, **कामे**—कामभोगो का, **भुञ्जिया**—उपभोग कर, **दुस्साहडं** [१]— दु ख से एकत्रित किये (बटोरे) हुए, **धणं**— धन को, **हिच्चा** [२]— छोडकर, **बहुं रयं**— प्रचुर कर्मरज को, **संचिणियहु** [३] — सचित कर ॥८ ॥

तओ—तदनन्तर, **कम्मगुरु**— कर्मो से भारी बना हुआ, (तथा) **पच्चुप्पन्नपरायणे** [४]— केवल प्रत्यक्ष भोगे जाने वाले विषयसुखो मे तत्पर (अथवा केवल प्रत्यक्ष मे ही विश्वास रखने वाला), **जन्तू**— जीव, **मरणंतंमि**— मरणान्तकाल मे, **आगयाए से अयव्व** [५]— जिस प्रकार पाहुने के आने पर मेमना शोक करता है, **सोयइ** [६]— उसी प्रकार शोक करता है ॥९ ॥

---

१ दुस्साहड : तीन अर्थ— (१) दु ख से प्राप्त किये हुए (२) कठिनता से सचित किये हुए, (३) स्वय और दूसरों को दु खी करके उपार्जित।

२ हिच्चा : तात्पर्य— (१) सामान्य अर्थ है— छोड़ कर, (२) विशेषार्थ— आसन आदि भोग्यसामग्री के उपभोग में तथा द्यूत आदि व्यसनों में गँवाकर।

३. बहुरयं सचिणिया आशय— मिथ्यात्व आदि कर्मबन्ध के हेतु सम्भव होने से प्रचुर कर्मरज का सचय करके।

४. पच्चुपन्नपरायणे : तीन अर्थ— दो अर्थ अन्वयार्थ में दिये जा चुके हैं, तीसरा अर्थ-वर्तमानपरायण। जितना इन्द्रियगोचर है उतना ही लोक(जगत) है, इस प्रकार नास्तिक मतानुसारी होने से परलोक निरपेक्ष।

५. अएव्व अज इव : आशय— 'अज' का अर्थ यहाँ बकरा न होकर बृहद्वृत्तिकार ने 'पशु' किया है, जो कि प्रसंगवश उरभ्र (मेमना) ही है।

६ मरणतमि सोयई : तात्पर्य— जिस प्रकार पाहुने के आने पर परिपुष्ट मेमना शोक करता है, उसी प्रकार यह भोगपरायण नास्तिक व्यक्ति भी अन्तिम समय में इस प्रकार विलाप करता हुआ खिन्न होता है कि धिक्कार है मुझे, मैंने विषयों में आसक्त होकर भारी कर्मों का उपार्जन किया, अब मैं मर कर कहाँ जाऊँगा ? कर्मगुरु होने से नरकगति के सिवाय मेरी और कोई गति नही हो सकती।

मूल— तओ आउपरिक्खीणे, चुया देहा विहिंसगा।
आसुरियं दिसं बाला, गच्छंति अवसा तमं ॥१० ॥

संस्कृत-छाया— तत आयुःपरिक्षीणे, च्युतदेहा विहिंसकाः ।
आसुरी दिश बालाः, गच्छन्ति अवशा· तम· ॥१० ॥

पद्यानुवाद— जब आयु क्षीण हो जाती है, हिंसक शरीर तज कर जाता ।
आसुरी दिशा मे अज्ञानी, तम भरे नरक मे दु:ख पाता ॥१० ॥

अन्वयार्थ—**तओ**— फिर, **आउपरिक्खीणे**— आयु के क्षीण होने पर, (वे) **विहिंसगा**— नाना प्रकार की हिसा करने वाले, **बाला**— अज्ञानी जीव, **देहा चुया**— देह से च्युत (पृथक्) होते है, (तो) **अवसा**—कृत कर्मो से विवश होकर, **तमं**— अन्धकाराच्छन्न, **आसुरियं दिसं**— आसुरीय दिशा (नरक) की ओर, **गच्छंति**— जाते है ।

भावार्थ— इसके पश्चात् आयुष्य के क्षीण होने पर विविध प्रकार से हिंसा करने वाले वे अज्ञानी जीव जब देह से छूटते है तो कृतकर्मो के वशवर्ती होकर अन्धकारपूर्ण आसुरीय दिशा (नरक) की ओर जाते है ।

आसुरियं दिसं : दो अर्थ— (१) जहॉ सूर्य न हो, (उपलक्षण से ग्रह-नक्षत्रादि न हो), इस प्रकार असूर्य-सम्बन्धी भावदिशा असूरीया अर्थात् नरकगति को, (२) सभी रौद्रकर्मकारी असुर कहलाते है, असुरो की दिशा आसुरीया अर्थात्— नरकगति को ।

यद्यपि देवलोक मे भी सूर्य नही होते, किन्तु वहॉ अन्धकार नही होता, इसीलिए यहॉ 'नरकगति' बतलाने के लिए 'तम' शब्द प्रयुक्त किया गया है ।

तुलना— असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता· ।
तास्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति, ये केचात्महनो जनाः ॥

काकिणी और आम्रफल के दृष्टान्त द्वारा दिव्य काम की पराजय प्ररूपणा

मूल— जहा कागिणीए हेउं, सहस्सं हारए नरो।
अपत्थं अम्बगं भोच्चा, राया रज्जं तु हारए ॥११ ॥
एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अन्तिए।
सहस्सगुणिया भुज्जो, आउं कामा व दिव्विया ॥१२ ॥
अणेगवासानउया, जा सा पन्नवओ [1] ठिई।
जाणि जीयंति दुम्मेहा, ऊणे वाससयाउए ॥१३ ॥

१. पण्णवओ— लुधियाना से प्रकाशित।

संस्कृत-छाया— यथा काकिण्या हेतो, सहस्र हारयेन्नर ।
अपथ्यमाम्रक भुक्त्वा, राजा राज्य तु हारयेत् ॥११ ॥
एव मानुष्यका कामा, देवकामानामन्तिके ।
सहस्रगुणिता भूय, आयु कामाश्च दिव्यका ॥१२ ॥
अनेकवर्षनयुता या सा प्रज्ञावत स्थिति ।
यानि जीयन्ते दुर्मेधस ऊने वर्षशतायुषि ॥१३ ॥

पद्यानुवाद— जैसे काकिनी के हेतु मनुज, है हार हजार यहाँ जाता ।
खाकर अपथ्य फल आम्र भूप, लालच मे राज्य गँवा जाता ॥११ ॥
है तुच्छ कामसुख मनुजो का, ऐसे ही सुरसुख के आगे ।
देवो के भोग और आयुष्य, नर से हजारगुने है आगे ॥१२ ॥
होती असख्य वर्षो की है, दिवि प्राज्ञजनो की आयु जहाँ ।
जिनको दुर्मेधा विषयी बन, आयु शताब्द मे हारे यहाँ ॥१३ ॥

अन्वयार्थ—जहा— जैसे, **नरो—** कोई(मूढ) मनुष्य, **कागिणिए हेउं—** एक काकिनी (रुपये के ८० वे भाग) के लिए, **सहस्सं—** हजार (कार्षापण), **हारए—** हार जाता (गवॉ देता) है, तथा, **राया—** कोई (आम्रफलासक्त) राजा, **अपत्थं अम्बगं—** (अपने लिए) अपथ्यरूप एक आम्रफल, **भोच्चा—** खाकर (बदले मे जैसे), **रज्जं—** राज्य को, **हारए—** खो देता है ॥११ ॥

एवं— इसी प्रकार, **देवकामाणं अंतिए—** देवों के कामभोगो (विषयसुखों) के सामने, **माणुस्सगाकामा—** मनुष्य सम्बन्धी कामभोग (विषय सुख) भी नगण्य है, (क्योकि मनुष्य की अपेक्षा) **दिव्विया—** देवो की, **आउं—** आयु, **य—** और, **कामा—** कामभोग, **सहस्सगुणिया भुज्जो—** हजारगुने अधिक है ॥१२ ॥

पन्नवओ— प्रज्ञावान् साधक की, **जा ठिई—** देवलोक मे जो स्थिति है, **सा—** वह, **अणेगवासानउया—** अनेक नयुत (असख्य) वर्ष की होती है, **जाणि—** इसे जानता हुआ भी, (उन दिव्य सुखो को), **दुम्मेहा—** दुर्बुद्धि (मूढ), **ऊणे वाससयाउए—** सौ वर्ष से भी कम आयुष्यकाल मे, **जीयंति—** हार जाता (गॅवा बैठता) है ॥१३ ॥

भावार्थ— जैसे एक क्षुद्र काकिनी के लिए कोई मूढ मनुष्य हजार कार्षापण गॅवा देता है और कोई राजा अपने लिए कुपथ्य आम्रफल खाकर बदले मे अपना राज्य खो देता है, (वैसे ही जो व्यक्ति मानवीय भोगो मे आसक्त होता है, वह दैवीभोगो को हार जाता है) ॥११ ॥

इसी प्रकार देवभवसम्बन्धी काम-भोगो (वैषयिक सुखों) के सामने मनुष्य सम्बन्धी कामभोग और भी तुच्छ है, क्योकि देवलोक के कामभोग और आयुष्य, मनुष्यभव के कामभोग

और आयु से हजारगुने अधिक है ॥१२ ॥

ज्ञानक्रियावान् साधक की स्वर्ग मे अनेक नयुत वर्ष— असख्यातकाल— की [illegible] होती है, किन्तु दुर्बुद्धि जीव सौ वर्ष से भी कम आयुष्यकाल मे हार जाता (गॅवा बैठ) है ॥१३ ॥

विवेचन—कथा— ११ वी गाथा मे एक काकिनी के लिए हजार कार्षापण गॅवा दे वाले मूढ नर की, तथा एक कुपथ्य आम्रफल खाने के बदले अपना राज्य खो देने वाले [illegible] की कथा सूचित की गई है, जिसे परिशिष्ट मे देखें ।

[1] **कागणिए : अर्थ—** (१) मनुष्य का आयुष्य और कामभोग अत्यन्त अल्प होने से काकिनी और अपथ्य आम्रफल के समान है, तथा देवलोक का आयुष्य और कामभोग अत्यन्त विपुल होने से हजार कार्षापण तथा राज्य के तुल्य है । अत· जैसे द्रमक और राजा काकिनी तथा आम्रफल भोग के बदले सहस्र कार्षापण और राज्य को हार गये थे, वैसे ही दुर्बुद्धि मानवीय भोगासक्त जीव मनुष्य सम्बन्धी अल्प आयुष्य और तुच्छ कामभोगो के बदले देव सम्बन्धी अत्यधिक आयुष्य और प्रचुर कामभोगो को हार जाते हैं ।

सहस्सं : आशय— सहस्र शब्द हजार कार्षापणो का द्योतक है, ऐसा बृहद्वृत्तिकार एव चूर्णिकार का मत है । कार्षापण एक प्रकार का सिक्का था, जो उस युग मे प्रचलित था ।

अणेगवासानउया : अनेक वर्षनयुत : कालगणना— नयुत एक प्रकार की सख्या है, जो विशेषत· आयुष्यकाल की गणना के लिए प्रयुक्त होती थी । नयुत से पल्योपम-सागरोपमरूप काल सूचित किया जाता था, क्योंकि नयुत असख्य वर्षों का होता है ।

दुम्मेहा : दुर्मेधस : तात्पर्य— सामान्यतया इसका अर्थ दुर्बुद्धि वाले लोग होते है, विशेषार्थ यह है कि विपर्यय आदि दोषो से दूषित बुद्धि वाले व्यक्ति जो वस्तुस्वरूप को विपरीत रूप मे ग्रहण करते है । ऐसे दुर्बुद्धिग्रस्त लोग मानवीय विषयभोगो से पराजित हो जाते है ।

व्यावहारिक उदाहरण द्वारा प्रतिबोध

मूल— जहा य तिन्नि वणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया ।
एगोऽत्थ लहई लाहं[2], एगो मूलेण आगओ ॥१४ ॥

---

१ काकिणी (१) चूर्णि के अनुसार— एक रुपये का ८० वॉ भाग तथा विंशोपक का चौथा भाग अथवा एक प्रकार का सिक्का, जो रुपये का बीसवॉ भाग था; (२) वृहद्वृत्ति के अनुसार- बीस कौड़ियों की एक काकिनी होती है ।

२ लाभ— लुधियाना से प्रकाशित ।

एगो मूलं पि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणियो।
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह ॥१५ ॥
माणुसत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाणं, नरगतिरिक्खत्तणं धुवं ॥१६ ॥

संस्कृत-छाया— यथा च त्रयो वणिज, मूल गृहीत्वा निर्गता ।
एकोऽत्र लभते लाभम्, एको मूलेनागत ॥१४ ॥
एकोमूलमपि हारयित्वा, आगतस्तत्र वणिक् ।
व्यवहार उपमैषा, एव धर्मे विजानीत ॥१५ ॥
मानुषत्व भवेन्मूल, लाभो देवगतिर्भवेत् ।
मूलच्छेदेन जीवाना, नरकतिर्यक्त्व ध्रुवम् ॥१६ ॥

पद्यानुवाद— जैसे तीन वणिक् घर से, पूँजी लेकर परदेश गये ।
ले लाभ, एक लौटा, द्वितीय, घर आया केवल मूल लिये ॥१४ ॥
एक गवा पूँजी अपनी, घर आया खाली हाथ धरे ।
व्यवहार क्षेत्र की उपमा है यह, यो धर्मक्षेत्र मे ग्रहण करे ॥१५ ॥
ऐसे मनुष्यभव मूल समझ, देवत्व लाभ कहलाता है ।
निश्चय नारक-तिर्यञ्चरूप, नष्ट मूलधन कहलाता है ॥१६ ॥

अन्वयार्थ—जहा य— जैसे, **तिन्नि वणिया—** तीन वणिक्, **मूलं—** मूल पूँजी, **घेत्तूण—** लेकर **निग्गया—** घर से निकले । **अत्थ—** इनमे से, **एगो—** एक वणिक्, **लाहं लहई—** लाभ उठाता है, **एगो—** दूसरा एक वणिक्, **मूलेण—** मूल पूँजी के साथ, **आगओ—** आ गया ॥१४ ॥

तत्थ— उनमे से, **एगो—** तीसरा एक, **मूलं पि हारित्ता—** मूल पूँजी गँवा (हार) कर, **आगओ—** घर आया । **एसा—** यह, **उवमा—** उपमा (उदाहरण), **ववहारे—** व्यवहार (व्यापार) की है, **धम्मे—** धर्म के विषय मे भी, **एवं—** इसी प्रकार, **वियाणह—** समझ लो (जान लो) ॥१५ ॥

माणुसत्तं— मनुष्यत्व, **मूलं भवे—** मूल धन है । **देवगई—** देवगति, **लाभो—** लाभरूप, **भवे—** है । **मूलच्छेएण—** मूल के नाश हो जाने से, **जीवाणं—** (उन) जीवो की, **नरगतिरिक्खत्तणं—** नरक और तिर्यञ्चगति, **धुवं—** निश्चित है ॥१६ ॥

भावार्थ— उदाहरणार्थ— तीन वणिक् मूल पूँजी लेकर घर से निकले । इन तीनो मे से एक वणिक् अतिरिक्त लाभ प्राप्त करता (कमाता) है । दूसरा मूल पूँजी लेकर वापस आ गया । उनमे से तीसरा मूल पूँजी भी खोकर घर आया ॥१४ ॥

यह उपमा व्यावहारिक (व्यवसाय-जगत् की) है, धर्म के सम्बन्ध मे भी इसी तरह स लेना चाहिए ॥१५ ॥

यथा— मनुष्यत्व मूलधन है, देवगति अतिरिक्त लाभ है । परन्तु मूलधन के नष्ट जाने से जीवो को अवश्य ही नरकगति या तिर्यचगति प्राप्त होती है ॥१६ ॥

विवेचन—कथा— इन तीन गाथाओ द्वारा तीन वणिको के दृष्टान्त से तीन कोटि जीवो की गति सूचित की है । यह कथा परिशिष्ट मे दी गई है ।

दृष्टान्त—घटना— तीन संसारी जीव मनुष्यगति मे मनुष्यरूप मे आए । उनमे से एक मृदुता, ऋजुता आदि गुणोसे सम्पन्न और मध्यम श्रेणी के आरम्भ-परिग्रह से युक्त है, वह मरकर सहस्र कार्षापणरूप मूलधन स्थानीय उसी मनुष्यत्व को पुन· पाता है । दूसरा, सम्यग्दर्शन-चारित्रगुण मे स्थित है, सरागसयमी है, वह मर कर देवलोक मे उत्पन्न होकर अतिरिक्त लाभ प्राप्त करता है । तीसरा हिंसक, मृषावादी, अज्ञानी जीव पूर्वोक्त सावद्य (पापयुक्त) प्रवृत्तियॉ करके मूलधन नष्ट कर देने वाले वणिक् की तरह मनुष्यत्वरूप मूलधन को खोकर नरकगति या तिर्यञ्चगति पाता है ।

मनुष्यत्व मूल क्यो ?— मनुष्यत्व को— अर्थात्— मनुष्य जन्म को मूल इसलिए बताया है कि इसी भव मे धर्म-कमाई, मोक्षमार्ग की साधना या पुण्योपार्जना हो सकती है । मनुष्यभव ही स्वर्ग-अपवर्गरूप उत्तरोत्तर लाभ का हेतु है । देवगति को लाभरूप इसलिए बताया है कि उसमे मनुष्यगति की अपेक्षा अनेकगुने विषय-सुखो की प्राप्ति होती है ।

दो कुगतियों को प्राप्त : हारा हुआ जीव

मूल— दुहओ गई बालस्स, आवई वहमूलिया ।
देवत्तं माणुसत्तं च, जं जिए लोलयासढे ॥१७ ॥
तओ जिए सइं[1] होइ, दुविहं दोग्गइं[2] गए ।
दुल्लहा तस्स उम्मज्जा, अद्धाए सुइरादवि[3] ॥१८ ॥

संस्कृत-छाया— द्विधा गतिर्बालस्य, आपद्वधमूलिका ।
देवत्व मनुष्यत्व च, यस्माज्जितो लोलताशठ· ॥१७ ॥
ततो जितः सकृद् भवति, द्विविधा दुर्गति गत ।
दुर्लभा तस्योन्मज्जा, अद्धाया सुचिरादपि ॥१८ ॥

१. सई— लुधियाना से प्रकाशित ।
२ दुग्गइ— लुधियाना से प्रकाशित ।
३. सुचिरादवि— लुधियाना से प्रकाशित ।

पद्यानुवाद— बालजीव की दो गतिया, आपद्-वधमूलक होती भारी।
विषयलोलुप होकर उसने, देव-मनुजगतिद्वय हारी ॥१७ ॥
सुगतिद्वय खोकर जो जाता, तिर्यक् नारक दो दुर्गति मे।
दुर्लभ उसका ऊपर आना, चिरकाल बिता, फिर सद्गति मे ॥१८ ॥

अन्वयार्थ—बालस्स—अज्ञानी जीव की, **दुहओ गई**— दो प्रकार की गति होती है (नरक और तिर्यञ्च)। उनमे उसे, **आवई वहमूलिया**— वधमूलक आपदाएँ (प्राप्त होती है) (क्योकि वह), **लोलयासढे**— विषयलोलुप और धूर्त (वचक) होकर, **जं देवत्तं माणुसत्तं च**— जो देवत्व और मनुष्यत्व रूप सुगतियाँ है, उनको, (वह) **जिए**— पहले ही हार चुका है ॥१७ ॥

तओ— फिर, **दुविहं दोग्गइं**— दो प्रकार की (नरकतिर्यञ्चरूप) दुर्गति की, **गए**— प्राप्त (अज्ञानी जीव), **सइं**— सदा के लिए, **जिए होइ**— देवगति और मनुष्यगति को हारा हुआ है। (क्योकि भविष्य मे), **तस्स**— उसका, **सुइरादवि अद्धाए**— दीर्घकाल तक, **उम्मज्जा**— इन दोनो दुर्गतियो से बाहर निकलना, **दुल्लहा**— दुर्लभ है ॥१८ ॥

भावार्थ— अज्ञानी जीव की दो प्रकार की गति है- नरक और तिर्यञ्च, जहाँ उसे वधमूलक आपदाएँ प्राप्त होती है, क्योकि वह विषयलोलुपता और शठता-धूर्तता के कारण पहले ही देवत्व और मनुष्यत्व को हार चुका होता है ॥१७ ॥

दो प्रकार की (नरक-तिर्यञ्चरूप) दुर्गति मे गया हुआ बाल जीव सदा मनुष्यगति और देवगति को हारा हुआ होता है। उसका इन दोनो कुगतियो से बाहर निकलना दीर्घकाल तक दुर्लभ है ॥१८ ॥

लोलयासढे—लोलयाशठ : आशय— जो मनुष्य मास आदि अभक्ष्य खान-पान का अतिलोलुप होता है, वह उसी मे तन्मय रहता है। इसी तन्मयता को द्योतित करने के लिए यहाँ 'लोलय' शब्द प्रयुक्त है, दूसरा शब्द है— आसढे— अर्थात्-आशठ- जो सब ओर से धूर्त है, वचक है, मायावी है, प्रत्येक बात मे वचना करता है। मासाहार नरकगति का और वचना तिर्यञ्चगति का हेतु होने से यहाँ 'लोलय' और 'आशठ' शब्द का प्रयोग सापेक्ष है।

मूलधन वाले वणिक् के समान : मनुष्यत्व प्राप्त जीव

मूल— **एवं जियं सपेहाए, तुलिया बालं च पंडियं।**
मूलियं ते पवेसंति, माणुसं[1] जोणिमेंति जे ॥१९ ॥

संस्कृत-छाया— एव जित संप्रेक्ष्य, तोलयित्वा बाल च पण्डितम्।
मूलक ते प्रविशन्ति, मानुषी योनिं यान्ति ये ॥१९ ॥

१ माणुसि— लुधियाना से प्रकाशित।

पद्यानुवाद— नर-सुर-भव हारे जन को लख, पण्डित-बालो की तुलना कर।
मानव-योनि मे जो आते, वे मूल सम्पदा को धर कर ॥१९ ॥

अन्वयार्थ—एवं—इस प्रकार (सुगतियो को), **जियं—** हारे हुए बालजीव को, **सपेहाए** भलीभाँति जान-देखकर, (तथा) **बालं च पंडियं च—** बाल और पण्डित की, **तुलिया—** तुलना कर, **जे—** जो, **माणुसं जोणिं—** मानुषी योनि मे, **ऍंति—** आते है, **ते—** वे, **पवेसंति—** (उन बनियो की तरह है,) जो मूलधन के साथ (पुनः) प्रवेश करते है।

भावार्थ— इस प्रकार देव-भव और मनुष्य-भव को हारे हुए मनुष्य को देखकर तथा पण्डित और बाल की तुलना कर जो मानुषी योनि मे आते है, वे मूलधन के साथ लौटे हुए वणिक् की तरह प्रविष्ट होने वाले है।

विवेचन—सम्प्रेक्षा और तुलना— प्रस्तुत गाथा मे रसलोलुपता और शठता के कारण बाल जीव की देवत्व और मनुजत्व की हार के विषय मे सम्यक्तया प्रेक्षण-आलोचन करने तथा बाल और पण्डित दोनो के गुण-दोषो को तौलने का निर्देश किया है। अथवा सम्यक्-प्रेक्षा— बुद्धि द्वारा पराजित बाल और विजित पण्डित की सम्यक् तुलना करने का निर्देश भी सूचित होता है।

मूलियं पवेसंति : आशय— जो व्यक्ति पूर्वोक्त बालत्व को छोड़कर पण्डितत्व को अपनाता है, वह मूलधन सहित लौटे हुए वणिक् की तरह मूल- मानुषी योनि मे प्रवेश करता है।

मूल— मनुष्यत्व को प्राप्त व्यक्तियों की योग्यता

मूल- वेमायाहिं सिक्खाहिं, जे नरा गिहिसुव्वया।
उवेंति माणुसं जोणिं, कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥२० ॥

संस्कृत-छाया— विमात्राभिः शिक्षाभिः, ये नरा गृहिसुव्रता.।
उपयान्ति मानुषी योनि, कर्मसत्या. खलु प्राणिनः ॥२० ॥

पद्यानुवाद— पाकर अनेकविध शिक्षाएँ, जो गृहीव्रतो मे चित्त धरे।
मानुषी योनि को नर पाते, फल सत्य कर्म अनुसरण करे ॥२० ॥

अन्वयार्थ—जे नरा— जो मनुष्य, **वेमायाहिं सिक्खाहिं—** विविध मात्रा (परिमाण) वाली शिक्षाओ से युक्त होकर, **गिहिसुव्वया—** घर मे रहते हुए सुव्रती है, वे (आगामी जन्म मे फिर), **माणुसं जोणिं—** मानुषी योनि को, **उवेंति—** प्राप्त करते है, (क्योकि) **पाणिणो—** प्राणी, हु **कम्मसच्चा—** कर्मसत्य अवश्य होते है, (अर्थात्— कृत कर्मो का फल अवश्य पाते है।)

विवेचन— विविध मात्रा वाली शिक्षाएँ : क्या और कौन-सी ?— बृहद्वृत्तिकार के अनुसार— मनुष्यगति के बन्ध की कारणभूत ४ बातो का पुन-पुन जीवन मे अभ्यास करना ही विविध परिमाण वाली शिक्षाएँ है । स्थानागसूत्र में मनुष्यगति बन्ध के ये चार कारण बताए है— प्रकृतिभद्रता, प्रकृति— विनीतता, सानुक्रोशता (सदयता) और अमत्सरता । वास्तव मे इन्ही चार गुणो के अभ्यास से मनुष्य योनि प्राप्त होती है ।

गृहिसुव्रत : तात्पर्य— प्रस्तुत मे गृहस्थ श्रमणोपासक के बारह व्रतो के अर्थ मे 'सुव्रत' का प्रयोग नही है, किन्तु सुव्रत का अर्थ यहाँ भी बृहद्वृत्तिकार के अनुसार— सत्पुरुषो के योग्य प्रकृतिभद्रता आदि गुणो के अभ्यास के प्रभाव से विपत्ति मे विषाद न पाना आदि सज्जोनो का आचार है । जैसे कि नीतिकार कहते है— विपत्ति आने पर भी उच्चस्थान पर डटे रहना, महान् व्यक्तियो का पदानुसरण, प्रिय और न्याययुक्त वृत्ति, प्राण चले जाने पर भी जीवन को दूषित न करना, दुर्जनो से याचना न करना, निर्धन मित्र से भी याचना न करना इत्यादि कठोर असिधाराव्रत सज्जनो को किसने बताया है ? वास्तव मे सज्जनो के जीवन मे सहज रूप से इन गुणो के सस्कार व्रत की तरह होते है । ऐसे गृहस्थ-सुव्रतियो के द्वारा आगम विहित व्रतधारण असम्भव है, क्योकि श्रावकव्रत देवगति बन्ध के कारण बताये गए है ।

कम्मसच्चा हु पाणिणो— दो रूप : तीन अर्थ— (१) प्राणी अर्थात्— मनुष्य कर्म से अर्थात् मनो-वाक्-काया से होने वाली क्रिया (कार्य) सत्य—अविसवादी होते है, (२) कर्मसत्य अर्थात् प्राणियो के ज्ञानावरणीय आदि कर्म सत्य अर्थात्— अवश्य फल देने वाले (अवन्ध्यफल) होते है । अथवा (३) कर्मसक्त— अर्थात्— प्राणी, विविध गति योग्य क्रियारूप कर्मो मे सक्त-आसक्त होते है । अर्थात्— जो जिस गति के योग्य क्रिया मे रत रहता है, उसे वही गति प्राप्त होती है । प्रस्तुत प्रसग मे मनुष्यगति योग्य क्रियारूप कर्म मे सक्त जीवो को मनुष्य गति प्राप्त होती है, यह बताया गया है ।

देवत्व को प्राप्त व्यक्तियों की योग्यता

मूल— जेसिं तु विउला सिक्खा, मूलियं ते अइच्छिया ।
सीलवतां सविसेसा, अदीणा[1] जंति देवयं ॥२१ ॥

संस्कृत-छाया— येषा तु विपुला शिक्षा, मूलक तेऽतिक्रान्ताः ।
शीलवन्त सविशेषाः, अदीना यान्ति देवत्वम् ॥२१ ॥

१. अद्दीणा— लुधियाना से प्रकाशित ।

पद्यानुवाद— जिन्हे प्राप्त हुई व्यापक शिक्षा, वे मूलवित्त से पार हुए।
शीलवान् सविशेष गुणी वे, तज दैन्य देवत्व को प्राप्त हुए ॥२१ ॥

अन्वयार्थ—तु— किन्तु, **जेसिं—** जिनकी, **सिक्खा—** शिक्षा (ग्रहण और शिक्षा), **विउला—** विस्तृत—व्यापक (सम्यक्त्वाचारपूर्वक अणुव्रत-महाव्रतादि विषयक) **ते—** वे, **सीलवंता—** शीलवान् (देश-सर्वविरति-चारित्रवान्), **सविसेसा—** गुणप्राप्तिरूप विशेषता से युक्त, (तथा) **अदीणा—** (परीषहोपसर्गादि होने पर) दीनता-व्यक्ति, **मूलियं—** मूलधन रूप मनुष्यत्व से, **अइच्छिया—** आगे बढकर, **देवयं जंति** देवत्व को प्राप्त करते है।

भावार्थ— किन्तु जिनकी ग्रहण-आसेवनारूप शिक्षा व्यापक है, जो शीलवान् (चारित्रवान्) है, एव उत्तरोत्तर विशिष्ट गुणो से युक्त है, वे अदीन होकर मूलधनरूप मनुष्यत्व से आगे बढकर देवत्व को प्राप्त करते है।

विवेचन—विपुला शिक्षा से तात्पर्य है— नि.शकित आदि सम्यक्त्वाचार, तथा अणुव्रत, महाव्रतादि की अभ्यास-विषयक व्यापक ग्रहण—आसेवनात्मक शिक्षा।

अदीणा : दो अर्थ— (१) अदीन अर्थात् परीषह-उपसर्गादि आने पर दीनता से रहित, अथवा (२) परलोक मे हमारा क्या होगा ? कौन-सी गति-योनि मिलेगी ? इत्यादि व्याकुलता से रहित।

प्रस्तुत लाभ को हाथ से न जाने देने का निर्देश

मूल— एवमदीणवं भिक्खुं, अगारिं च वियाणिया।
"कहण्णु जिच्चमेलिक्खं, जिच्चमाणे[1] न संविदे ?" ॥२२ ॥

संस्कृत-छाया— एवमदैन्य भिक्षुम्, अगारिण च विज्ञाय।
कथ नु जेतव्यमीदृशं, जीयमानो न संविद्यात् ॥२२ ॥

पद्यानुवाद— यो जान अदीन गृही मुनि को, विवेकी लाभ गँवाए क्यो ?
विषयो से विजित हुआ प्राणी, सवेदन मन न करेगा क्यो ? ॥२२ ॥

अन्वयार्थ— एवं— इस प्रकार, **अदीणवं—** दीनतारहित पुरुषार्थी, **भिक्खुं अगारिं च—** भिक्षु और गृहस्थ को, **वियाणिया—** पूर्वोक्त लाभ से युक्त जान कर, (कोई विवेकी पुरुष), **कहण्णु—** कैसे, **जिच्चमेलिक्खं—** ऐसे लाभ को हारेगा (गँवाएगा) ?(और), **जिच्चमाणे—** (विषय कषायो के वशवर्ती होकर इस लाभ को) हारता हुआ (कैसे), **न संविदे—** सवेदन (पश्चात्ताप) नही करेगा ?

---

१ जिच्चमाणो— लुधियाना से प्रकाशित।

भावार्थ— इस प्रकार दैन्यरहित पुरुषार्थी साधु और गृहस्थ को देवत्व प्राप्ति रूप लाभ से युक्त जान कर कोई बुद्धिमान् साधक ऐसे लाभ को क्यो हारेगा— गवाएगा ? तथा (उक्त लाभ को मानवीय विषयभोगासक्ति के कारण) हारता हुआ वह कैसे पश्चात्ताप नही करेगा ?

दिव्य और मानुष कामभोगों की समुद्र और कुशाग्रबिन्दु से तुलना

मूल— जहा कुसग्गे उदगं, समुद्देण समं मिणे।
एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अन्तिए ॥२३ ॥
कुसग्गमेत्ता इमे कामा, सन्निरुद्धम्मि आउए।
कस्स हेउं पुरा काउं, जोगक्खेमं न संविदे ॥२४ ॥

संस्कृत-छाया— यथा कुशाग्र उदक, समुद्रेण सम मिनुयात् ।
एव मानुष्यका कामा, देवकामानामन्तिके ॥२३ ॥
कुशाग्रमात्रा इमे कामा, सन्निरुद्धे आयुषि ।
कस्य हेतु पुरस्कृत्य, योगक्षेम न सविद्यात् ॥२४ ।

पद्यानुवाद— जैसे कुशाग्र के जलकण का, सागर से कोई माप करे ।
वैसे मानव का इन्द्रिय-सुख, सुरसुख के सम्मुख मूल्य धरे ॥२३ ॥
है कुशाग्रवत् तुच्छ सौख्य, सक्षिप्त आयु मे, मानव के ।
फिर कौन हेतु आगे करके, ना योग-क्षेम समझे निज के ॥२४ ॥

अन्वयार्थ—देवकामाण अंतिए— देवताओ के कामभोगो के सामने, **माणुसग्गा कामा—** मनुष्य सम्बन्धी कामभोग (विषय सुख) **एवं—** ऐसे ही क्षुद्र है, **जहा—** जैसे, **कुसग्गे उदगं—** कुश के अग्रभाग (नोक) पर स्थित जलकण की, (कोई) **समुद्देण समं—** समुद्र के साथ, **मिणे—** तुलना करे ॥२३ ॥

सन्निरुद्धम्मि आउए— मनुष्यभव की इस अति सक्षिप्त आयु मे, **इमे कामा—** ये कामभोग (विषय सुख), **कुसग्गमेत्ता—** कुश की नोक पर स्थित जल बिन्दु मात्र है, (यह निश्चित है, फिर भी अज्ञ मानव) **कस्स हेउं पुराकाउं—** किस कारण को आगे रखकर, **जोगक्खेमं—** अपने लाभकारी योग और क्षेम को, **न संविदे—** नही समझता ? ॥२४ ॥

विवेचन— दिव्य काम-भोगों का अन्तर समझाने के लिए समुद्र का दृष्टान्त— आशय यह है कि जैसे कोई अज्ञानी कुश की नोक पर स्थित जलबिन्दु को देखकर उसे समुद्रवत् मान ले, ऐसे ही कोई मूढ चक्रवर्ती आदि के मानवीय कामभोगो को देखकर उन्हे दिव्य कामभोगो के समान मान ले । वास्तव मे, कुशाग्र जलबिन्दु और समुद्र मे जैसे महान् अन्तर है, वैसे ही मनुष्यसम्बन्धी कामभोगो और दिव्यकामभोगो मे महान् अन्तर है ।

सन्निरुद्धम्मि : आशय— वर्तमान मनुष्यभव भी अत्यन्त अल्प आयु वाला है, फिर उसमे भी मनुष्य की आयु सोपक्रम होने से उसके कामभोग या विषयसुख तो कुशाग्रस्थित जलकणवत् बहुत ही अल्प है। जबकि दिव्य-कामभोग समुद्रजल के समान अत्यन्त विपुल मात्रा मे है।

जोगक्खेमं न संविदे ? : तात्पर्य— 'योग' का अर्थ यहाँ अप्राप्त विशिष्ट धर्म की प्राप्ति और 'क्षेम' का अर्थ है— प्राप्त धर्म का रक्षण-पालन। इस प्रश्नवाचक वाक्य का आशय है कि इतना सब कुछ जानते हुए भी क्या कारण है कि मनुष्य अप्राप्त धर्म की पाप्ति, और प्राप्त विशिष्ट धर्म की सुरक्षा के लिए प्रयत्न नही करता ? वास्तव मे अपने लाभकारी योग क्षेम को न समझने का कारण मानवीय तुच्छ विषयभोगो मे आसक्ति ही है।

मानवीय कामभोगों से अनिवृत्ति एवं निवृत्ति का परिणाम

मूल— इह कामाणियट्टस्स, अत्तट्ठे अवरज्झई।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं, जं भुज्जो परिभस्सई ॥२५॥
इह कामणियट्टस्स, अत्तट्ठे नावरज्झई।
पूइ देह-निरोहेणं, भवे देवित्ति[१] मे सुयं ॥२६॥

संस्कृत-छाया— इह कामाऽनिवृत्तस्य, आत्मार्थोऽपराध्यति।
श्रुत्वा नैयायिक मार्ग, यं भूय परिभ्रश्यति ॥२५॥
इह कामनिवृत्तस्य, आत्मार्थो नापराध्यति।
पूतिदेहनिरोधेन, भवेद् देव इति मया श्रुतम् ॥२६॥

पद्यानुवाद— जग मे जो कामनिवृत्त नही, उसका आत्मार्थ न हो पाता।
भवतारक पथ को सुनकर भी, जो बार-बार विचलित होता ॥२५॥
जो कामभोग से निवृत्त हुआ, उसका निज लाभ नही जाता।
मलिन औदारिक देह छोड वह, देव बने, श्रुत बतलाता ॥२६॥

अन्वयार्थ—इह— इस मनुष्य भव मे, **कामाणियट्टस्स—** कामभोगो से निवृत्त न होने वाले व्यक्ति का, **अत्तट्ठे—** आत्मार्थ, **अवरज्झई—** नष्ट हो जाता है, **जं—** क्योकि, **नेयाउयं—** न्याययुक्त सन्मार्ग को, **भुज्जो—** बार-बार, **सोच्चा—** सुनकर भी (गुरुकर्मा होने से), **परिभस्सई—** उससे परिभ्रष्ट हो (गिर) जाता है ॥२५॥

इह—किन्तु इस मनुष्यभव मे, **कामणियट्टस्स—** कामभोगो से निवृत्त होने वाले व्यक्ति का, **अत्तट्ठे—** आत्मार्थ, **न अवरज्झई—** नष्ट नही होता, **पूइदेहनिरोहेणं—** वह इस मलिन औदारिक शरीर को छोडने पर, **देवे भवे—** देव होता है, **त्ति मे सुयं—**ऐसा मैने सुना है ॥२६॥

१ देवेत्ति- लुधियाना से प्रकाशित

भावार्थ— इस मनुष्यभव मे जो कामभोगो से निवृत्त नही होता, उसका आत्मार्थ विनष्ट हो जाता है; क्योकि वह न्याययुक्त सन्मार्ग को जान-सुनकर भी बार-बार उससे भ्रष्ट हो जाता है ।

किन्तु जो मनुष्यभव मे कामभोगो से निवृत्त हो जाता है, उसका आत्मार्थ विनष्ट नही होता, तथा वह इस मलिन औदारिक शरीर को छोडने के बाद देव होता है, ऐसा मैने सुना है ।

विवेचन— नेयाउयं मग्गं : अर्थ— न्याययुक्त मार्ग, सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयात्मक मुक्तिपथ ।

बार-बार परिभ्रष्ट होने का कारण— मुक्ति पथ के साधक-बाधक कारणो के विषय मे सुनकर भी पुन· भ्रष्ट होने का कारण बृहद्वृत्ति मे बताया गया है कि जिनागम श्रवण करके तथा कामनिवृत्ति एव मोक्ष प्राप्ति की बात स्वीकार करके भी व्यक्ति मोहादि गुरुकर्मवश पतित हो जाता है— मिथ्यात्व युक्त हो जाता है । जो व्यक्ति सुनकर उसे स्वीकार नही करते, अथवा जो सुनते ही नही, वे तो काम से अनिवृत्त ही है । उनकी आत्मविराधना ही आत्मार्थ का अपराध है ।

पूइदेहनिरोहेणं : तात्पर्य— पूतिदेह-अर्थात्— मूलमूत्रादि से भरे गन्दे-घिनौने औदारिक शरीर का निरोध यानी अभाव या छुटकारा होने पर । औदारिक शरीर मल-मूत्र आदि के कारण सडता है, दुर्गन्धित है ।

देवलोक के पश्चात् पुनः उत्तम मनुष्यकुलों में

मूल— इड्ढी[1] जुई जसो वण्णो, आउं सुहमणुत्तरं ।
भुज्जो जत्थ मणुस्सेसु, तत्थ से उववज्जई ॥२७ ॥

संस्कृत-छाया— ऋद्धिर्द्युतिर्यशो वर्ण., आयु सुखमनुत्तरम् ।
भूयो यत्र मनुष्येषु, तत्र स उत्पद्यते ॥२७ ॥

पद्यानुवाद— ऋद्धि कान्ति यश उच्चवर्ण, आयुष्य सौख्य भी श्रेष्ठ जहॉ ।
वैसे कुलो मे च्युत हो स्वर्ग से, लेते फिर वे जन्म वहॉ ॥२७ ॥

अन्वयार्थ— (देवलोक से आकर) **से**— वह जीव, **भुज्जो**— पुन, **जत्थ**— जहॉ, **अणुत्तरं**— श्रेष्ठ, **इड्ढी**— ऋद्धि, **जुई**— द्युति (कान्ति), **जसो**— यश, **वण्णो**— उच्च वर्ण, **आउं**— शुभ आयु (और) **सुह**— सर्वोत्तम सुख होते हो, **तत्थ**— उन मनुष्यकुलो मे, **उववज्जई**— उत्पन्न होता है ।

---

१ ऋद्धि आदि शब्दो के विशेषार्थ— ऋद्धि—स्वर्ण आदि की प्रचुरता । द्युति—शरीर-कान्ति । यश—पराक्रम से होने वाली प्रसिद्धि । वर्ण- ब्राह्मणादि शुभ वर्ण, अथवा गाम्भीर्य आदि गुणो के कारण प्रशंसा, या शरीर का गौर वर्ण या गेहुँआ रंग आदि । आयु— जीवन, सुख— यथेष्ट विषयसुख प्राप्ति से होने वाला आह्लाद ।

भावार्थ — देवलोक से आकर वह जीव फिर उन मनुष्यकुलो मे उत्पन्न होता है, जहाँ उत्कृष्ट ऋद्धि, कान्ति, यश, उच्च वर्ण, शुभ आयु और सर्वोत्तम सुख हो ।

बाल और धीरपुरुष की गति

मूल— बालस्स पस्स बालत्तं, अहम्मं पडिवज्जिया ।
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे, नरए उववज्जई ॥२८ ॥
धीरस्स पस्स धीरत्तं, सव्वधम्माणुवत्तिणो ।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जई ॥२९ ॥

संस्कृत-छाया— बालस्य पश्य बालत्वम्, अधर्म प्रतिपद्य ।
त्यक्त्वा धर्ममधर्मिष्ठः, नरक उत्पद्यते ॥२८ ॥
धीरस्य पश्य धीरत्व, सर्वधर्मानुवर्तिनः ।
त्यक्त्वाऽधर्म धर्मिष्ठः, देवेषूत्पद्यते ॥२९ ॥

पद्यानुवाद— बालत्व देख अज्ञानी का, जो पापकर्म स्वीकार करे ।
तज धर्म अधर्मी रुचि वाला, नारको मे जा दु:ख सहन करे ॥२८ ॥
धीर पुरुष का धैर्य देख, क्षान्त्यादि धर्म-अनुसरण करे ।
तज पाप धर्म मे लीन बना, देवो मे सुख का भोग करे ॥२९ ॥

अन्वयार्थ—बालस्स— अज्ञानी जीव की, **बालत्तं—** अज्ञानता को, **पस्स—** देखो, (वह) **अहम्मं पडिवज्जिया—** अधर्म को स्वीकार कर (और) **धम्मं चिच्चा—** धर्म का त्याग करके, **अहम्मिट्ठे—** अधर्मिष्ठ होता है, (और) **नरए—** नरको मे, **उववज्जई—** उत्पन्न होता है ॥२८ ॥

सव्वधम्माणुवत्तिणो धीरस्स— सर्व धर्मो का अनुवर्तन (परिपालन) करने वाले धीर पुरुष का, **धीरत्तं—** धैर्य, **पस्स—** देखो, (वह) **अधम्मं**[1] **चिच्चा—** अधर्म का त्याग करके, **धम्मिट्ठे—** धर्मिष्ठ बनता है (और) **देवेसु उववज्जई—** देवो मे उत्पन्न होता है ॥२९ ॥

बाल भाव को छोड़ पण्डितभाव को अपनाने का उपदेश

मूल— तुलियाण बालभावं, अबालं चेव पण्डिए ।
चइऊण बालभावं, अबालं सेवए मुणी ॥३० ॥ ॥त्ति बेमि ॥

---

१. 'अधम्म' आदि शब्दो के विशेषार्थ— अधम्मं— धर्मविरोधी विषयासक्तिरूप अधर्म को । धम्मं- विषयनिवृत्तिरूप धर्म अर्थात्— सदाचार को । धीरस्स— धीर के दोअर्थ- (१) धी— बुद्धि से सुशोभित होने वाला, धीमान्, अथवा (२) धीर— परीषह आदि से अक्षोभ्य । धम्मिट्ठे— धर्मिष्ठ अतिशय धर्मवान् । सव्वधम्माणुवत्तिणो— सर्वधर्मों— क्षान्ति आदि दशविध धर्मो का अनुवर्ती— तदनुकूल आचारशील सर्वधर्मानवर्त्ती ।

संस्कृत-छाया— तोलयित्वा बालभावम्, अबाल चैव पण्डित ।

त्यक्त्वा बालभावम्, अबाल सेवते मुनि ॥३० ॥ **इति ब्रवीमि**

पद्यानुवाद— बाल-अबालभाव की तुलना, कर पण्डित निर्णय करता ।

बालभाव को तज करके, मुनि विज्ञभाव-सेवन करता ॥३० ॥

अन्वयार्थ—पण्डिए मुणी— पण्डित मुनि, **बालभावं—** बालभाव, **चेव—** और, **अबालं—** अबालभाव की, **तुलियाण—** तुलना करके, **बालभावं—** बालभाव को, **चइऊण—** छोडकर, **अबालं—** अबालभाव का, **सेवए—** आचरण करता है ।

त्ति बेमि - ऐसा मै कहता हूँ।

भावार्थ— बुद्धिमान् साधु, बालभाव (अज्ञता) और अबालभाव (धीरत्व) की तुलना (गुण-दोष की दृष्टि से सम्यक्परीक्षा या समीक्षा) करके बालभाव को छोडकर पण्डितभाव (धीरत्व) का सेवन (आचरण) करता है ।

विवेचन—तात्पर्य— प्रस्तुत गाथा मे बालभाव से तात्पर्य है— मानवीय विषयभोगो मे अत्यासक्ति और अबालभाव से तात्पर्य है— विषयभोगनिवृत्ति ।

॥उरभ्रीय : सप्तम अध्ययन समाप्त ॥

सातवें अध्ययन का परिशिष्ट (कथा भाग)

(१) एक काकिणी के लिए हजारों की हानि

(जहा कागिणीए हेउं.....अ० ७, गा० ११)

अल्प के लिए बहुत को खोने वाला मूर्ख पश्चात्ताप करता है। इस तथ्य को काकिणी का दृष्टान्त देकर समझाया गया है —

एक भिखारी ने बडी मुश्किल से एक हजार कार्षापण (सिक्के) इकट्ठे किए। एक बार वह उन्हे साथ लेकर अपने गॉव की ओर लौट रहा था। खाने-पीने की व्यवस्था के लिए कुछ काकिणी अपने पास रखी। एक दिन वह रात को गॉव मे कही ठहरा था, सुबह चलते समय वही एक काकिणी भूल गया और चल दिया। रास्ते मे जाते-जाते उसे काकिणी याद आई तो एक हजार कार्षापण वही भूमि मे गाढ कर वह काकिणी लाने के लिए वापस लौटा। परन्तु वह काकिणी उसे वहॉ नही मिली, निराश होकर लौटा।

इधर हजार कार्षापण भूमि मे गाढते किसी चोर ने देख लिया। वह पीछे से उन्हे निकाल कर ले गया। भिखारी वापस आया। हजार कार्षापण जहॉ छिपाए थे, वे भी उसे वहॉ नही मिले। वह सिर पीटकर पछताता रह गया।

इसी प्रकार जो व्यक्ति अल्पसुख के लिये दिव्यसुखो को छोड़ देते है, वे भी उस भिखारी की तरह अन्त मे दु.खी होते है। — उत्तराध्ययन अ ७, गाथा ११

(२) आम्रभोजी राजा का दृष्टान्त

(अपत्थं अम्बगं भोच्चा.....अ. ७, गा. ११)

एक राजा आम बहुत खाता था। उसे आम्र का अजीर्ण हो गया। चिकित्सको ने राजा की चिकित्सा की, वह स्वस्थ हो गया। किन्तु उन्होने राजा से कहा—"अब आम जिदगी मे कभी मत खाना। यदि खायेगे तो जीवन से हाथ धोना पडेगा।" अत उसने अपने राज्य के सारे आम के वृक्ष उखडवा दिये। एक दिना राजा वन मे सैर करने गया। वहॉ पके हुए आम देखकर उसका मन ललचाया। चिकित्सको के सुझाव को भूल गया। मन्त्री के मना करते-करते राजा आम खा गया। आम खाते ही तत्काल उसकी मृत्यु हो गई। क्षणिक जिह्वेन्द्रिय सुख भोग के लिए राजा ने अपना अमूल्य जीवन खो दिया।

इसी प्रकार जो साधक मनुष्य जीवन के ओस के जलकणवत् तुच्छ क्षणिक सुख के चक्कर मे पड जाता है, वह मनुष्यजीवन से प्राप्त हो सकने वाले सागरजल के समान विशाल दिव्यसुखो को गंवा देता है। — उत्तराध्ययन अ ७, गा ११

(३) मूल पूँजी

(जहा य तिन्नि वणिया.....अ.७, गा. १४)

एक वणिक् ने अपने तीन पुत्रो को एक-एक हजार कार्षापण (मुद्रा) देकर कहा— "तुम अपनी इस पूजी से व्यापार करो और अपनी योग्यता का परिचय देकर दिखाओ।"

एक पुत्र ने पूँजी लेकर आमोद-प्रमोद किया। सोचा, पैसा है तो भोग भी करना चाहिए, कुछ दिन मौज-शौक करके फिर व्यापार करूँगा। उसने प्रमाद मे पूँजी खो दी।

दूसरे पुत्र ने पूँजी को सुरक्षित रखने हेतु ब्याज मे लगा दी।

तीसरे पुत्र ने उस पूँजी से व्यापार किया और खूब लाभ कमाया।

तीनो पुत्र जब वापस पिता के पास पहुँचे तो पहला मूल धन गवा कर आया, दूसरा मूल सुरक्षित लेकर आया, तीसरा मूल पूँजी को कई गुनी करके लौटा।

मनुष्यभव मूल पूँजी है।

देव गति उसका लाभ है।

नरक-तिर्यञ्चगति मूल पूँजी की हानि है। —उत्तराध्ययन अ.७, गा १४



अष्टम अध्ययन : कापिलीय

(अध्ययन सार)

प्रस्तुत अध्ययन का नाम कापिलीय है । कपिल मुनि द्वारा निर्दिष्ट होने के कारण इस अध्ययन का नाम 'कापिलीय' पडा है ।

इस अध्ययन का मुख्य प्रतिपाद्य वह सत्य है, जिससे दुर्गति के कारणो का अन्त हो सके । लोभ और काम, ये दो ही वे बाधाएँ है, जिनसे कपिल के चरण दुर्गति की ओर बढ रहे थे, किन्तु इन दोनो ही सुगतिबाधक तत्त्वो का दुःखद एव कटु अनुभव होने से उनके चरण सहसा उस शाश्वत मार्ग की ओर बढ गए, जिससे दुर्गति का अन्त होता है ।

बात यह थी कि कपिल जब लोभ की पराकाष्ठा पर पहुँच गए, तभी उनके चिन्तन ने नया मोड खाया । उन्हे वस्तुस्वरूप ज्ञात हो गया । वे आत्मसन्तुष्ट, आत्मतृप्त एव आत्मरत होकर निर्ग्रन्थ मुनि बन गए । सयोगवश उन्हें एक बार चोरो ने घेर लिया । तब कपिल मुनि ने उन्हे अनुभूत सत्य का उपदेश दिया । उन्होने वह उपदेश ध्रुवपद मे गाकर दिया था । कपिल मुनि द्वारा गेयपदो मे गाकर जो उपदेश दिया था, वही इस अध्ययन मे वर्णित है । ऐसा कथा मे उल्लेख है ।

कपिल को यह अनुभूति हो गई थी कि व्यक्ति के मन मे पहले थोडा लोभ जागता है, वह उसकी पूर्ति के लिए प्रयत्नशील होता है । ज्यो-ज्यो लोभ की पूर्ति लाभ के रूप मे होती जाती है, त्यो-त्यो इच्छाओ एव कामनाओ के पख लगाकर लोभ अधिकाधिक ऊँची उडाने भरने लगता है । लोभ, केवल अर्थ का ही नही, सुखोपभोग के विविध साधनो का, सासारिक विषयभोगो का एव सरस-स्वादिष्ट आहार का, सुन्दर-सुन्दर वस्त्र, आभूषण, स्त्री, शय्या, आसन आदि का भी होता है और इच्छा की हर लहर के साथ वह अधिकाधिक तीव्र होता जाता है । इसका अन्त तभी होता है, जब व्यक्ति आत्मसन्तोष की लगाम खीचकर, स्वयतृप्त होकर निर्लोभता एव निष्कामता की साधना कर लेता है ।

कपिल की इस सत्यानुभूति के पीछे घटनाक्रम इस प्रकार है—

उस समय कौशाम्बी नगरी मे जितशत्रु राजा राज्य करता था । चौदह विद्याओ मे पारगत, राज्यमान्य एव नगर-जनो द्वारा आदरणीय काश्यप ब्राह्मण उसकी राजसभा का रत्न था । काश्यप से राजा बहुत ही प्रभावित था । अचानक काश्यप की मृत्यु हो गई । उस समय काश्यप का पुत्र कपिल बहुत ही छोटा था । इसलिए राजा ने काश्यप के स्थान पर दूसरे ब्राह्मण को नियुक्त कर दिया । वह ब्राह्मण जब घोडे पर चढकर, छत्र धारण किये, बडे ठाट-बाट से

राजसभा मे जाता, तब काश्यप की पत्नी यशा को अपने पति का स्मरण हो आता, वह विह्वल होकर ऑखो से गगा-जमुना बरसाने लगती थी। कपिल उस समय नासमझ बालक था, इसलिए मॉ की हृदय-वेदना को समझ नही पाता था। वह जब कुछ बडा हुआ तो माता से रोने का कारण पूछा। उसने अपनी अन्तर्व्यथा प्रकट की— "बेटा! एक समय था, जब तेरे पिता भी इसी ठाट-बाट के साथ राजसभा मे जाया करते थे। वे अनेक विद्याओ मे पारगत थे, इसलिए राजा और नागरिक सभी उनसे प्रभावित थे। उनके देहावसान के बाद राजा ने वह स्थान दूसरे ब्राह्मण को दे दिया है, क्योकि तू अभी छोटा है और विद्वान् नही है। इसी अन्तर्व्यथा के कारण मेरा हृदय भर आता है तथा ऑसू के रूप मे अपनी वेदना व्यक्त करता है।"

बालक कपिल मॉ की व्यथा को समझ गया। वह बोला— "मॉ, मै भी विद्याए पढकर विद्वान् बनूँगा।" उसकी मॉ ने कहा— "पुत्र! यहॉ के सभी ब्राह्मण ईर्ष्या से जलते है, वे तुझे विद्याएँ नही पढाएँगे। अगर तू विद्याध्ययन करना चाहता है तो श्रावस्ती मे तेरे पिता के मित्र इन्द्रदत्त उपाध्याय रहते है। उनके पास चला जा। वे तुझे विद्याध्ययन करायेगे।"

माता का आशीर्वाद लेकर कपिल श्रावस्ती पहुँचा। वहॉ पूछते-पूछते वह इन्द्रदत्त उपाध्याय के यहॉ जा पहुँचा। इन्द्रदत्त ने आगन्तुक से सारा परिचय पूछकर अत्यन्त स्नेहपूर्वक कहा— "वत्स! निश्चिन्त होकर पढो, मै तुम्हे पढाऊँगा।" इन्द्रदत्त ने उसके भोजन की व्यवस्था श्रेष्ठी शालिभद्र के यहॉ कर दी। श्रेष्ठी ने एक दासी नियुक्त कर दी, जो कपिल को भोजन कराती थी। दासी हॅसमुख स्वभाव की थी। दिन बीते। धीरे-धीरे दोनो का परिचय बढा और एक दिन वह प्रणय मे परिणत हो गया। दासी ने अपना हृदय कपिल को समर्पित कर दिया। परन्तु दोनो निर्धन थे, इसलिए इस प्रणय को विवाह रूप मे प्रकट नही कर सके।

एक बार श्रावस्ती मे कोई विशाल जन-महोत्सव होने वाला था। इस महोत्सव मे दासी को जाना था, परन्तु उसके पास महोत्सव मे जाने योग्य वस्त्र, आभूषण आदि कुछ भी नही था। अत वह उदास हो गई। दासी की उदासीनता का कारण जाना तो कपिल को अपनी पौरुषहीनता पर खेद हुआ। दासी ने उसकी खिन्नता दूर करने का एक उपाय सुझाया — "इस नगरी मे एक धनकुबेर सेठ[१] है, वह प्रात काल सर्वप्रथम बधाई देने वाले व्यक्ति को दो माशा सोना देता है। तुम भी उसे बधाई देकर दो माशा सोना ले आओ तो मै भली-भॉति महोत्सव मना सकूँगी।"

१. राजा का उल्लेख ।

कपिल की ऑखो मे खुशी की चमक आ गई । उसने दासी की बात मान ली सबसे पहले पहुॅचने के अभिप्राय से वह आधीरात को ही घर से चल पडा । नगर के ने कपिल को भागते हुए देखकर चोर के सन्देह मे पकड़ा और उसे राजा के समक्ष किया ।

राजा ने उससे रात्रि मे आवारा घूमने का कारण पूछा तो कपिल ने सरल-भाव से की त्यो अपनी आपबीती सुना दी । कपिल की स्पष्टता, सरलता एवं चेहरे पर शान्ति से बहुत प्रभावित एव प्रसन्न हो गया । उसने कपिल से मनोवांछित वस्तु मागने के कपिल विचार करने के लिए कुछ समय लेकर निकटवर्ती उद्यान मे चला गया । वहॉ बैठ ही उसने सोचा— 'दो माशा सोने से क्या होगा ? क्यो नही मै राजा से १०० मांग लूँ' । फिर सोचा— सौ मुहरो से क्या होगा ? उसकी चिन्तनधारा क्रमशः हजार, ल और करोड स्वर्णमुद्राओ तक पहुॅच गई । इस तरह काफी देर तक वह इसी उधेड-बुन मे ल रहा । वह कुछ भी निश्चय नही कर पा रहा था कि क्या और कितना मांगा जाए ? हर बार सोची हुई स्वर्णमुद्राओ की सख्या उसे कम ही लग रही थी । उसे विराम और सन्तोष नहीं मिल रहा था । अन्ततोगत्वा उसके चिन्तन ने सहसा नया मोड लिया— मै कितना पागल हूॅ ! सारे ससार का धन मिल जाए, तब भी क्या मन को सन्तुष्टि और शान्ति मिल सकती है ?

उसे पश्चात्ताप हुआ कि माता से आशीर्वाद लेकर मैं यहॉ विद्याध्ययन करने आया था, किन्तु उसके प्रति उपेक्षा करके मै लग गया विषयभोगो के गोरखधन्धे मे । मैने माता एवं गुरु से वंचना की, कुलाचार का लोप किया । धिक्कार है, मुझे ! धन आदि वस्तुओ से निरपेक्षता, सन्तोष, त्याग और निर्लोभता ही सच्ची शान्ति के उपाय है । कपिल के मन को अब समाधान मिल गया था । सन्तोष और वैराग्य से उसका मन भाव विभोर होकर अध्यात्म चिन्तन में डूब गया । चिन्तन करते-करते सहसा कपिल को जातिस्मरण ज्ञान हो गया । वह स्वयबुद्ध हो गया । उसने स्वयं अपने मस्तक का लुंचन किया और मुनिदीक्षा ग्रहण करके मुख पर सन्तोष, त्याग और संयम का तेज लिए राजा के पास पहुँचा । राजा ने पूछा — "विप्रवर ! क्या सोचा है आपने ? जल्दी कहिए ।" कपिल ने निःस्पृहभाव से कहा— "राजन् ! अब मुझे आपसे कुछ नही चाहिए । जो कुछ पाना था, वह मैने पा लिया ।" राजा ने बहुत आग्रह किया कि यह त्यागी का वेष छोड दो, मुझसे करोड़ मुद्राएँ ले लो और यथेष्ट सुखभोग करो । परन्तु कपिल मुनि ने उत्तर दिया कि निःस्पृह एव निर्ग्रन्थ मुनि को इस अनित्य-असार द्रव्य की कोई आवश्यकता नही है । साथ ही कपिल मुनि ने राजा को लोभ और अलोभ वृत्ति

के परिणाम समझाए और वहाँ से विहार कर गए।

कपिल मुनि की सयम साधना चलती रही। छह महीने की अवधि तक वे छद्मस्थ अवस्था मे रहे और फिर केवलज्ञान प्राप्त किया।

एक बार केवली कपिल मुनि श्रावस्ती और राजगृही के बीच एक १८ योजन के महारण्य मे विहार कर रहे थे। तभी बलभद्र प्रमुख इक्कड-दासीम ५०० चोरो ने उन्हे घेर लिया। उनके अनुरोध से कपिल मुनि ने उन्हे गाकर समझाया कि- सन्तोष संयम, त्याग और अहिंसादि व्रत ही दुर्गति से बचने के मार्ग हैं। चोरो पर प्रभाव पडा। वे भी विरक्त एवं प्रतिबुद्ध होकर मुनिधर्म मे दीक्षित हो गए।

टिप्पणी— कथा में चोरों के साथ कपिल के गाने आदि का भी वर्णन है, वह युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता।

—सम्पादक

अष्टम अध्ययन : कापिलीय
(अट्ठमं अज्झयणं : काविलीयं)

दुर्गतिनिवारणोपाय की जिज्ञासा

मूल— अधुवे असासयंमि, संसारंमि दुक्खपउराए।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाऽहं दोग्गइं [1] न गच्छेज्जा ॥१ ॥

संस्कृत-छाया— अध्रुवेऽशाश्वते, ससारे दुःखप्रचुरे ।
कि नाम तद् भवेत्कर्मक, येनाह दुर्गति न गच्छेयम् ॥१ ॥

पद्यानुवाद— यह नश्वर और अशाश्वत जग, जो प्रचुर दुःख का स्थानक है ।
मै करूँ यहाँ पर कौन कर्म, जो दुर्गति-दुःखनिवारक है ॥१ ॥

अन्वयार्थ— अधुवे— अध्रुव, **असासयंमि—** अशाश्वत, **दुक्खपउराए—** (और) दुःखप्रचुर, **संसारे—** संसार मे, **किं नाम—** कौन-सा, **तं कम्मयं—** वह कर्म, **होज्ज—** है, **जेण—** जिससे, **अहं—** मै, **दोग्गइं—** दुर्गति मे, **न—** न, **गच्छेज्जा—** जाऊँ ?

विवेचन— जिज्ञासा का स्रोत— प्रस्तुत गाथा मे निरूपित जिज्ञासा का उद्‌भव भगवान् कपिल केवली द्वारा हुआ है । यद्यपि भगवान् कपिल केवली सशयातीत और दुर्गति से दूर थे, तथापि उन्होने बलभद्र आदि समस्त चोरों को प्रतिबोध देने हेतु स्वयं जिज्ञासा प्रस्तुत की और इसका समाधान भी स्वय किया । इस अध्ययन की गाथाएँ ध्रुवपद मे उन्होने गाई थी, जिनसे समस्त चोर क्रमशः प्रतिबुद्ध हो गए थे । कपिल केवली की संक्षिप्त कथा अध्ययन सार मे दी गई है ।

संसार का स्वरूप— प्रस्तुत गाथा मे प्रयुक्त ससार का अर्थ है— जिसमे कर्मवशवर्ती होकर जीव नाना गतियो और योनियो मे संसरण— भ्रमण करते है । ससाररूपी रगमच पर समस्त प्राणी कर्मनैपथ्य द्वारा अपना-अपना नाट्य करके चले जाते है । इसलिए यह स्थिर नही । यहाँ राज्य, ऐश्वर्य, धन, स्वर्ण, परिजन, सुख आदि सब चल है । कोई भी पदार्थ स्थिर या नित्य नही है । इसके अतिरिक्त यह ससार शारीरिक, मानसिक आदि प्रचुर दुःखो से भरा है ।

संसार में दोष-प्रदोषों से मुक्त रहने का उपाय

मूल— विजहित्तु पुव्वसंजोगं [१], न सिणेहं कहिंचि कुव्वेज्जा।
असिणेह सिणेहकरेहिं, दोस-पओसेहिं [२] मुच्चए भिक्खू ॥२ ॥

संस्कृत-छाया— विहाय पूर्वसंयोग, न स्नेह क्वचित् कुर्वीत ।
अस्नेह स्नेहकरेषु, दोषप्रदोषेभ्यो मुच्यते भिक्षु· ॥२ ॥

पद्यानुवाद— छोड पूर्वसम्बन्ध साधुजन, स्नेह किसी से करे नही ।
स्नेहियो पर स्नेह रहित हो, दोष द्वेष से हो मुक्त यही ॥२ ॥

अन्वयार्थ— पुव्वसंजोगं— पूर्वसयोग (माता-पिता आदि, धन आदि पूर्वपरिचितो के साथ आसक्तिजनक सम्बन्ध)का, **विजहित्तु—** परित्यागकरके, (फिर) **कहिंचि—** (बाह्य-आभ्यन्तर) किसी भी पदार्थ (परिग्रह) मे, **सिणेहं—** स्नेह, **न कुव्विज्जा—** न करे, (तथा) **सिणेहकरेहिं—** स्नेह करने वालो (स्त्री-पुत्रादि) के प्रति भी, **असिणेह—** स्नेहरहित, **भिक्खू—** साधु, **दोस-पओसेहिं—** दोषो और प्रद्वेषो से, **मुच्चइ—** मुक्त हो जाता है ।

विवेचन— दोष-प्रदोषों से मुक्ति का उपाय : स्नेहरहितता— साधु जब तक मुक्त नही होता, तब तक उसे इस ससार मे रहना पडता है। ससार मे चारो ओर अनेक सजीव-निर्जीव पदार्थो से उसका सयोग होता है, दीक्षा-ग्रहण करने से पूर्व माता-पिता, ज्ञाति आदि तथा धन-धान्यादि या असयम अब्रह्मचर्य आरम्भ आदि के साथ उसका स्नेह सम्बन्ध था, पूर्वाभ्यासवश वे स्नेहशील लोग या वे पदार्थ पुन स्नेह करने आते है, किन्तु दोषो अर्थात् इहलौकिक, शारीरिक, मानसिक सतापो, या अपराधो तथा पारलौकिक दुर्गति गमनादि प्रदोषो से मुक्त रहने के इच्छुक साधु को समस्त पूर्वस्नेहसम्बन्धो तथा उत्तरस्नेह-सम्बन्धो का परित्याग करना अनिवार्य है । अन्यथा आसक्तिजनक सम्बन्धो से रागद्वेष-मोह आदि दोष पैदा होगे, जिनसे नाना अशुभ कर्मबन्ध होकर इहलोक-परलोक मे वह सतप्त होगा ।

दोषपदों से मुक्त होने का आशय— स्नेहमुक्त निर्लिप्त साधु दोष पदो अर्थात्— अपराध-स्थानो से मुक्त हो जाता है, इसका अर्थ है, ऐसा साधु निरतिचार चारित्री हो जाता है । जो साधक स्नेह से मुक्त नही होता, उसे पद-पद पर ससार के सजीव-निर्जीव पदार्थो के प्रति आसक्ति होगी, जिससे चारित्र मे मलिनता आती रहेगी ।

१. जोयं— लुधियाना से प्रकाशित ।
२. पओसेहि— लुधियाना से प्रकाशित ।

कपिल केवली द्वारा दिये गये उपदेश का प्रयोजन

मूल— तो नाणदंसणसमग्गो, हिय निस्सेसाए सव्वजीवाणां।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए, भासई [1] मुणिवरो विगयमोहो ॥३॥

संस्कृत-छाया— ततो ज्ञानदर्शनसमग्रः, हितनिःश्रेयसाय सर्वजीवानाम्।
तेषां विमोक्षणार्थ, भाषते मुनिवरो विगतमोहः ॥३॥

पद्यानुवाद— फिर पूर्णज्ञान-दर्शन से युत, सब जीवो के श्रेयस्कामी।
उनके विमोक्षार्थ मुनि वीतमोह ने, धर्म कहा आत्मारामी ॥३॥

अन्वयार्थ— तो— तत्पश्चात्, **नाणदंसणसमग्गो—** केवलज्ञान और केवलदर्शन से परिपूर्ण, **विगयमोहो—** मोहनीय कर्म से सर्वथा रहित, **मुणिवरो—** कपिल केवली नामक मुनिवर ने, **सव्वजीवाणं—** समस्त जीवो के, **हिय निस्सेसाए—** हित और निःश्रेयस (मोक्ष) के लिए (विशेषत.) **तेसिं—** उन पाँच-सौ चोरो के, **विमोक्खणट्ठाए—** विमोक्षण (अष्टविधकर्मो से पृथक्करण के लिए), **भासई—** (निम्नोक्त प्रकार से) कहा (उपदेश दिया)।

भावार्थ— तत्पश्चात् केवलज्ञान-केवलदर्शन से परिपूर्ण, मोहनीयकर्म से रहित कपिल मुनिवर ने सर्व-जीवो के हित एव मोक्ष के लिए, विशेषतः उन (पाँच-सौ चोरो) के विमोक्षण (कर्मो से सर्वथा विमुक्त करने) के लिए निम्नोक्त उपदेश दिया।

विवेचन— विगतमोह मुनिवर का उपदेश—जो केवलज्ञानी, केवलीदर्शी वीतराग मुनिवर होते है, उनका उपदेश संसार के राग-द्वेष, काम, मोह, कषाय एवं विषय-वासनाओ मे फँसाने के लिए नही होता, अपितु इन सबसे तथा इनसे बँधने वाले कर्मो से जीवो को मुक्त करने के लिए, एकान्तहितकर तथा श्रेयस्कर होता है। प्रस्तुत गाथा मे कपिल केवली द्वारा दिये गए उपदेश का प्रयोजन भी यही बताया गया है।

निर्लिप्तता का उपदेश

मूल— सव्वं गंथं कलहं च, विप्पजहे तहाविहं भिक्खू।
सव्वेसु कामजाएसु, पासमाणो न लिप्पई ताई ॥४॥

संस्कृत-छाया— सर्व ग्रन्थं कलह च, विप्रजह्यात् तथाविधं भिक्षुः।
सर्वेषु कामजातेषु, प्रेक्ष्यमाणो न लिप्यते त्रायी ॥४॥

पद्यानुवाद— बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थ सब, तजे तथाविध कलहो को।
सर्व कामगुण दोषयुक्त लख, त्राता मुनि दूर रखे मन को ॥४॥

---

१. भासइ— लुधियाना से प्रकाशित।

अन्वयार्थ—भिक्खू— साधक, **तहाविहं**— तथाविध—कर्मबन्ध के हेतुभूत, **सव्वं गंथं**— बाह्य और आभ्यन्तर सभी प्रकार के ग्रन्थ(परिग्रह) का, **च**— और, **कलहं**[1]— कलह (कलह के कारणो) का, **विप्पजहे**— परित्याग करे। (तथा) **सव्वेसु कामजाएसु**— (मनोज्ञ शब्दादि) कामभोगो के सब प्रकारो मे, **पासमाणो**—(उनके कटुपरिणाम वाले दोषो को) देखता हुआ, **ताई**[2]— आत्मत्राता मुनि, **न लिप्पई**— लिप्त नही होता।

विवेचन— सव्वं गंथं : व्याख्या— बाह्य और आभ्यन्तर सभी ग्रन्थ। धन आदि बाह्य ग्रन्थ है और मिथ्यात्व आदि आभ्यन्तर ग्रन्थ है।

कामदोषज्ञ कर्मलिप्त नहीं होता— कामभोगो के सेवन के कटुपरिणाम रूप दोषो को जो भलीभॉति जान जाता है, वह उनमे प्राय प्रवृत्त नही होता। आसक्त होने की बात तो दूर रही, वह उन सबसे बिलकुल निर्लेप रहताहै, मनोज्ञ कामभोगो का चिन्तन भी रागयुक्त होकर नही करता।

ग्रन्थ-त्याग न करने वाले की दुर्दशा

मूल— भोगामिस-दोसविसन्ने, हिय-निस्सेयस-बुद्धि-वोच्चत्थे।
बाले य मंदिए मूढे, बज्झई मच्छिया व खेलंमि ॥५ ॥

संस्कृत-छाया— भोगामिषदोषविषण्ण, हितनि श्रेयसबुद्धिविपर्यस्त.।
बालश्च मन्दो मूढ., बध्यते मक्षिकेव श्लेष्मणि ॥५ ॥

पद्यानुवाद— भोगरूप आमिषरत प्राणी, हितपथ से उलटी बुद्धि धरे।
मूढ मन्दमति अज्ञानी, मक्खी-सम कफ मे उलझ पडे ॥५ ॥

अन्वयार्थ—भोगामिसदोसविसन्ने[3]— (अत्यन्त गृद्धि के हेतुभूत) आमिषरूप भोगो के दोषो मे निमग्न, (तथा) **हिय-निस्सेयसबुद्धि-वोच्चत्थे**— हित और नि श्रेयस मे विपरीत बुद्धि वाला, **बाले**— अज्ञानी, **मंदिए**—मन्दमति और **मूढे**— मूढ जीव, (कर्मो से) वैसे ही, **बज्झई**— बध जाता है, **खेलंमि मच्छिया व**— जैसे श्लेष्म कफ मे मक्खी।

---

१. कलह · आशय— कलह का अर्थ यहॉ केवल कलह न होकर कलह के सभी हेतु है। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कलह के कारण है। यद्यपि कलह आभ्यन्तर ग्रन्थ में आ ही जाता है, तथापि यहॉ इसका पृथक् ग्रहण कलह को अनेक दोषों से युक्त बताने के लिए है।

२. तायी : त्रायी · दो अर्थ— (१) जो दुर्गति से आत्मा को बचाता है, रक्षा करता है, अथवा (२) जो एकेन्द्रियादि षट्काय की रक्षा करता है, वह।

३. भोगामिसदोसविसन्ने : दो रूप : दो अर्थ— एक अर्थ तो अन्वयार्थ में दिया जा चुका है। (२) 'विसन्नो' का 'विषण्ण' रूप होता है, तब अर्थ होता है, आमिष रूप दोषों से विषण्ण— विषाद को प्राप्त। भोगों में आसक्त व्यक्ति को रोग, शोक, भय, चिन्ता आदि विभिन्न मानसिक-शारीरिक क्लेश होते हैं।

विवेचन— भोग आमिषतुल्य क्यो ? आमिष का अर्थ सामान्यतया मांस होता है, किन्तु यहाँ लुभावना अर्थ ही प्रसंगोचित है। मनोज्ञ शब्दादि विषयभोग लुभावना होते ही है, वे अत्यन्त आसक्तिजनक होते है।

भोगासक्त पुरुष अधिक सन्तान होने पर उनके लालन-पालन, रक्षण, संवर्धन, शिक्षण, विवाह आदि की अनेक चिन्ताओ से घिर जाता है। अतएव वह खिन्न रहता है, तथा अपने हित और श्रेय के विषय मे विपरीत दृष्टि से सोचता है, ज्यो-ज्यो कामभोगो का सेवन करता है, त्यो-त्यो लालसा अधिक बढ़ती जाती है, फिर तो वह कफ मे फॅसी हुई मक्खी की तरह भोगो के चंगुल मे बुरी तरह फॅस जाता है।

दुस्त्यज कामभोगों का सुव्रती साधु द्वारा त्याग सुकर

मूल— **दुपरिच्चया**[१] **इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं।**
अह संति सुव्वया साहू, जो तरंति अतरं वणिया व ॥६॥

संस्कृत-छाया— दुष्परित्यजा इमे कामाः, नो सुत्यजा अधीरपुरुषैः।
अथ सन्ति सुव्रताः साधवः, ये तरन्त्यतर वणिज इव ॥६॥

पद्यानुवाद— दुस्त्यज है ये काम-भोग जो, न सहज त्याज्य कायरजन से।
पोतवणिक्सम साधु सुव्रत जो, तरते दुस्तर भवसागर से ॥६॥

अन्वयार्थ— **इमे**— ये, **कामा**— काम-भोग, **दुपरिच्चया**— दुस्यज है, **अधीर-पुरिसेहिं**— अधीर पुरुषो के द्वारा, (ये) **नो सुजहा**— आसानी से नही त्यागे जाते। **अह**— किन्तु, **जे**— जो, **सुव्वया**[२]— सुव्रती साधु, **संति**— होते है, (वे) **अतरं**— दुस्तर कामभोगो को, **तरंति वणिआ व**— उसी तरह तैर जाते है, जैसे पोतवणिक् दुस्तर सागर को।

भावार्थ— इन काम-भोगो का त्याग दुष्कर है, अधीर पुरुषो से इनका त्याग होना आसान नही है, किन्तु जो निष्कलंक व्रतधारी साधु है, वे इन दुस्तर कामभोगों को उसी तरह पार कर जाते है, जैसे पोतवणिक् दुस्तर सागर को।

---

१ दुप्परिच्चया— लुधियाना से प्रकाशित।

२. सति सुव्वया - दो रूप दो अर्थ—(१) सन्ति सुव्रताः— जिनमें सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान से युक्त सर्वथा हिसाविरमण आदि महाव्रत हैं, (२) शान्तिसुव्रता—जिनके जीवन में शान्ति से उपलक्षित सुव्रतहैं, वे शान्तिसुव्रत है। सुव्रती साधुओं के लिए दुस्तर कामभोगों का तरना इसलिए शक्य है कि इन्द्रियविषय कायरपुरुषों को ही वशवर्ती बनाते है, सत्पुरुषों को नहीं, जैसे—मकडी का जाला मच्छर को ही बॉध सकता है, हाथी को नही।

विवेचन— अधीरपुरिसेहिं नो सुजहा: व्याख्या— असत्त्वशील या अबुद्धिमान् पुरुषो के द्वारा कामभोगो का परित्याग आसान नही है, यहाँ पुरुष शब्द का ग्रहण इसलिए किया गया है कि अति दारुण स्त्री-नपुसकवेदोदय से आकुलित स्त्री-नपुसको द्वारा कामभोगो का त्याग तो दूर रहा, अल्पवेदोदय वाले होने से पुरुषो द्वारा सरलता से इनका त्याग सम्भव है, फिर भी वे (अधीर पुरुष) इन कामभोगो को आसानी से छोड नही सकते । इस पक्ति से यह फलित होता है कि धीर पुरुष इनका आसानी से त्याग कर सकते है । दूसरे अर्थ के अनुसार 'पुरुष' शब्द यहाँ व्यक्ति मात्र का वाचक है ।

मूल— समणा मु एगे वयमाणा, पाणवहं मिया अयाणंता ।
मंदा निरयं [१] गच्छंति, बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं ॥७ ॥

संस्कृत-छाया— श्रमणा स्म· (वयम्) एके वदन्त·, प्राणवध मृगा अजानन्ता· ।
मन्दा नरक गच्छन्ति बाला·, पापिकाभिर्दृष्टिभि ॥७ ॥

पद्यानुवाद— अज्ञान भाव से हिंसा कर, अपने को श्रमण बताते है ।
पापदृष्टि से बालजीव, मतिमन्द नरक मे जाते है ॥७ ॥

अन्वयार्थ— मु— हम, **समणा—** श्रमण है, यो, **एगे वयमाणा—** कहते हुए कुछ लोग, **मिया—** मृग (पशु) की भाति विवेकरहित, **मंदा—** मद (मिथ्यात्व महारोग के कारण मंदमति) (एव) **बाला—** अज्ञानी जीव, **पाणवहं—** प्राणिवध— हिसा को, **अयाणंता—** नही जानते । (वे) **पावियाहिं दिट्ठीहिं—** (अपनी) पापदृष्टियो के कारण, **निरयं—** नरक मे, **गच्छंति—** जाते है ।

भावार्थ— 'हम श्रमण है', यो कहते हुए कुछ लोग पशु के सदृश विवेकरहित, मन्द एव अज्ञानी है, वे प्राणिवध को नही समझते, और अपनी पापदृष्टियो के कारण नरक मे जाते है ।

विवेचन— पापदृष्टियों का प्रमाण— कुछ अन्यतैर्थिक श्रमण अपने आपको कहते तो है, मुक्ति के लिए श्रम— पुरुषार्थ करने वाले, किन्तु वे अपनी पाप-दृष्टियो के कारण प्राणिवध को हिंसा नही समझते, बल्कि अपने तथाकथित शास्त्रो से हिसा को अपने स्वार्थवश धर्म सिद्ध करने का दुष्प्रयास करते है ।

मूल— न हु पाणवहं अणुजाणे, मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाणं ।
एवारिएहिं [२] अक्खायं, जेहि इमो साहुधम्मो पन्नत्ता ॥८ ॥

१ नरय— लुधियाना से प्रकाशित ।
२.एव आयरिएहि— लुधियाना से प्रकाशित ।

संस्कृत-छाया— न खलु प्राणवधमनुजानन्, मुच्येत कदाचित्सर्वदु:खैः ।
एवमाचार्यैराख्यात, यैरेष साधुधर्मः प्रज्ञप्तः ॥८ ॥

पद्यानुवाद— हिसादि पाप के अनुमोदक, सब दुःखो से मुक्ति न पाते है ।
साधु-धर्म का कथन किया, वे आर्य ऐसा बतलाते है ॥८ ॥

अन्वयार्थ—पाणवहं— प्राणिवध (उपलक्षण से मृषावाद आदि) का अनुमोदक, **सव्वदुक्खाणं**— समस्त दुःखो से, **कयाइ**— कदापि, **न हु मुच्चेज्ज**— मुक्त नही हो सकता । **एवं**— इस प्रकार, **आरिएहिं**— आर्यो—तीर्थङ्करो ने, **अक्खायं**— कहा है, **जेहिं**— जिन्होने, **इमो**— इस, **साहुधम्मो**— साधुधर्म की, **पन्नत्ता**— प्ररूपणा की है ।

भावार्थ— जिन्होने साधुधर्म की प्ररूपणा की है, उन आर्यपुरुषो तीर्थङ्करो ने कहा है— जो प्राणिवध का अनुमोदन करता है, वह समस्त दुःखो से कदापि मुक्त नही हो सकता है ।

विवेचन— सव्वदुक्खाणं : आशय— प्रस्तुत मे दुःख शब्द का अर्थ कर्म है, क्योकि कर्म ही प्राणी को विविध गतियो और योनियो मे भटकाकर दु:खित करता है । अथवा नरकादि गति मे होने वाले शारीरिक, मानसिक सभी क्लेशो (दुःखो) से ।

आरिएहिं : अर्थ— जो समस्त हेयधर्मो से दूर है, वे तीर्थङ्कर या आचार्य यहॉ प्रसंगवश 'आर्य' है ।

हिंसादि से दूर : पापकर्मो से दूर

मूल— पाणे य नाइवाएज्जा, से 'समिए' [१] **त्ति वुच्चई ताई ।**
तओ से पावयं कम्मं, निज्जाइ उदगं व थलाओ ॥९ ॥

संस्कृत-छाया— प्राणान् यो नातिपातयेत्, स समित इत्युच्यते त्रायी ।
ततोऽथ पापकं कर्म, निर्यातीत्युदकमिव स्थलात् ॥९ ॥

पद्यानुवाद— अतिपात न करता प्राणो का, वह त्राता 'समित' कहलाता है ।
उस त्रायी का सब पापकर्म, थल से जल-सम बह जाता है ॥९ ॥

अन्वयार्थ—(जो) **पाणे**— प्राणियो के प्राणो का, **नाइवाएज्जा**— अतिपात (विराधना) नही करता, **से**— वह (मुनि), **ताई**— षट्काय का या आत्मा का पापो से त्राता-रक्षक, **य**— और **'समिए' त्ति वुच्चइ**—समित (सम्यक् प्रवृत्ति करने वाला) कहा जाता है । **से**— फिर, **तओ**— उस समितिवान् व्यक्ति से, **पावयं कम्मं**— पापकर्म (ज्ञानावरणीयादि अशुभ कर्म) (उसी तरह), **निज्जाइ**— चले जाते है, **उदगं व थलाओ**— जैसे स्थल—ऊँचे स्थान से जल बहकर चला जाता है ।

१. समीए— लुधियाना से प्रकाशित ।

भावार्थ— जो साधक प्राणियो के प्राणो का अतिपात (हिसा) नही करता, वह त्राता और समितिवान् कहलाता है। उससे पापकर्म वैसे ही दूर चले जाते है, जैसे कि ऊँचे स्थान से जल बहकर चला जाता है।

प्राणातिपात से निवृत्ति का कारण और विधि

मूल— **जगनिस्सिएहिं भूएहिं, तसनामेहिं थावरेहिं च।**
नो तेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव ॥१० ॥

संस्कृत-छाया— जगन्निश्रितेषु भूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च।
न तेषु दण्डमारभेत, मनसा वचसा कायेन चैव ॥१० ॥

पद्यानुवाद— जितने त्रस-स्थावर जीव जगत् के आश्रय मे रहने वाले।
मन-वचन-काय से कभी नही, उनको वध-बन्धन मे डाले ॥१० ॥

अन्वयार्थ— जगनिस्सिएहिं भूएहिं— जगत् (लोक) के आश्रित जितने भी प्राणी, **तसनामेहिं थावरेहिं च—** त्रस और स्थावर नाम से प्रसिद्ध है, **तेसिं—** उनका, **मणसा वयसा कायसा चेव—** मन, वचन और काय से, **दंडं नो आरभे—** दण्ड-समारम्भ न करे (अर्थात्— हिंसारूप दण्ड का आरम्भ न करे।)

विवेचन— अर्थान्तर— प्रस्तुत गाथा का दूसरा अर्थ भी बृहद्वृत्ति मे है— जगत् के आश्रित त्रस और स्थावरजीवो के द्वारा मारे-पीटे या सताये जाने पर भी साधु उनके प्रति दण्ड प्रयोग न करे।

कथा— इस सम्बन्ध मे चोरो के द्वारा अपहृत करके सूपकारो को बेचे गए उज्जयिनी के श्रावकपुत्र की कथा द्रष्टव्य है, जिसे कबूतरो को मारने के लिए बाध्य करने पर तथा मारे-पीटे जाने पर भी उसने कबूतरो को नही मारा।

एषणा समिति के पालन का निर्देश

मूल— **सुद्धेसणाओ [1] नच्चाणं, तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं।**
जायाए घासमेसेज्जा, रसगिद्धे न सिया भिक्खाए ॥११ ॥
पंताणि चेव सेवेज्जा, सीयपिंडं पुराणकुम्मासं।
अदु वुक्कसं [2] पुलागं वा, जवणट्ठाए निसेवएमंथुं ॥१२ ॥

१. सुद्धेसणाओ— शुद्धैषणाएँ · दो आशय— १. एषणाएँ मुख्यतया तीन प्रकार की है— (१) गवेषणा, (२) ग्रहणैषणा, और (३) ग्रासैषणा अथवा परिभोगैषणा २. अथवा उद्गम, उत्पादन आदि एषणाएँ, अथवा ३ सात प्रकार की एषणाएँ यथा— (१) संसृष्टा, (२) असंसृष्टा, (३) उद्धृता, (४) अल्पलेपा, (५) अवगृहीता, (६) प्रगृहीता और (७) उज्झित धर्मिका। एषणाएँ शुद्ध— दोषरहित तभी होती है, जब भिक्षु तदनुसार सावधानी रखे। संसृष्टा आदि सात मे से ५ शुद्धैषणाए जिनकल्प की अपेक्षा से हैं, ऐसा बृहद्वृत्तिकार का अभिमत है।

२ बुक्कसं- लुधियाना से प्रकाशित।

संस्कृत-छाया— शुद्धैषणा ज्ञात्वा, तत्र स्थापयेद् भिक्षुरात्मानम्।
यात्रायां ग्रासमेषयेत्, रसगृद्धो न स्याद् भिक्षादः ॥११ ॥
प्रान्तानि चैव सेवेत, शीतपिण्ड पुराणकुल्माषान्।
अथ बुक्कसं पुलाकं वा, यापनार्थ निषेवेत मन्थुम् ॥१२ ॥

पद्यानुवाद— शुद्ध एषणाएँ समझ मुनि, मन उनमे सुस्थिर कर डाले।
संयम यात्राहित भोजन ले, रस-लोलुपता को नित टाले ॥११ ॥
नीरस शीतपिण्ड सेवे मुनि रूक्ष पुराने उडद असार।
जीवन यापनहित बेरचूर्ण भी ले, करे सदा ही शुद्धाहार ॥१२ ॥

अन्वयार्थ—**सुद्धेसणाओ**— शुद्ध एषणाओ को, **नच्चाणं**— जानकर, **भिक्खू**— भिक्षु, **तत्थ**— उनमे, **अप्पाणं ठवेज्जा**— अपने आपको स्थापित करे, **भिक्खाए**— भिक्षाजीवी मुनि, **जायाए**— (संयम) यात्रा के लिए, **घासमेसेज्जा**— आहार की एषणा करे, (किन्तु) **रसगिद्धे**— रसो मे आसक्त, **न सिया**— न हो ॥११ ॥

(साधु) **जवणट्ठाए**— जीवनयापन के लिए, **पंताणि**— प्रान्त (बचा-खुचा नीरस) आहार, **सीयपिंडं**— शीत पिण्ड, **चेव**— और, **पुराणकुम्मासं**— पुराने राजमाष उड़द, **सेवेज्ज**— सेवन कर ले, **अदु**— अथवा, **वुक्कसं**— बुक्कस (सारहीन), **पुलागं वा**— अथवा पुलाक (रूक्ष भोजन) (और) **मंथुं**— बेर या सत्तू का चूर्ण (आटा), **निसेवए**— सेवन करे ॥१२ ॥

भावार्थ— भिक्षु शुद्ध एषणाओ को जानकर उनमे अपने आपको स्थापित करे, (अर्थात्— उनके आचरण मे तन्मय हो जाए), भिक्षाजीवी साधु केवल सयमनिर्वाह के लिए आहार की गवेषणा (ग्रासैषणा) करे, किन्तु वह रसलोलुप न बने ॥११ ॥

(साधु यथावसर) जीवनयापन के लिए (बचा-खुचा या नीरस) आहार, शीतपिंड, तथा पुराने उड़द का सेवन कर ले, अथवा सारहीन, रूक्ष, भोजन या बेर अथवा सत्तू का चूर्ण (आटा) भी सेवन कर ले ॥१२ ॥

जायाए घासमेसेज्जा : तात्पर्य— यात्रा अर्थात्— संयमनिर्वाह के लिए ग्रास = आहार की एषणा (गवेषणा) करे। इस सम्बन्ध मे बृहद्वृत्ति मे बताया गया है कि जैसे— गाड़ी के चक्के की धुरी पर भारवहन के लिए कीट का लेप लगाया जाता है, वैसे ही गुणरूपी भार को वहन करने की दृष्टि से ब्रह्मचारी साधु का आहार होना चाहिए। आहार का उद्देश्य शरीर को धर्म-साधना का संवाहक मानकर उसे मात्र टिकाये रखना है।

ग्रासैषणा में सावधानी— साधु रसलोलुप होकर आहार न करे। आशय यह है कि साधु मनोज्ञ खाद्यपदार्थ पर राग और अमनोज्ञ पर द्वेष न करे। निर्जरानुप्रेक्षी साधु रागद्वेषरहित

होकर भोजन करे। अवसर आने पर यदि भिक्षा मे प्रान्त, शीतपिण्ड, पुराने उडद, निस्सार, रूक्ष अथवा बेर या सत्तू का आटा मिले तो नाक-भौ न सिकोड़े, किन्तु सयमी-जीवनयापन के लिए समभाव से उनका उपभोग करे।

शीतपिण्ड का तात्पर्यार्थ— प्रस्तुत गाथा मे 'शीतपिण्ड' शब्द है जिसका अर्थ होता है- ठडा, शीतल भोजन। जैसे—सुबह का बना हुआ भोजन दोपहर या शाम तक ठडा हो जाता है, वह शीतपिण्ड है। शीतपिण्ड का अर्थ बासी भोजन नही है, उसके लिए संस्कृत मे 'पर्युषित' शब्द का प्रयोग होता है। वैसा बासी भोजन भी रसचलित न हुआ हो, उसमे लीलण-फूलण न आई हो, जाले न जमे हो, बदबू न आने लगी हो तो ऐसे ठडे भोजन को भी लेने का निषेध शास्त्र मे नही है। आचाराग मे महावीर- चर्या के प्रसग मे महावीर द्वारा शीतपिण्ड लेने का उल्लेख है।

लक्षण, स्वप्न और अंगविद्या के प्रयोग का निषेध

मूल— **जे लक्खणं च सुविणं च, अंगविज्जं च जे पउंजंति।**
न हु ते समणा वुच्चंति, एव आयरिएहिं अक्खायं ॥१३॥

संस्कृत-छाया— ये लक्षण च स्वप्नम्, अगविद्यां च ये प्रयुञ्जन्ति।
न खलु ते श्रमणा उच्यन्ते, एवमाचार्यैराख्यातम् ॥१३॥

पद्यानुवाद— लक्षण, स्वप्न, अगविद्या का, जो मुनि जनता मे करे प्रयोग।
श्रमण नही कहलाते वे, आचार्य कहे धर कर उपयोग ॥१३॥

अन्वयार्थ—**जे**— जो साधु, **लक्खणं**— लक्षणशास्त्र (शुभाशुभ-सूचक पुरुष लक्षणादि प्रतिपादक), **सुविणं**— स्वप्नशास्त्र (शुभाशुभ-स्वप्नफलसूचक), **च**— और, **अंगविज्जं**— अग विद्या (अगस्फुरणफलसूचक विद्या) का, **पउंजंति**— प्रयोग करते है, **ते**— उन्हे, **समणा**— श्रमण (साधु), **न हु वुच्चंति**— नही कहा जाता, **एव**— ऐसा, **आयरिएहिं**— आचार्यो ने, **अक्खायं**— कहा है।

विवेचन— लक्षणादि बताने का प्रयोग साधुमर्यादा के विरुद्ध— साधु को लक्षण (तिल, मस्स, हस्तरेखा आदि चिह्न) देखकर उसका शुभाशुभ फल बताना, स्वप्न के विषय मे तथा अगस्फुरणादि निमित्त एव यत्र-मत्र-तत्र आदि के विषय मे गृहस्थो को उत्सर्गमार्ग मे बताना निषिद्ध है, क्योकि इसमे अनर्थ होने की सम्भावना है। अत· आत्मार्थी मुनि को इन प्रयोगो से दूर रहना चाहिए।

समाधियोगभ्रष्ट साधकों की गति-मति

मूल— **इहजीविय अणियमेत्ता, पब्भट्ठा समाहिजोगएहिं।**

ते कामभोगरसगिद्धा, उववज्जंति आसुरे काए ॥१४ ॥

तत्तो वि य उवट्टित्ता, संसारं बहुं अणुपरियट्टंति ।

बहुकम्मलेवलित्ताणं, बोही होइ सुदुल्लहा तेसिं ॥१५ ॥

संस्कृत-छाया— इह जीवितं अनियम्य, प्रभ्रष्टाः समाधियोगेभ्यः ।
ते कामभोगरसगृद्धा, उपपद्यन्ते आसुरे काये ॥१४ ॥
ततोऽपि च उद्धृत्य, ससारं बह्वनुपर्यटन्ति ।
बहुकर्मलेपलिप्तानाम्, बोधिर्भवति सुदुर्लभा तेषाम् ॥१५ ॥

पद्यानुवाद— अनियन्त्रित जीवन रख इस भव मे, समाधियोग से जो गिरते ।
वे कामभोग रस मूर्च्छित हो, आसुरीकाय को है धरते ॥१४ ॥
फिर असुरयोनि से च्युत होकर, भव मे बहु चक्कर खाते है ।
प्रचुर कर्म से लिप्त हुए वे, बोधि सुलभ ना पाते है ॥१५ ॥

अन्वयार्थ— (जो साधक) **इहजीवियं—** वर्तमान जीवन को, **अनियमेत्ता—** अनियमित— असंयमित रखकर, **समाहिजोगएहिं पब्भट्ठा—**समाधियोगो से परिभ्रष्ट हो जाते है, **ते—** वे, **कामभोगरसगिद्धा—** कामभोगो और रसो मे गृद्ध लोग, **आसुरेकाए—** (यहाँ से मरकर) असुरकाय मे, **उववज्जंति—** उत्पन्न होते है ॥१४ ॥

तत्तो वि य— उस असुरकाय से भी, **उवट्टित्ता—** निकल (उद्वर्त्तन) कर, (वे जीव) **बहुंसंसारं—** विस्तीर्ण ससार मे, **अणुपरियट्टंति—** सतत परिभ्रमण करते है। **तेसिं बहुकम्मलेवलित्ताणं—** प्रचुर कर्मो के लेप से लिप्त उन जीवो को, **बोहि—** बोधि-प्राप्ति, **सुदुल्लहा होइ—** अति दुर्लभ होती है ॥१५ ॥

विवेचन— अनियमेत्ता : आशय— जो साधक इस जीवन मे न तो अपनी इच्छाओ और वृत्तियो पर संयम रखते है न ही कोई त्याग, प्रत्याख्यान, नियम आदि लेकर अपने जीवन को नियत्रित रखते है, न ही बारह प्रकार के तपश्चरण से अपने आप पर अकुश रखते है, वे

समाधियोग अर्थात् चित्त-स्वास्थ्य-प्रधान मन-वचन-काय की शुभ योगो (प्रवृत्तियों) से भ्रष्ट हो जाते है, अर्थात् उनके चित्त की एकाग्रता नष्ट हो जाती है, वे चंचल हो जाते है, फिर वे अहर्निश मनोज्ञ इन्द्रियविषयों के उपभोग की बात सोचा करते है, इस कारण पद-पद पर वे आत्म-समाधि से विचलित हो जाते है ।

कामभोगरसगिद्धा : दो अर्थ— (१) कामभोगो (इन्द्रिय -विषयों) के आसक्ति-रूप रस में अत्यन्त गृद्ध, (२) अथवा कामभोगो मे तथा शृंगारादि रसो मे अथवा मधुरादि रसो मे अत्यन्त गृद्ध ।

बहुं संसारं : दो अर्थ— (१) चतुर्गतिकरूप, बहु=विपुल (विस्तीर्ण) ससार मे, (२) अनेक प्रकार के—चौरासी लाख जीवयोनिरूप ससार मे।

बहुकम्मलेवलित्ताणं : तात्पर्य— चारो गतियो और चौरासी लक्ष योनियो मे अनेक बार परिभ्रमण करने से वह जीव प्रचुर कर्मो से लिप्त हो ही जाता है।

बोहिजत्थ सुदुल्लहा : आशय— उन-उन नरक-तिर्यच आदि गतियो मे परिभ्रमण करते हुए जीव को बोधिलाभ अतिदुर्लभ होता है। स्थानाग सूत्र (स्था ३) मे तीन प्रकार की बोधि बताई गई है— (१) ज्ञानबोधि, (२) दर्शनबोधि और(३) चारित्रबोधि।

लोभात्मा को यथेष्ट लाभ मिलने पर भी सन्तोष नही

मूल— कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से न संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥१६॥
जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
दो मासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥१७॥

संस्कृत-छाया— कृत्स्नमपि य इम लोकं, प्रतिपूर्ण दद्यादेकस्मै।
तेनापि स न संतुष्येत्, इति दुष्पूरकोऽयमात्मा ॥१६॥
यथा लाभस्तथा लोभ, लाभाल्लोभ प्रवर्धते।
द्विमाषकृत कार्य, कोट्याऽपि न निष्ठितम् ॥१७॥

पद्यानुवाद— धनधान्यो से पूर्ण विश्व यह, दिया एक को यदि जाए।
सन्तुष्ट नही होता उससे भी, इच्छा दुष्पूर न भर पाए ॥१६॥
जैसे लाभ, लोभ भी वैसे, लोभ लाभ से बढता है।
दो माशा सोने का कार्य भी, करोडो से ना भरता है ॥१७॥

अन्वयार्थ—जो— यदि, **इक्कस्स**— किसी एक व्यक्ति को, **पडिपुण्णं कसिणं पि इमं लोयं**— धनधान्यादि से परिपूर्ण यह सम्पूर्ण विश्व (लोक), **दलेज्ज**— दे दिया जाए, **तेणावि**— तोभी उससे, **से**— वह, **न संतुस्से**— सन्तुष्ट नही होता, **इइ**— इतनी, **दुप्पूरए**— दुष्पूर है, **इमे आया**— यह लोभात्मा (लोभाभिभूत जीव) ॥१६॥

जहा लाहो— जैसे-जैसे लाभ होता है, **तहा लोहो**— वैसे-वैसे लोभ होता है, **लाहा**— लाभ से, **लोहा**— लोभ, **पवड्ढई**— बढता जाता है, **दो मासकयं कज्जं**— दो माशा सोने से निष्पन्न होने वाला कार्य, **कोडीए वि न निट्ठियं**— करोडो स्वर्णमुद्राओ से भी पूरा नही हो पाया ॥१७॥

भावार्थ— किसी एक व्यक्ति को यदि यह धन-धान्यादि से भरपूर समग्र विश्व

(वसुन्धरा) भी दे दिया जाए, तो भी उससे उसकी सन्तुष्टि नही होती। इतनी दुष्पूर लोभाभिभूत आत्मा ॥१६ ॥

ज्यो-ज्यो लाभ बढ़ता जाता है त्यो-त्यो लोभ भी बढता जाता है। लाभ से लोभ है। जो कार्य दो माशा सोने से हो सकता था, वह करोड़ो स्वर्णमुद्राओ से भी पूरा सका ॥१७ ॥

विवेचन— न संतुस्से : आशय— किसी व्यक्ति को इन्द्रादि द्वारा धन-धान्यादि परिपूर्ण समग्र लोक दे दिया जाए, तो भी उस व्यक्ति को इस प्रकार का सन्तोष प्राप्त होगा कि मुझे इसने भरपूर दे दिया है। कहा भी है— तृण और काष्ठो से अग्नि को त नदियो से समुद्र को तृप्त नही किया जा सकता, इसी प्रकार किसी व्यक्ति को रत्नो से सारा जम्बूद्वीप दे दिया जाए तो भी वह तृप्त नही होगा।

लाभ और लोभ का अविनाभावी सम्बन्ध— यह गाथा मुनिवर कपिल केवली पूर्व जीवन के अनुभवो की आँच मे तपी हुई हृदय से उद्भूत है जिसका उन्होने गाथा के उत्तरार्द्ध मे उल्लेख किया है- **"दोमासकयं कज्जं"** अर्थात्— दासी के लिए, पुष्प— ताम्बूल आदि मूल्य के रूप मे दो माशा सोने से कार्य हो सकता था, किन्तु लोभ के चक्र पर चढने से वह करोडो स्वर्ण-मुद्राओ से भी नही हुआ।

वासनाप्रिय नारी से साधक को सावधानी रखने का निर्देश

मूल— नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा, गंडवच्छासु ऽणेगचित्तासु।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता, खेल्लंति जहा व दासेहिं ॥१८ ॥
नारीसु नोवगिज्झेज्जा, इत्थी विप्पजहे अणगारे [१]।
धम्मं च पेसलं णच्चा, तत्थ ठवेज्ज भिक्खु अप्पाणं ॥१९ ॥

संस्कृत-छाया— न राक्षसीषु गृध्येत्, गण्डवक्षस्स्वनेकचित्तासु।
या : पुरुषं प्रलोभ्य, क्रीडन्ति यथा वा दासैः ॥१९ ॥
नारीषु नोपगृध्येत्, स्त्रीर्विप्रजह्यादनगारः।
धर्म च पेशलं ज्ञात्वा, तत्र स्थापयेद् भिक्षुरात्मानम् ॥१९ ॥

पद्यानुवाद— भ्रष्ट नारी मे गृद्धि करो मत, हृदय गांठ, मन-चचलता।
जो लुभा पुरुष को दास रूप से, खेल करे धर मन शठता ॥१८ ॥

१. अणागारे— लुधियाना से प्रकाशित।

नारीतन पर ना प्रीति करे, स्त्रीत्यागी जो है अनगारी ।

त्याग-धर्म को श्रेष्ठ जान, भिक्षुक ने मन स्थिरता धारी ॥१९ ॥

अन्वयार्थ—गंडवच्छासु— वक्ष मे फोडे (या गॉठ) के रूप मे स्तनो वाली (तथा) **अणेगचित्तासु—** अनेक चित्त (कामनाओं) वाली, **रक्खसीसु—** राक्षसी-समवासनाप्रिय नारियो मे,(साधु) **गिज्झेज्जा—** आसक्ति न रखे, **जाओ—**जो, **पुरिसं—**पुरुष को, **पलोभित्ता—** प्रलोभन मे फॅसाकर, **खेल्लंति जहा व दासेहिं—** खरीदे हुए दासो की तरह खेला करतीहै ॥१८ ॥

इत्थी-विप्पजहे— स्त्रियो के साथ ससर्ग का त्याग करने वाला, **अणगारे—** अनगार (गृहत्यागी साधु), **नारीसु—** स्त्रियो मे, **नोवगिज्झेज्जा—** गृद्ध (आसक्त) न हो, **च—** और, **भिक्खू—** साधु, **धम्मं—** साधुधर्म को ही, **पसलं—** इस लोक और परलोक मे हितकर होने से अत्यन्त सुन्दर, **णच्चा—** जानकर, **तत्थ—** उसमे, **अप्पाण—** अपनी आत्मा को, **ठवेज्ज—** स्थिर करे ॥१९ ॥

भावार्थ— राक्षसी के समान साधक के ज्ञानादि भावजीवन का नाश करने वाली वासनाप्रिय नारियो मे आसक्ति न रखे, क्योकि ऐसी नारियो के हृदय मे कपट की गाठ होती है, तथा वे अनेक (चचल) चित्त वाली होती है । वे पुरुष को 'आप ही मेरे लिए शरणरूप है, इस प्रकार के प्रलोभन-जालो मे फॅसा कर उसे खरीदे हुए दास की तरह नचाती है ।

अत स्त्रियो का त्यागी अनगार ऐसी वासनाप्रिय नारियो से आसक्त न हो । वह एकमात्र ब्रह्मचर्यादिरूप श्रमणधर्म को ही सत्य-शिव-सुन्दर जान कर उसी मे अपने चित्त को स्थिर करे ।

विवेचन— राक्षसीरूपा स्त्री से साधक सावधान रहे— प्रस्तुत (१८वी गाथा) मे सभी स्त्रियो के लिए राक्षसी विशेषण नही है । वासनाप्रधान, कपट की खान और चचलचित्त नारी राक्षसीरूपा है, ब्रह्मचारी साधक उन्हे सयम के लिए भयस्थली समझकर उनसे सावधान रहे, इसी दृष्टि से यह कथन किया है । वास्तव मे, जो महिलाएँ शीलवती, व्रतधारी, सती एव वैराग्यवती है, वे न तो वासनाप्रिय होती है, न ही अनेक चित्तवाली या कपट से युक्त । ऐसी महिलाओ के लिए यह कथन नही है ।

उपसंहार

मूल— इइ एस धम्मे अक्खाए, कविलेणं च विसुद्धपण्णेणं ।

तरिहिंति जे उ काहिंति, तेहिं आराहिया दुवे लोगा ॥२० ॥

संस्कृत-छाया— इत्येष धर्म आख्यातः, कपिलेन च विशुद्धप्रज्ञेन ।
तरिष्यन्ति ये तु करिष्यन्ति, तैराराधितौ द्वौ लोकौ ॥२० ॥

इति ब्रवीमि ।

पद्यानुवाद— यही धर्म था कहा कपिल ने, निर्मल प्रज्ञा-धारक ने ।
जो धर्म करे, वे भवसिन्धु तरे, द्वय लोक आराधे उस नर ने ॥२० ॥

अन्वयार्थ—इइ— इस प्रकार, **विसुद्धपण्णेणं**— विशुद्ध प्रज्ञावान्, **कविलेणं**— कपिल मुनि ने, **एस धम्मे**— यह साधु धर्म, **अक्खाए**—कहा है, **जे उ**— अतः जो (साधक), **कार्हिति**— (इस धर्म का) आचरण करेगे, (वे) **तरिहिंति**— संसार सागर से पार होगे, **तेहिं**— उन्होने ही, **दुवे लोग**— दोनो लोक, **आराहिया**— आराध (साध) लिए ।

त्ति बेमि—ऐसा मे कहता हूँ ।

भावार्थ— इस प्रकार निर्मलप्रज्ञावान् श्री कपिलमुनि ने यही (पूर्वोक्त) साधु धर्म कहा था । जो इसकी सम्यक् आराधना करेगे, वे भवसागर तरेगे । समझ लो, उन्होने दोनो लोको (इहलोक-परलोक) को सफल कर लिया ।

विवेचन—उभयलोक-सफलता— जिन साधको ने इस धर्म का सम्यक् पालन किया वे यहाँ भी अनेकजनपूज्य बनते है, और आगे स्वर्ग या मोक्ष-प्राप्त करते है, यही उभयलोक की सफलता है ।

॥कापिलीय : अष्टम अध्ययन समाप्त ॥

नवम अध्ययन : नमि प्रव्रज्या

(अध्ययन सार)

इस अध्ययन का नाम है— नमि-प्रवज्या। मिथिला के राजा नमि राजर्षि की प्रव्रज्या से सम्बन्धित होने के कारण इस अध्ययन का नाम 'नमि प्रव्रज्या' रखा गया है।

'नमि राजर्षि' की प्रव्रज्या का प्रथम निमित्त-कारण बना— दाहज्वर, और तदनन्तर द्वितीय प्रबल निमित्त बना—दाहज्वर के उपशमन के लिए चदन घिसते समय निःशब्दता के लिए रानियो के हाथो मे रहा हुआ एक-एक कंगन, तथा उसी 'एक कगन' पर एकत्व-अनुप्रेक्षात्मक चिन्तन चला। इसी घटना को लेकर हुआ प्रत्येकबुद्धत्व उनकी प्रव्रज्या का मुख्य निमित्त बना।

घटनाक्रम संक्षेप मे इस प्रकार है—

मिथिला के राजा नमि एक बार दाहज्वर से ग्रस्त हो गए। छह मास तक वे इसकी घोर वेदना से पीडित रहे। कई प्रकार के उपचार किये गए, पर कोई लाभ न हुआ। एक वैद्य ने उनके शरीर पर चन्दन का लेप करने का परामर्श दिया।अत रानियाँ स्वय चन्दन घिसने लगी। चन्दन घिसते समय रानियो के हाथो मे पहने हुए ककणो के परस्पर टकराने से बहुत शोर होने लगा। दाहज्वर की पीडा से व्याकुल राजा को ककणो की यह आवाज असह्य हो उठी। फलत· रानियो ने सौभाग्यसूचक एक-एक ककण अपने हाथो मे रखकर सब ककण उतार दिए। अव आवाज बन्द हो गई।

राजा ने मन्त्री से पूछा— 'ककणो की आवाज नही हो रही है, क्या चन्दन घिसना बन्द कर दिया ?' मन्त्री ने कहा— "स्वामिन्! कंकणो के घर्षण की आवाज आपको अप्रिय लग रही थी। इसलिए सभी रानियो ने अपने हाथ मे एक-एक कंकण रखकर शेष सभी उतार दिये। एक ककण से घर्षण नही होता और घर्षण के बिना आवाज कैसे होती ?"

राजा के लिए यह घटना, घटना न रही। इस घटना ने राजा का चिन्तन बदल दिया। वह प्रबुद्ध होकर इस घटना पर अनुप्रेक्षण करने लगा— 'जहाँ अनेक है, वहाँ संघर्ष है, द्वन्द्व है, दु·ख और पीडा है, जहाँ एक है, वहाँ संघर्ष, द्वन्द्व, दु·ख और अशान्ति नही। वहाँ पूर्ण सुख-शान्ति है। जहाँ शरीर और शरीर से सम्बन्धित इन्द्रियाँ, मन और इससे आगे धन, साधन, स्वजन, महल, राज्य, प्रजाजन आदि की बेतुकी भीड है, वहाँ सघर्ष, द्वन्द्व, दु·ख और अशान्ति का होना स्वाभाविक है। जहाँ केवल एक आत्मा और आत्मभाव हो, शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थो के प्रति आसक्ति या लगाव से रहित एकमात्र

शुद्ध— निष्कलक आत्मा हो, वहाँ दुःख, द्वन्द्व या अशान्ति नही। यही एकान्त और अक्षय शाश्वत सुख का राजमार्गहै। अतः मुझे इन सबके मोह-ममत्वमूलक सम्बन्ध (सग) का त्याग करके निर्ग्रन्थ मुनि हो जाना चाहिए। यही मेरे दाहज्वर की शान्ति के लिए रामबाण औषध होगा। राजा का विरक्तिभाव बढा और उसने प्रव्रजित होने का दृढ सकल्प किया।

इस प्रकार का सकल्प करके राजा शान्तचित्त से सो गया। राजा को आज गाढ निद्रा आई और उसी कार्तिक पूर्णिमा की रात को उसके पुण्य प्रभाव से ६ मास का दाहज्वर शान्त हो गया। प्रात काल होते ही नमिराज ने अपने समस्त राज परिवार को एकत्रित करके अपने संकल्प की घोषणा की, सबके समक्ष अपने पुत्र को राजगद्दी पर बिठाया और स्वय सब कुछ त्यागकर, प्रव्रज्या ग्रहण करके प्रत्येकबुद्ध होकर नगरी से बाहर चले गए।

नमिराज को अकस्मात् राज्य त्यागकर प्रव्रजित हुए जानकर देवराज इन्द्र ब्राह्मण के वेष मे उनके त्याग-वैराग्य की परीक्षा करने के लिए उनके पास आया और उसने क्षात्र (राज) धर्म से सम्बन्धित १० प्रश्न नमि राजर्षि के समक्ष प्रस्तुत किये, जिनका उन्होने श्रमणधर्म के अनुरूप यथोचित समाधान किया।

संक्षेप मे वे दस प्रश्न इस प्रकार हैं—

(१) मिथिला मे सर्वत्र सुनाई देने वाले कोलाहल का क्या कारण है ?

(२) वायु से प्रेरित आग से आपका राजभवन एवं अन्तःपुर जल रहा है, आप इधर क्यों नही देख रहे है ?

(३) दीक्षा से पूर्व आपको कोट, किला, खाई, शस्त्रास्त्र आदि से नगर की सुरक्षा करके जाना चाहिए।

(४) आपको पहले अपने परिजनों के लिए प्रासादादि बनाकर फिर प्रव्रजित होना चाहिए।

(५) चोरों, डाकुओ, गिरहकटो आदि से नगर की सुरक्षा और शान्ति स्थापित करके फिर आपको दीक्षा लेनी चाहिए।

(६) विरोधी राजाओं को युद्ध में पराजित करके उन्हे अपने अधीन कर फिर प्रव्रज्या लेनी चाहिए।

(७) विपुल यज्ञ कराकर, श्रमण-ब्राह्मणों को भोजन कराकर तथा दान और उपभोग करके फिर मुनि बनना चाहिए।

(८) कठोर गृहस्थाश्रम को छोड़कर सन्यासाश्रम की इच्छा करना उचित नही। क्या गृहस्थाश्रम में पौषधरत रहकर कल्याण नहीं हो सकता ?

(९) आप क्षत्रिय राजा है, अत आपका पहला धर्म है— हिरण्य, स्वर्ण, मणि-मुक्ता, कांस्य आदि से कोषवृद्धि करना। अत- इसका पालन करके फिर मुनि बनना चाहिए।

(१०) आश्चर्य है, आप प्रत्यक्ष प्राप्त भोगों को त्यागकर अप्राप्त भोगों की इच्छा कर रहे है। आप व्यर्थ के संकल्पों से अपने आपको दुःखी कर रहे है।

इन्द्र के इन प्रश्नो के समाधान नमि राजर्षि ने युक्तिपूर्वक दिये है, वे इस प्रकार है-

(१) बहुत-से लोगों के लिए उपकारक व्यक्ति के चले जाने पर प्रजाजन व परिजनों का दुखित, आर्त्त और अशरण होना स्वाभाविक है, परन्तु इन सीमितजनों से मोह सम्बन्ध छोड़कर मैं विश्व के सभी प्राणियों से मैत्री साधने जा रहा हूँ।

(२) मिथिला जल रही है, इसमें मेरा (आत्मा का) कुछ नही जलता। मै इन सबकी आसक्ति त्याग चुका हूँ।

(३) मुझे अब बाह्य सुरक्षा से क्या मतलब ? अपनी आत्मरक्षा के लिए मैंने आध्यात्मिक शस्त्रास्त्र लेकर विकारों से युद्ध छेड़ रखा है।

(४) जहॉ अस्थायी मुकाम है, वहॉ घर बनाने से क्या मतलब ? स्थान वही बनाना चाहिए, जहॉ शाश्वत गन्तव्यस्थान हो। मैं वही कर रहा हूँ।

(५) संसार में अपराधी-अनपराधी का कोई पता नही लगता। इसलिए मैं तो अपनी आत्मा के द्वारा किये गये अपराधों को दूर करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

(६) बाह्ययुद्ध में लाखों सुभटों को जीतने की अपेक्षा जो एक आत्मा को जीत लेता है, वही सच्ची विजय है, वही विश्वविजेता है।

(७) जो प्रतिमास लाखों गाय दान देता है, उसके लिए भी संयम ही श्रेष्ठ है, फिर चाहे वह कुछ भी दान न करे।

(८) जो अज्ञानी साधक मास-मास भर तप करके पारणे में कुश की नोंक पर आए इतना आहार ग्रहण करता है, वह स्वाख्यात (सम्यक्चारित्र रूप) धर्म की सोलहवी कला के बराबर भी नही है।

(९) सोने, चॉदी आदि धन के असंख्य कैलाश पर्वत हों, तब भी लुब्ध मनुष्य की तृप्ति नही होती। अत निस्पृह के लिए यह परिग्रह बेकार है।

(१०) सांसारिक कामभोग शल्य हैं, विष है नाग हैं, ये तथा कषाय आत्मगुणों का नाश करके मनुष्य को दुर्गति में ले जाते हैं, अतः निर्ग्रन्थ इनका संग नही करता।

इस प्रकार का सुन्दर समाधान पाकर तथा नमि राजर्षि की त्यागवृत्ति से सन्तुष्ट होकर इन्द्र ने अपने असली रूप मे प्रकट हो, उन्हे वन्दन-नमस्कार किया। उनके उत्तम गुणो की प्रशसा की और प्रसन्न होकर देवलोक चला गया।

नमि विदेह राज्य मे दो हुए है। दोनो अपने-अपने राज्य का परित्याग कर अनगार बने है। इनमे से एक हुए है— इक्कीसवे तीर्थङ्कर नमिनाथ और दूसरे है— प्रत्येकबुद्ध नमिराजर्षि।

इस अध्ययन मे प्रत्येकबुद्ध नमिराजर्षि की प्रव्रज्या से सम्बन्धित वर्णन है। नमिराज कौन थे ? कहॉ के थे ? किस माता-पिता के पुत्र थे ? उनका लालन-पालन किस प्रकार हुआ था ? यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। अत इसका संक्षिप्त परिचय यहॉ दे रहे है।—

मालव देश के सुदर्शनपुर मे राजा मणिरथ राज्य करता था। उसका छोटा भाई युगबाहु था, उसे मणिरथ ने युवराज बना दिया था। एक बार मणिरथ राजा अपने छोटे भाई युगबाहु की पत्नी मदनरेखा का रूप देखकर मोहित हो गया। बहुत-से उपाय करने पर भी जब मदनरेखा उसके चंगुल मे नही फॅसी तो पापी मणिरथ ने युगबाहु को कपटपूर्वक मार डाला। मदनरेखा उस समय गर्भवती थी। अत. मदनरेखा दीर्घदृष्टि से विचार कर के मध्य रात्रि को ही सुदर्शनपुर छोडकर पूर्व दिशा मे वन की ओर चली गई। प्रातः काल होते-होते वह एक महारण्य मे पहॅुची। वहॉ से चलकर मध्यान्ह तक एक महासरोवर के पास आई। वहॉ एक कदलीगृह देखकर मदनरेखा ने थकान दूर करने के लिए विश्राम किया। कुछ वनफल खाकर क्षुधा मिटाई। उसी कदलीगृह मे वह सागारी अनशन करके सोई। आधी रात मे मदनरेखा को प्रसवपीडा होने लगी। प्रसवकाल निकट जानकर वह उठ बैठी और परमेष्ठी मन्त्र का जाप करने लगी। सूर्योदय होने मे थोड़ी-सी देर थी, तभी मदनरेखा ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। बालक को युगबाहु के नाम वाली अंगूठी पहना कर उसे एक रत्न कम्बल मे लपेटकर उसी कदलीगृह मे घास की शय्या पर सुलाया और स्वय शरीर-शुद्धि के लिए निकटवर्ती महासरोवर पर स्नान करने गई। जब वह स्नान करने के लिए सरोवर मे घुसी, तभी अकस्मात् एक जलहस्ती ने तेजी से आकर उसे सूॅड मे उठाकर आकाश मे उछाला। सयोगवश विमान से नन्दीश्वर द्वीप जाते हुए एक युवा विद्याधर ने उसे नीचे न गिरने देकर अधर उठा ली। मदनरेखा को विमान मे बिठाकर वह उसे अपनी पत्नी बनने के लिए बाध्य करने लगा। मदनरेखा ने जब उससे उसका परिचय पूछा तो उसने बताया कि "मै वैताढ्य पर्वत पर स्थित गन्धारदेशान्तर्गत रत्नावह नगर का मणिचूड नामक विद्याधर का पुत्र हूॅ, मेरा नाम मणिप्रभ है। मै जब जवान हुआ तो मेरे पिता ने विरक्त होकर चारणमुनि से दीक्षा ग्रहण कर ली। मै उन्ही के दर्शनार्थ नन्दीश्वर द्वीप जा रहा था।"

अपने नन्हे पुत्र के वियोग से दुःखित होकर मदनरेखा ने कहा— "मै पुत्र को जन्म कदलीगृह मे अकेला छोडकर सरोवर मे स्नानार्थ आई थी, किन्तु दुर्भाग्य से मुझे हाथी ने ऊपर उछाला, उसके बाद तुम मुझे वैताढ्य पर्वत की ओर ले जा रहे हो। मुझे अपने बालक की बहुत चिन्ता है। पता नही उसका क्या हुआ? अगर तुम उस पुत्र को मेरे पास ला दो या मुझे वहॉ ले चलो तो मै तुम्हारा उपकार कभी नही भूलूॅगी।"

विद्याधर ने प्रज्ञप्ति विद्या से जानकर कहा— "तुम जब सरोवर मे स्नान करने आई, उसी समय उस वन मे क्रीडा कर रहे मिथिलानरेश पद्मरथ को उसका अश्व हरण करके ले

आया। पद्मरथ राजा पुत्ररहित होने से तथा तुम्हारा पुत्र अनायास ही कदलीगृह मे अकेला मिल जाने से वह उसे अपने साथ प्रसन्नतापूर्वक ले गया है। मिथिला नगरी मे जाकर उसने अपनी रानी पुष्पमाला को तुम्हारे उस पुत्र को सौप दिया है। वह भी तुम्हारे पुत्र का लालन-पालन अपने पुत्र की तरह कर रही है। अत· बिलकुल चिन्ता न करो, तुम्हारा पुत्र वहाँ सुरक्षित है।"

यह सुनकर सती मदनरेखा ने सोचा— इसके पिता मणिचूड मुनि है। अत इसे मुनिदर्शन कराने का कहूँ, वहाँ जाने पर इसका मेरे रूप के प्रति मोह भी शायद दूर हो जाए। अतः सती ने मणिप्रभ विद्याधर से मुनि-दर्शन करा देने की विनति की। विद्याधर सती को विमान मे बिठाकर नन्दीश्वर द्वीप मे विराजित महामुनि मणिचूड के पास ले गया। मुनि की वन्दना करके दोनो बैठ गए। ज्ञानी मुनि ने मदनरेखा का सर्व चरित्र जानकर मणिप्रभ विद्याधर को लक्ष्य करके ब्रह्मचर्य का उपदेश दिया, जिसे सुनकर प्रतिबुद्ध मणिप्रभ ने सती मदनरेखा से क्षमा माँगी और अपनी बहन बनाई। मदनरेखा ने भी उसका उपकार मानकर कृतज्ञता प्रकट की।

इतने मे युगबाहु का जीव देव विमान से वहाँ अकस्मात् आ पहुँचा। उसने पहले सती मदनरेखा को और तत्पश्चात् मुनि को वन्दन किया। लोगो के आश्चर्ययुक्त प्रश्न का उसने समाधान किया कि 'इस सती का महान् उपकार है; इसी के प्रताप के कारण मुझे यह देवपद मिला है।' तत्पश्चात् आगन्तुक युगबाहुदेव ने सती मदनरेखा से कहा— "कहिये! मै आपकी क्या सहायता करूँ? आपका कोई भी कार्य हो तो मुझे बताइये, मै उसे करूँगा।" मदनरेखा ने कहा— "मुझे अब सुदर्शनपुरी मे नही जाना है। मेरी इच्छा अब संसार के भोग-विलासो मे फँसने की नही है। मै तो अब रत्नत्रय की साधना से कर्मक्षय करके मोक्ष प्राप्त करना चाहती हूँ। परन्तु एक बार मै अपने पुत्र का मुख देखना चाहती हूँ। अत· आप मुझे मिथिलापुरी पहुँचा दीजिए। अगर मिथिला मे कोई महाव्रतधारी साध्वी हो तो पहले मुझे उनके उपाश्रय मे पहुँचा दीजिए।'

देव ने सती को विमान मे बिठाया और मिथिला नगरी मे उतारकर साध्वीजी के उपाश्रय मे पहुँचा दिया। साध्वीजी को दोनो ने वन्दना नमस्कार किया। दृढ़व्रती साध्वी ने मदनरेखा को लक्ष्य करके उपदेश दिया, जिसे सुनकर मदनरेखा प्रतिबुद्ध हो गई। तत्पश्चात् देव ने कहा— "चलो, राजभवन मे चलकर अपने पुत्र का मुख देख लो।" किन्तु संसार के मोहजनित सम्बन्धो से परम विरक्त मदनरेखा ने कहा— "अब मुझे संसार के मोह सम्बन्धो मे नही—

फॅसना है, इसलिए अब मै वहाँ न जाकर इन्ही साध्वीजी के चरणो मे भागवती दीक्षा लेकर स्व-पर-कल्याण-साधना करूँगी ।"

इस निश्चय के अनुसार मदनरेखा साध्वीजी के चरणो मे प्रव्रजित हो गई । नवदीक्षिता साध्वी का नाम सुव्रता रखा गया ।

उधर पद्मरथ राजा के भवन मे मदनरेखा के नवजात शिशु का पालन-पोषण एव संवर्द्धन हो रहा था । उस पुण्यशाली बालक के प्रभाव से पद्मरथ राजा के शत्रु नृप भी नम्र बनकर उसके अधीने होने लगे । अत· यह सब प्रभाव इस बालक का है, ऐसा जानकर राजा-रानी ने महोत्सवपूर्वक उसका नाम 'नमि' रखा । पॉच धात्रियो द्वारा उसका पालन होने लगा । आठ वर्ष की अवस्था मे ही बालक ने कलाचार्य से समस्त कलाओ का अभ्यास कर लिया । अनुक्रम से नमिकुमार युवक हुआ । उसका रूप, लावण्य, यौवन विकसित हुआ देख राजा पद्मरथ ने इक्ष्वाकुवश की १००८ कन्याओ के साथ उसका विवाह किया ।

पद्मरथ राजा ने क्षत्रिययोग्य सभी विद्याओ-कलाओ मे दक्ष एवॅ योग्य समझकर नमिकुमार को राज्य का भार सौपा और स्वयं मुनिधर्म मे दीक्षित हो गया । नमि राजा न्याय-नीतिपूर्वक विस्तृत राज्य का पालन करने लगा ।

इधर जिस रात्रि को मणिरथ राजा ने अपने छोटे भाई युगबाहु को मार दिया था, उसी रात्रि मे मणिरथ को सॉप ने डस लिया, जिससे उसकी तत्काल मृत्यु हो गई । वह मरकर चौथी नरक मे गया । सुदर्शनपुर के राज्यमन्त्री आदि ने युगबाहु के बडे पुत्र चन्द्रयश को सुदर्शनपुर की राजगद्दी पर बिठाया । चन्द्रयश राजा भी न्याय-नीतिपूर्वक प्रजापालन करने लगा ।

एक बार नमिराजा का सर्वश्रेष्ठ श्वेत पट्टहस्ती मतवाला होकर बन्धन स्तम्भ उखाडकर नगरजनो को त्रास पहुँचाता हुआ विन्ध्याचल की ओर चल दिया । हाथी चलता-चलता चन्द्रयश राजा की राजधानी सुदर्शनपुर की सीमा में आ पहुँचा । राजसेवको से जब राजा को यह खबर मिली तो वह हाथी को शीघ्र वश मे करके अपने नगर ले आया । आठ दिनो वाद नमि राजा को अपने हाथी का पता चला तो उसने हाथी वापस देने का सन्देश दूत द्वारा चन्द्रयश राजा के पास भेजा । दूत ने जब चन्द्रयश राजा से नमिराजा का सन्देश कहा कि "आपने जो श्वेत हाथी पकडा हैं; वह हमारा है, अतः उसे वापस भेज दीजिये, क्योकि पराई वस्तु पर अपना अधिकार करना अच्छा नही है ।".

यह सुनते ही चन्द्रयश राजा ने कुपित होकर कहा— "वीरभोग्या वसुन्धरा" इस कहावत के अनुसार इस पृथ्वी पर जितने भी रत्न है, वीर पुरुष ही उनका ग्रहण और उपभोग

कर सकता है। अत उस हस्तिरत्न पर कोई उसके नाम की छाप लगी हुई नही है। यो मॉगने से किसी को कोई रत्न नही देता, अगर उसमे शक्ति है तो वह मैदान मे आ जाये।" इस प्रकार कहकर दूत को विदा किया। नमिराज ने दूत के मुख से जब ये वचन सुने तो अत्यन्त कुपित होकर रणभेरी बजाई और अपनी विशाल सेना लेकर अवन्ती की ओर प्रस्थान किया। नमिराज को ससैन्य आते देख चन्द्रयश भी युद्ध की तैयारी करने लगा, उधर नमिराज भी युद्ध-भूमि मे ससैन्य आ डटा।

संयोगवश सुव्रता साध्वी भी उस समय सुदर्शनपुर मे ही थी। उन्होने लोगो के मुख से जब यह सुना कि राजा चन्द्रयश और नमिराजा दोनो मे एक श्वेत हाथी को लेकर भयंकर युद्ध होने वाला है तब सुव्रता साध्वी ने विचार किया— व्यर्थ ही युद्ध करके दोनो भाई दुर्गति मे जायेगे, अतः मै जाकर दोनो को समझाऊँ, उनका अज्ञान दूर करूँ ताकि वे धन-जन की हानि तथा दुर्गति से बच सके।

इस विचार से अपनी महत्तरा साध्वीजी की आज्ञा लेकर, अन्य साध्वियो को साथ ले, साध्वी सुव्रता नमिराज के सैन्य-शिविर मे पहुँची। नमिराज ने उन्हे वन्दना की और सुखसाता निवेदन करके पूछा— "गुरुणीजी ! मेरे योग्य क्या सेवा है? कहिये।" साध्वीजी ने राज्यलक्ष्मी आदि की असारता एवं नश्वरता का उपदेश देकर कहा— "राजन् ! इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर इसे पापकर्मो मे लगाकर तुम क्यो अपना अकल्याण कर रहे हो !युद्ध— और वह भी अपने बडे भाई के साथ, सिर्फ एक हाथी के लिए करना दुर्गति का कारण है। अपने बडे भाई के पास अगर तुम्हारा हाथी रह गया तो क्या हर्ज है? उसके लिए युद्ध करके इतने मनुष्यो का रक्त बहाने की क्या आवश्यकता है? अत युद्ध बन्द करो और वीरता दिखानी है तो धर्मकार्य मे दिखाओ।"

साध्वीजी के उद्गार सुनकर नमिराज विचार मे पड गया— मै पद्मरथ राजा का पुत्र हूँ और चन्द्रयश राजा है— युगबाहु का पुत्र। फिर इनके साथ मेरा सहोदर भाई का सम्बन्ध कैसा? साध्वीजी के सामने जब नमिराज ने अपनी शका प्रकट की, तब उन्होने आद्योपान्त पूर्ववृत्तान्त बतलाते हुए कहा— सुदर्शनपुर का स्वामी युगबाहु तुम्हारा और चन्द्रयश का पिता है, मै तुम्हारी जन्मदात्री माता हूँ। पद्मरथ तुम्हारा पालनकर्त्ता होने से पिता है, जन्मदाता पिता नही। अत- अपने धन, यौवन एव राज्य वैभव का मद छोडो, अपने बडे भाई के साथ विरोध मत करो। इसी मे तुम दोनो का हित है।"

साध्वीजी पर अविश्वास करने का कोई कारण नह

सारा वृत्तान्त सुनकर अपार हर्ष हुआ। उसने साध्वी माता को वन्दना-नमस्कार करते हुए कहा— "माताजी ! आपकी बात सत्य है, इसमे मुझे कोई सन्देह नही परन्तु बडे भाई एवं उनकी सेना एव जनता, इस बात को माने तब न ? यदि वे मुझे कायर समझकर अहंकारवश मुझे न अपनाये तो मेरा गौरव समाप्त हो जाएगा। अत. बड़े भाई अगर मेरे प्रति वात्सल्य भाव दिखाकर मेरे सम्मुख आएं तो मै पूर्ण विनयसहित उनके चरणो मे झुक जाऊँगा। अत. आप उन्हे समझा कर तैयार करिये।" यह सुनकर साध्वीजी चन्द्रयश के सैन्यशिविर मे गई। चन्द्रयश राजा ने अकस्मात् आई हुई अपनी साध्वी माता को पहचान कर अश्रुपूर्ण नेत्रो से वन्दन नमस्कार किया। उसी समय पता लगते ही अंतःपुर से सारे राजपरिवार ने आकर वन्दना की। चन्द्रयश ने पूछा— "माताजी ! आपने यह कठोर संयम मार्ग क्यो अपनाया ? तथा यहॉ अकस्मात् पधारने का क्या कारण है ?" साध्वीजी न जब अपना समस्त पूर्ववृत्तान्त सुनाया तो चन्द्रयश ने बीच मे ही पूछ लिया— "माताजी ! वह मेरा छोटा भाई कहॉ है ?" साध्वीजी ने कहा— "यह नमिराज ही तो तेरा छोटा भाई है। जिसके साथ तुम एक हाथी के लिए युद्ध करने और नर-रक्त बहाने को तैयार हुए हो। मै इसीलिए इस मौके पर अकस्मात् चली आई हूँ। अगर मै तुम्हे दोनो का सहोदर भ्रात-सम्बन्ध न बताती और यहॉ अभी न आती तो तुम दोनो मे भयंकर युद्ध होता और दोनों की दुर्गति होती।"

माता के मुँह से यह सुनकर कि 'नमिराज मेरा भाई है,' चन्द्रयश के हृदय मे अपार स्नेह उमड पडा। युद्ध ज्वाला शान्त हो गई। और वह उसी समय अपने छोटे भाई नमिराज से मिलने उसके सैन्य शिविर की ओर चल पडा।

नमिराज ने ज्यो ही अपने बड़े भाई चन्द्रयश को अपने ओर आते देखा, त्यो ही वह आसन से उठकर उसके सम्मुख गया और उसके चरणो मे अपना मस्तक रख दिया। चन्द्रयश ने भी दोनो हाथो से प्रेमपूर्वक उठा कर नमिराज का आलिगन किया और पूर्ण उत्साहपूर्वक नगर प्रवेश कराया। अपने छोटे भाई के मिलने से चन्द्रयश ने अपना जन्म सफल मानकर आग्रह पूर्वक सुदर्शनपुर का अपना राज्य नमिराज को सौप कर स्वयं ने स्व-पर-कल्याणकारी ।।वती दीक्षा अगीकार कर ली।

नमिराज अब मिथिला और सुदर्शनपुर इन दोनो राज्यो का सचालन बडी कुशलता से न्याय-नीतिपूर्वक करने लगे। नमिराज ने चिरकाल तक न्याय-नीतिपूर्वक राज्य का संचालन एव प्रजा का पालन किया।

इसे आगे का वृत्तान्त जो नमिराज की प्रव्रज्या से सम्बन्धित है, पहले ही बताया जा

चुका है।

इस प्रकार प्रत्येकबुद्ध नमिराजर्षि का पूर्वजीवन भी अत्यन्त प्रेरणाप्रद है और प्रव्रज्या का जीवन तो और भी अधिक प्रेरणाप्रद है। नमिराजर्षि और इन्द्र का संवाद ब्राह्मण सस्कृति और श्रमण सस्कृति के अन्तर को स्पष्ट करता है। ब्राह्मण सस्कृति मे ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम एव वानप्रस्थाश्रम के बाद सन्यासाश्रम स्वीकार करने की विधि है, जबकि श्रमणसस्कृति मे 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' के सूत्र के अनुसार जिस दिन ससार से— सासारिक भोगो से विरक्ति हो जाए, उसी दिन प्रव्रजित हो जाने का विधान है। इसके अतिरिक्त वर्णव्यवस्था को ब्राह्मणसंस्कृति मे बहुत ही महत्त्व दिया गया है। सन्यास ग्रहण करने का अधिकार भी प्रायः ब्राह्मणवर्ण को दिया गया है, जबकि श्रमण सस्कृति मे सभी वर्णो के लिए सन्यास-साधना के द्वार खुले हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था श्रमणसंस्कृति मे अमिट नही है, यहाँ श्रमण बन जाने के बाद सारे पूर्व वर्ण समाप्त हो जाते है, तथा अमुक अवस्था तक गृहस्थाश्रम का पालन करके वर्णव्यवस्था के अनुसार व्यवहार करने का पूर्ण प्रतिबन्ध श्रमणसंस्कृति मे नही है। श्रमण सस्कृति के अनुसार नमिराज जिस दिन प्रतिबुद्ध हुए, तभी से उन्होने श्रमणनिर्ग्रन्थ बनने का सकल्प किया और सर्वारम्भ-परिग्रहत्यागी निर्ग्रन्थ मुनि बन गये।



नवम अध्ययन : नमिप्रव्रज्या
(नवमं अज्झयणं : नमि पव्वज्जा)

नमिराज का जन्म और पूर्वजन्म-स्मरण

मूल— चइऊण देवलोगाओ, उववन्नो माणुसंमि लोगंमि।
उवसंत-मोहणिज्जो, सरई पोराणियं जाइं ॥१ ॥

संस्कृत-छाया— च्युत्वा देवलोकात्, उपपन्नो मानुषे लोके ।
उपशान्तमोहनीयः, स्मरति पौराणिकी जातिम् ॥१ ॥

पद्यानुवाद— अमरलोक से च्युत होकर, नमि ने नरभव मे जन्म लिया ।
उपशान्त मोह के होने से, निज पूर्वजन्म का स्मरण किया ॥१ ॥

अन्वयार्थ—देवलोगाओ— देवलोक से, **चइऊण—** च्युत होकर, (नमिराज के जीव ने) **माणुसंमि लोगंमि—** मनुष्य लोक मे, **उववन्नो—** जन्म लिया । **उवसंतमोहणिज्जो—** उनका मोह उपशान्त हुआ, (तो वे) **पोराणियं जाइं—** पूर्वजन्म का, **सरई—** स्मरण करने लगे ।

भावार्थ—देवलोक से आकर नमिराज के जीव ने मनुष्य लोक मे जन्म लिया । मोहनीय कर्म उपशान्त हो जाने से वे अपने पूर्वजन्म का स्मरण करने लगे ।

विवेचन— जाति स्मृति से पुनर्जन्म की सिद्धि— प्रस्तुत गाथा के अनुसार आत्मवादियो के द्वारा अभिमत पूर्वजन्म की सिद्धि होती है । पूर्वजन्म की स्मृति को शास्त्र मे 'जातिस्मृतिज्ञान' कहा गया है, जो मतिज्ञान का ही एक प्रकार है । पूर्वजन्म के संस्कार मस्तिष्क मे संचित रहते हैं, उन्हे एकाग्रता-पूर्वक बार-बार चिन्तन एव ऊहापोह से, किसी अनुभूत घटना को बार-बार देखने से या पूर्वजन्म को जानने की तीव्र इच्छा से जातिस्मरणज्ञान हो जाता है । जैन आगमो मे जातिस्मरणज्ञान के अनेक उल्लेख मिलते है । अधिक से अधिक पूर्ववर्ती संख्यात जन्मो की स्मृति हो सकती है । जाति का अर्थ यहाँ जन्म या उत्पत्ति है । पोराणियं— का अर्थ है— पुरानी अर्थात् पूर्वजन्म की ।

नमिराज का अभिनिष्क्रमण

मूल— जाइं सरित्तु भयवं, सहसंबुद्धो[1] अणुत्तरे धम्मे।
पुत्तं ठवेत्तु रज्जे, अभिणिक्खमई नमी राया ॥२ ॥

संस्कृत-छाया— जाति स्मृत्वा भगवान्, स्वयंसबुद्धोऽनुत्तरे धर्मे ।
पुत्रं स्थापयित्वा राज्ये अभिनिष्क्रामति नमिराजा ॥२ ॥

---

१. सयसंबुद्धो— लुधियाना से प्रकाशित ।

पद्यानुवाद— पूर्वजन्म की स्मृति से नमि, धर्म मार्ग का बोध किया।
राज्यभार झट सौप पुत्र को, दीक्षा हित अभिनिष्क्रमण किया ॥२ ।।

अन्वयार्थ—जाइं— पूर्वजन्म को, **सरित्तु**— स्मरण करके, **भयवं**— भगवान्, **नमीराया**— नमिराज, **अणुत्तरेधम्मे**— अनुत्तर (लोकोत्तर श्रेष्ठमुनि) धर्म मे (प्रव्रजित होने के लिए) **सहसंबुद्धे**— स्वय-सम्बुद्ध हुए, (और) **रज्जे**— राज्य गद्दी पर, **पुत्तं**— पुत्र को, **ठवेत्तु**— स्थापित कर, (स्वय ने) **अभिणिक्खमई**— अभिनिष्क्रमण किया।

भावार्थ— भगवान् नमिराज अपने पूर्वजन्म का स्मरण करके श्रेष्ठ (मुनि) धर्म की आराधना के लिए स्वय सम्बुद्ध (प्रत्येकबुद्ध) हुए और अपने पुत्र को शीघ्र ही राज्यभार सौपकर स्वय दीक्षा के लिए निकल पडे।

विवेचन— नमिराजर्षि की प्रव्रज्या का क्रम— प्रस्तुत दो गाथाओ मे नमिराजर्षि द्वारा मुनिधर्म मे दीक्षित होने का क्रम बताया गया है। नमि मनुष्यलोक मे आकर राजा बने, शरीर मे एक बार दाहज्वर हुआ, मोह उपशान्त होने से एकत्व भावना पर चिन्तन करते-करते पूर्वजन्म का स्मरण हुआ, जिसके फलस्वरूप स्वय सम्बुद्ध हुए, मुनि धर्म की आराधना मे तत्पर हुए, फिर पुत्र को राज्य सौपा और मुनिधर्म के अभिमुख होकर गृहस्थपर्याय से निकले। नमिराजर्षि की प्रव्रज्या के पूर्व की कथा आमुख मे दी गई है। प्रव्रज्या से पूर्व की कथा के सकेत इन दो गाथाओ मे मिलते है।

भगवान्— भगवान् शब्द का यहाँ प्रसगवश अर्थ है— जिसमे अतिशय बुद्धि हो। 'भग' शब्द के अनेक अर्थ होते है। यथा—

धैर्य-सौभाग्य-माहात्म्य-यशोऽर्क-श्रुत-धी-श्रिय ।
तपोऽर्थोपस्थ-पुण्येश-प्रयत्न-तनवो भगा ॥

धैर्य, सौभाग्य, माहात्म्य, यश, सूर्य, श्रुत, बुद्धि, लक्ष्मी, तपस्या अर्थ, योनि, पुण्य, ईश, प्रयत्न और तनु; ये भग के अर्थ है। यहाँ नमिराज को भगवान् कहने के पीछे यही तथ्य है कि उनका मोहनीय कर्म उपशान्त हो गया था, इसलिए ग्यारहवे गुणस्थान पर वे पहुच गये थे। भावसाधुता तथा अप्रमत्तावस्था उनमे आ गई थी। यही कारण है कि जातिस्मरणज्ञान होते ही वे किसी दूसरे के द्वारा प्रतिबोधित न होकर स्वय सम्बुद्ध हो गए, कंकणो की ध्वनि तथा एकत्व अनुप्रेक्षा एव जातिस्मरणज्ञान इसमे निमित्त बने।

अभिनिष्क्रमण कैसे और किस परिस्थिति में ?

मूल— सो[1] देवलोगसरिसे, अंतेउरवरगओ वरे भोए।
भुंजित्तु नमी राया, बुद्धो भोगे परिच्चियई ॥३ ॥

---

१ से— तेरापथ महासभा।

मिहिलं सपुरजणवयं बलमोरोहं च परियणं सव्वं ।
चिच्चा अभिनिक्खंतो, एगंतमहिट्ठिओ भयवं ॥४ ॥
कोलाहलगभूयं, आसी मिहिलाए पव्वयंतंमि ।
तइया रायरिसिंमि, नमिंमि अभिणिक्खमंतंमि ॥५ ॥

संस्कृत-छाया— स देवलोकसदृशान्, अन्त पुरवरगतो वरान्भोगान् ।
भुक्त्वा नमिराजा, बुद्धो भोगान् परित्यजति ॥३ ॥
मिथिला सपुरजनपदां, बलमवरोधं च परिजन सर्वम् ।
त्यक्त्वाऽभिनिष्क्रान्तः, एकान्तमधिष्ठितो भगवान् ॥४ ॥
कोलाहलकभूतम्, आसीन्मिथिलायां प्रव्रजति (सति) ।
तदाराजर्षौ नमौ, अभिनिष्क्रामति ॥५ ॥

पद्यानुवाद— सुरलोकसदृश वर भोगो का, अन्त पुर मे उपभोग किया ।
कर भोग बुद्ध नमिराजा ने, मन से भोगो का त्याग किया ॥३ ॥
जनपदयुत प्रिय मिथिला नगरी, सेना, रनिवास तथा परिजन ।
सब छोड शान्तिपथ निकल पडे, एकान्तवास मे स्थिर कर मन ॥४ ॥
मिथिला मे कोलाहल छाया, जब नमि प्रव्रज्या हेतु चला ।
राजर्षि छोड तब राजविभव, संयमपथ पकडा बहुत भला ॥५ ॥

अन्वयार्थ—से नमिराया— वे (पूर्वोक्त) नमिराज, **अंतेउरवरगओ—** अपने श्रेष्ठ अन्तःपुर मे रहे हुए, **देवलोगसरिसे वरे भोए—** देवलोक के भोगो के सदृश सुन्दर भोगो को, **भुंजित्तु—** भोग कर (एक दिन) **बुद्धे—** प्रतिबुद्ध हुए। (और उन्होने) **भोगे—** भोगो का, **परिच्चयई—** परित्याग किया ॥३ ॥

भयवं— भगवान् नमिराज ने, **सपुर-जणवयं मिहिलं—** पुरी और जनपद सहित मिथिला नगरी, **बलं—** सेना, **ओरोहं—** अन्तःपुर, **च—** और, **सव्वं परियणं—** समस्त परिजनो को, **चिच्चा—** छोड़कर, **अभिनिक्खंतो—** अभिनिष्क्रमण किया और **एगंतमहिट्ठिओ—** एकान्तवासी बने ॥४ ॥

(जिस समय) **नमिंमि रायरिसिंमि अभिणिक्खमंतंमि—** नमिराजर्षि अभिनिष्क्रमण करके, **पव्वयंतंमि—** प्रव्रजित हो रहे थे, **तइया—** उस समय, **मिहिला—** मिथिला मे, **कोलाहलगभूयं—** सर्वत्र बहुत कोलाहल, **आसी—** हो रहा था ॥५ ॥

विवेचन—राग के पंक में वैराग्यकमल— प्रस्तुत दो गाथाओ (३-४) मे प्रबल राग के समस्त साधनो का उल्लेख करके यह बताया गया है कि दिव्यभोग सदृश अन्त पुर के मनोज्ञ शब्दादि भोग, नगर, जनपद सहित राजधानी मिथिला, सेना, अन्त पुर एवं समस्त परिजन

वर्ग जो कि प्रबल रागस्थान थे, नमिराजर्षि वैराग्यकमलवत् उनसे निर्लिप्त रहे और एक ही झटके मे इन सबका परित्याग कर दिया, एवं मुनि दीक्षा के लिए घर से निकल पडे ।

राजर्षि : स्वरूप— (१) नमि को राजा तथा राज्यावस्था को लेकर उस समय की अपेक्षा ऋषि होने से राजर्षि कहा गया है, अथवा (२) राज्यावस्था मे भी ऋषि की तरह ऋषि होने से वे राजर्षि थे । काम-क्रोधादि षट्रिपुओ पर विजय प्राप्त करने के कारण वे ऋषि-सम थे । जैसा कि राजनीति मे कहा गया है—

काम: क्रोधस्तथा लोभो, हर्षो मानो मदस्तथा ।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनं तस्मिंत्यक्ते सुखी नृप. ॥

काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, मान और मद, इस षड्वर्ग का त्याग कर देने पर राजा सुखी हो जाता है ।

(१) देवेन्द्र का ब्राह्मण रूप में आकर मिथिला के कोलाहल सम्बन्धी प्रश्न

मूल— अब्भुट्ठियं रायरिसिं, पव्वज्जाठाणमुत्तमं ।
सक्को माहणरूवेण[१] इमं वयणमब्बवी ॥६ ॥
किण्णु भो ! अज्ज मिहिलाए, कोलाहलगसंकुला ।
सुव्वंति दारुणा सद्दा, पासाएसु गिहेसु य ॥७ ॥

संस्कृत-छाया— अभ्युत्थित राजर्षि, उत्तम प्रव्रज्यास्थान (प्रति) ।
शक्रो ब्राह्मणरूपेण, इदं वचनमब्रवीत् ॥६ ॥
किन्नु भो अद्य ! मिथिलाया, कोलाहलकसकुला ।
श्रूयन्ते दारुणा शब्दा', प्रासादेषु गृहेषु च ॥७ ॥

पद्यानुवाद— ज्ञानादि गुणो की उच्चभूमि, उद्यत हो नमि ने गमन किया ।
विप्ररूपधारी सुरपति तब, निकट पहुँच यो कथन किया ॥६ ॥
राजर्षि ! आज इस मिथिला के, महलो मे पुर के घर-घर मे ।
दारुण कोलाहल मचा हुआ, क्यो बाल वृद्ध सबके स्वर मे ॥७ ॥

अन्वयार्थ—उत्तमं—उत्तम, **पव्वज्जाठाणं—** प्रव्रज्या-स्थान के लिए, **अब्भुट्ठियं—** अभ्युत्थित (उद्यत) **रायरिसिं—** नमि राजर्षि के पास, **सक्को—** देवेन्द्र (शक्र) ने, **माहणरूवेण—** ब्राह्मण के रूप मे आकर, **इमं वयणं—** यह वचन, **अब्बवी—** कहा ॥६ ॥

१. रूवेण— लुधियाना से प्रकाशित ।

भो !—हे राजर्षि ! **अज्ज**— आज, **मिहिलाए**—मिथिला नगरी के, **पासाएसु**— प्रासादो (महलों) मे, **य**— और, **गिहेसु**— घरो में, **कोलाहलगसंकुला**— कोलाहल से व्याप्त, **दारुणा सद्दा**— दारुण (हृदय विदारक) शब्द, **किण्णु**— क्यो, **सुव्वंति**— सुनाई दे रहे है ? ॥७ ॥

भावार्थ— उत्कृष्ट प्रव्रज्यारूपी सम्यग्दर्शनादि गुणो के स्थान (मुनिपद) के लिए अभ्युद्यत नमिराजर्षि को, ब्राह्मण के रूप मे आए हुए देवेन्द्र ने यह वचन कहा— ॥६ । ।

हे राजर्षि ! आज मिथिला नगरी के महलो और घरो मे कोलाहल से व्याप्त दारुण शब्द क्यो सुनाई दे रहे है ॥७ ॥

विवेचन— **इन्द्र ब्राह्मण-वेष में क्यों ?**— जिस समय नमिराजर्षि प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए कृतसंकल्प थे, उस समय उनका यह संकल्प पक्का है या कच्चा ? इसकी परीक्षा लेने के लिए स्वयं इन्द्र ब्राह्मण के रूप मे आया ।

नमिराजर्षि का उत्तर : मिथिलावासियों की आश्रयहीन पक्षियों से तुलना

मूल— **एयमट्ठं निसामित्ता, हेउ[1] कारणचोइओ ।**
तओ नमीरायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥८ ॥
मिहिलाए चेइए[2] वच्छे, सीयच्छाए मणोरमे ।
पत्त-पुप्फ-फलोवेए, बहूणं बहुगुणे सया ॥९ ॥
वाएण हीरमाणंमि, चेइयंमि मणोरमे ।
दुहिया असरणा अत्ता, एए कंदंति भो ! खगा ॥१० ॥

संस्कृत-छाया— एनमर्थ निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥८ ॥
मिथिलायां चैत्यवृक्षे, शीतच्छाये मनोरमे ।
पत्रपुष्पफलोपेते, बहूनां बहुगुणे सदा ॥९ ॥
वातेन ह्रियमाणे, चैत्ये मनोरमे ।
दुःखिता अशरणा आर्ताः, एते क्रन्दन्ति भो ! खगा. ॥१० ॥

पद्यानुवाद— हेतु और कारण प्रेरित यह, नमिराज अर्थ श्रुतिगोचर कर ।
सुरपति को बोले इस प्रकार, वाणी ज्ञानामृत से भर कर ॥८ ॥

१.हेऊ— तेरापंथ महासभा ।
२.चेइउ वच्छे— चैत्य और वृक्ष का अर्थ :चैत्य-वृक्ष तीन अर्थ— (१) चैत्यजाति का (वड़,पीपल आदि में से कोई) वृक्ष,(२) जिस वृक्ष के मूल में चैत्य (चबूतरा) बना हुआ हो और ऊपर झण्डा लगा हुआ हो, अथवा(३) चैत्य- उद्यान और वृक्ष । इनमें से अन्तिम अर्थ ही यहाँ अधिक मगत प्रतीत होता है ।

था चैत्यवृक्ष मिथिलापुर मे, सुन्दर शीतल छाया वाला ।
फल-पुष्प-पत्र से लदा हुआ, खगगणसेवित बहुगुण वाला ॥९ ॥
हे विप्र ! एक दिन हवा चली, वह चैत्यवृक्ष तब उखड गया ।
ये पक्षी रोते है आश्रित, जिनका सुनीड है उजड गया ॥१० ॥

अन्वयार्थ—एयं— देवेन्द्र के इस (पूर्वोक्त) **अट्ठं**— अर्थ (प्रश्न या बात) को, **निसामित्ता**— सुनकर, **तओ**— तदनन्तर, **हेउ-कारणचोइओ**— हेतु और कारण से प्रेरित हुए, **नमीरायरिसी**— नमिराजर्षि ने, **देविंदं**—देवेन्द्र को, **इणं**— इस प्रकार, **अब्बवी**—कहा ॥८ ॥

मिहिलाए— मिथिला नगरी मे (एक) **चेइए वच्छे**— चैत्य वृक्ष था, (वह) **सीयच्छाए**— शीतल छाया वाला, **मणोरमे**— मनोरम, **पत्त-पुप्फ-फलोवए**— पत्र, पुष्प और फलो से युक्त (तथा), **बहूणं**— बहुत-से पक्षियो के लिए, **सया**—सदा, **बहुगुणे**— बहुत गुणकारी (उपकारक) था ॥९ ॥

वाएण—प्रचण्ड वायु (ऑधी) से, **मणोरमे चेइयंमि हीरमाणंमि**—उस मनोहर चैत्यवृक्ष के उखड़ जाने (इधर-उधर फैके जाने) पर, **भो**— हे विप्र ! **दुहिया**—दु खी, और **असरणा**— शरणरहित होने से, **अत्ता**— आर्त्त (पीडित) हुए, **एए खगा**— ये पक्षी, **कंदंति**—आक्रन्द कर रहे है ॥१० ॥

भावार्थ— देवेन्द्र के इस (पूर्वोक्त) प्रश्न को सुनकर, तदनन्तर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमिराजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार कहा— ॥८ ॥

मिथिला मे एक चैत्यवृक्ष था, जो शीतल छाया वाला, मनोहर और पत्र, पुष्प एव फलो से युक्त था तथा बहुत-से पक्षियो के लिए सदा बहुत उपकारक था ॥९ ॥

वायुवेग से (आज) उस वृक्ष के उखड जाने पर हे ब्राह्मण ! ये दु खित, अशरण और पीड़ित पक्षी आक्रन्दन कर रहे है ॥१० ॥

विवेचन— हेउकारणचोइओ : व्याख्या— हेतु और कारण से प्रेरित । हेतु का लक्षण है— साध्य के अभाव मे जिसका अभाव निश्चित हो । जैसे इन्द्र का वाक्य है— "तुम्हारा अभिनिष्क्रमण अनुचित है, क्योकि उसके कारण समूची नगरी मे हृदयद्रावक कोलाहल हो रहा है ।" इसमे पहला अश प्रतिज्ञावचन (पक्ष) है जो साध्य है, तथा दूसरा अश है— प्रतिज्ञावचन का हेतु, जो अभिनिष्क्रमण के अनौचित्य को सिद्ध करता है । इसी प्रकार कारण उसे कहते हैं— जिसके अभाव मे कार्य की उत्पत्ति कथमपि सम्भव न हो, अर्थात् कार्य के सलग्न पूर्वक्षण मे जो नियतरूप से विद्यमान हो । प्रस्तुत मे इद्र ने कहा है— यदि तुम अभिनिष्क्रमण न करते तो इतना हृदयविदारक कोलाहल न होता । इस वाक्य मे कोलाहल

कार्य है और अभिनिष्क्रमण उसका कारण है (जो इन्द्र ने कहा)। इस हेतु और कारण से प्रेरित हुए थे— नमिराजर्षि।

उपमा-घटना— प्रस्तुत गाथा मे राजर्षि द्वारा चैत्यवृक्ष के उखड जाने पर पक्षीगण की दशा की तुलना नगरजनो से की गई है। वस्तुतः आत्मा चैत्यवृक्षवत् कल्पवृक्ष है। वृक्षाश्रित खगो की तरह स्वजन या नगरजन नियतकाल तक साथ रहकर तत्पश्चात् अपनी-अपनी गति के अनुसार पक्षियो की तरह अन्यत्र चले जाते है। जैसे— आँधी से वृक्ष के उखड जाने पर तदाश्रित पक्षीगण कोलाहल करते है, वैसे ही आत्मा के अन्यत्र जाने की स्थिति मे, तदाश्रित स्वजन या नगरजन अपने-अपने स्वार्थ की हानि की आशंका से क्रन्दन करते है।

इस प्रकार दारुण कोलाहल रूप कार्य का अभिनिष्क्रमण रूप कारण या हेतु असिद्ध है, क्योकि वह आक्रन्दन स्वार्थ हेतु है।

(२) महल और अन्तःपुर के जलने का प्रश्न : देवेन्द्र द्वारा प्रस्तुत

मूल— एयमट्ठं निसामित्ता, हेउ-कारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥११॥
एस अग्गी य वाऊ य, एयं डज्झइ मंदिरं।
भयवं! अंतेउरं तेणं, कीस णं नावपेक्खसि[1] ? ॥१२।

संस्कृत-छाया— एनमर्थ निशम्य, हेतुकारणचोदित.।
ततो नमि राजर्षि देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥११॥
एषोऽग्निश्च वायुश्च, एतद्दह्यते मन्दिरम्।
भगवन्! अतःपुर तेन, कस्मान्नावप्रेक्षसे ॥१२॥

पद्यानुवाद— हेतु और कारण प्रेरित, देवेन्द्र वचन श्रुतिगोचर कर।
राजर्षि नमि से यो बोले, अन्तर मे गहर चिन्तन कर ॥११॥
अग्नि पवन से 'प्रेरित हो यह', जला रही तव मन्दिर है।
भगवन्! क्यो नही देख रहे है? अन्त पुर जो जलने पर है ॥१२॥

अन्वयार्थ— एयमट्ठं निसामित्ता— नमिराजर्षि का अर्थ (उत्तर) सुनकर, **हेउकारणचोइओ देविंदो—** हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र, **तओ—** फिर, **नमिंरायरिसिं—** नमिराजर्षि से, **इणमब्बवी—** इस प्रकार बोला ॥११॥

---

१. पेक्खह— लुधियाना से प्रकाशित।

भयवं— भगवन् ! **एस अग्गी**— यह अग्नि, **य**— और, **वाऊ य**—यह वायु है । **एयं**— (इनसे आपका) यह, **मंदिरं**— राजभवन, **डज्झइ**— जल रहा है । **तेणं**—फिर (आप) **अंतेउरं**— अपने अन्त पुर की ओर, **कीस णं न**— क्यो नही, **अवपेक्खसि ?**— देखते ? (जो कि धू-धू करके जल रहा है ।) ॥१२ ॥

भावार्थ— नमिराजर्षि द्वारा दिये गये उत्तर को सुनकर तब हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमिराजर्षि से इस प्रकार कहा— ॥११ ॥

भगवन् ! यह अग्नि है और यह हवा है, इनसे आपका यह राजभवन जल रहा है, फिर आप अपने (जलते हुए) अन्त पुर की ओर क्यो नही देखते ? ॥१२ ॥

मिथिला आदि से निर्लिप्तता : नमिराजर्षि का उत्तर

मूल— **एयमट्ठं निसामित्ता, हेउ [1] कारणचोइओ ।**
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥१३ ॥
सुहं वसामो जीवामो, जेसिं मो नत्थि किंचणं ।
मिहिलाए डज्झमाणिए, न मे डज्झइ किंचण [2] ॥१४ ॥
चत्त-पुत्त-कलत्तस्स, निव्वावारस्स भिक्खुणो ।
पियं न विज्जई किंचि, अप्पियं पि न विज्जए ॥१५ ॥
बहुं खु मुणिणो भद्दं, अणगारस्स भिक्खुणो ।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स, एगंतमणुपस्सओ ॥१६ ॥

संस्कृत-छाया— एतमर्थ निशम्य, हेतुकारणचोदित ।
ततो नमी राजर्षि, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥१३ ॥
सुख वसामो जीवाम, येषा नो नास्ति किंचन ।
मिथिलायां दह्यमानाया, न मे दह्यते किचन ॥१४ ॥
त्यक्तपुत्रकलत्रस्य, निर्व्यापारस्य भिक्षोः ।
प्रिय न विद्यते किचित्, अप्रियमपि न विद्यते ॥१५ ॥
बहु खलु मुनेर्भद्र, अनगारस्य भिक्षो ।
सर्वतो विप्रमुक्तस्य, एकान्तमनुपश्यत ॥१६ ॥

पद्यानुवाद— यह हेतु और कारण-प्रेरित नमिराज अर्थ श्रुतिगोचर कर ।
सुरपति से बोले इस प्रकार, अन्तर मे गहरा चिन्तन कर ॥१३ ॥

१. हेऊ— तेरापथ महासभा ।
२ किंचण— लुधियाना से प्रकाशित ।

हम सुख से बसते जीते है, ना यहाँ हमारा कुछ भी है ।
मिथिला के जलने से मेरा, जलता न यहाँ पर कुछ भी है ॥१४ ॥
पत्नी-पुत्रादिक के त्यागी, व्यवसायविरत जो भिक्षुक है ।
प्रिय-अप्रिय कुछ भी न यहाँ, मिट गई चाह जिनकी सब है ॥१५ ॥
है बहुत भद्र उस मुनिवर के, भिक्षाजीवी अनगारी के ।
सकल संग से विप्रमुक्त, एकान्तरूप सुखधारी के ॥१६ ॥

अन्वयार्थ—तओ— तत्पश्चात्, **एयमट्ठं निसामित्ता—** इन्द्र के द्वारा प्रस्तुत यह (पूर्वोक्त) प्रश्न सुनकर, **हेउकारणचोइओ नमी रायरिसी—** हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमिराजर्षि ने, **देविंदं—** देवेन्द्र को, **इणमब्बवी—** इस प्रकार कहा— ॥१३ ॥

जेसिं— जिनके पास, **मो—** 'मेरा' (अपने जैसा), **किंचण नत्थि—** कुछ भी नही है, (ऐसे हम लोग) **सुहं वसामो जीवामो—** सुख से रहते है, सुख से जीते है । (अतः) **मिलिहाए डज्झमाणीए** = मिथिला के जलने से, **मे किंचण न डज्झइ** = मेरा (अपना) कुछ भी नही जल रहा है ॥१४ ॥

निव्वावारस्स भिक्खुणो चत्तपुत्तकलत्तस्स— पुत्र एवं पत्नी के त्यागी और गृह व्यापार से मुक्त भिक्षु के लिए, **किंचि पियं न विज्जइ—** कोई वस्तु प्रिय नही होती, **अप्पियं पि न विज्जए—** न ही कोई वस्तु अप्रिय होती है ॥१५ ॥

सव्वओ— समस्त संग (ममत्व सम्बन्धो) से, **विप्पमुक्कस्स—** विमुक्त, **एगंतमणुपस्सओ—** एकान्तद्रष्टा (मैं अकेला ही हूँ, इस प्रकार एकान्तदर्शी) **अणगारस्स भिक्खुणो—** गृहत्यागी, भिक्षाजीवी, **मुणिणो—** मुनि को, **बहुं खु भद्दं** = बहुत ही भद्र (सुख) है ॥१६ ॥

विवेचन— मो नत्थि किंचण : व्याख्या— इन्द्र द्वारा प्रस्तुत पूर्वोक्त हेतु और कारण को असिद्ध करते हुए नमिराजर्षि कहते है कि अत:पुर, राजभवन आदि कोई भी सासारिक सजीव-निर्जीव वस्तु अपनी नही है । क्योकि कहा है— "मै अकेला हूँ; यहाँ मेरा कोई भी अपना या पराया नही है क्योकि जीव अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है ।' जो अपनी वस्तु नही होती, उसके लिए कौन प्राणी दु:खी होता है ? कहा भी है—

एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥

केवल एक शाश्वत आत्मा ही मेरा है, जोकि ज्ञान-दर्शन से संयुक्त है शेष सब बाह्य (पर) भाव है, उन सबके साथ सयोग सम्बन्ध है । पर (संयोग सम्बन्ध युक्त) पदार्थो को अपना मानना अज्ञान है । इसलिए अन्त:पुर आदि पक्ष मे स्वत्वरूप हेतु का सद्‌भाव न रहने से इन्द्र

द्वारा प्रस्तुत हेतु असिद्ध है, क्योकि ज्ञानादि के सिवाय पर-वस्तु मे स्वत्व है ही नही ।

पुत्र- कलत्रादि सजीव पदार्थ भी अपने नहीं— जो स्त्री-पुत्रादि का परित्यागी है और कृषि, वाणिज्य, गृहकार्य आदि सावद्य व्यापारो से जो विरक्त हो चुके है उनकी भी कोई (लौकिक सजीव या निर्जीव) वस्तु अपनी न होने से कोई लौकिक वस्तु प्रिय अथवा अप्रिय नही होती । वे सभी लौकिक वस्तुओ पर समभाव रखते हैं ।

एकत्वदर्शी निःसंग अनगार को दुःख कहाँ ?— जब व्यक्ति सजीव-निर्जीव पर वस्तु को अपनी मानता है, तभी उनके सयोग-वियोग मे, इष्ट-अनिष्ट मे अथवा बनने-बिगडने पर दुःख होता है, जब एक मात्र शाश्वत आत्मा को ही अपना मानकर चलता है, तब उसे दुःख क्यो होगा ?

(३) इन्द्र द्वारा नगर सुरक्षा की ओर अंगुलि निर्देश

मूल— एयमट्ठं निसामित्ता हेऊ[१] कारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥१७ ॥
पागारं कारइत्ताणं, गोपुरट्टालगाणि य ।
उस्सूलगसयग्घीओ, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥१८ ॥

संस्कृत-छाया— एतमर्थ निशम्य, हेतुकारणचोदित ।
ततो नमि राजर्षि, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥१७ ॥
प्राकार कारयित्वा, गोपुराट्टालकानि च ।
उत्सूलका· शतघ्नी , ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥१८ ॥

पद्यानुवाद— यह हेतु और कारणप्रेरित, देवेन्द्र, वचन श्रुतिगोचर कर ।
राजर्षि नमि को यो बोले, अन्तर मे गहरा चिन्तन कर ॥१७ ॥
राजन् ! परकोटा पुरद्वार, खाई शतमारक अस्त्र बना ।
फिर चाहो तुम मुनि बन जाना, एकान्त तपी और शुद्धमना ॥१८ ॥

अन्वयार्थ—एयमट्ठं— यह बात, **निसामित्ता—** सुनकर, **हेऊकारणचोइओ देविंदो—** हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने, **तओ—** फिर, **नमि रायरिसिं—** नमि राजर्षि को, **इणमब्बवी—** इस प्रकार कहा- ॥१७ ॥

१. हेउ— लुधियाना से प्रकाशित ।

"**खत्तिया !**— हे क्षत्रिय ! (पहले तुम), **पागारं**— प्राकार (परकोटा), **गोपुरट्टालगाणि**— गोपुर-नगरद्वार अट्टालिकाएँ, **य**—और, **उस्सूलग-सयग्घीओ**— दुर्ग की खाई एव शतघ्नी-शतमारक शस्त्र, **कारइत्ताणं**— बनवाकर, **तओ**— तब, **गच्छसि**— दीक्षा के लिए जाना, (प्रव्रजित होना) ॥१८ ॥

विवेचन— नमिराजर्षि द्वारा प्रस्तुत हेतु और कारण—हेतु— (पूर्वगाथाओ मे) परिग्रह मोक्षाभिलाषियो के लिए त्याज्य है, क्योकि वह नरकादि अनर्थ का हेतु है । हिसादि इसी तरह — कारण— पापो को तरह परिग्रह नरकादि अनर्थ रूप कार्य का कारण है ।

इन्द्र द्वारा प्रस्तुत हेतु और कारण— 'आपको नगर की रक्षा करनी चाहिए, क्योकि आप क्षत्रिय है भरतादिवत् । जो क्षत्रिय होता है, वह नगर-रक्षा के लिए सावधान होता है, आप भी क्षत्रिय है, इत्यादि हेतु वाक्य है तथा पुररक्षा के बिना क्षत्रियत्व की अन्यथानुपपत्ति है यह कारण है ॥

नमिराजर्षि का उत्तर : आत्मनगर की सुरक्षा के रूपक द्वारा

मूल— एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊ[१] कारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥१९ ॥
सद्धं नगरं किच्चा, तव-संवरमग्गलं ।
खंति निउणपागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसयं ॥२० ॥
धणुं परक्कमं किच्चा, जीवं च ईरियं सया ।
धिइं च केयणं किच्चा, सच्चेण पलिमंथए[२] ॥२१ ॥
तवनारायजुत्तेण भित्तूणं[३] कम्मकंचुयं ।
मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चए ॥२२ ॥

संस्कृत-छाया— एतमर्थ निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षि, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥१९ ॥
श्रद्धां नगरं कृत्वा, तप. सवरमर्गलाम् ।
क्षान्ति निपुणप्राकारं, त्रिगुप्त दुष्प्रधर्षिकम् ॥२० ॥
धनुः पराक्रमं कृत्वा, जीवा चेर्या सदा ।
धृतिं च केतनं कृत्वा, सत्येन परिमथ्नीयात् ॥२१ ॥

१. हेउ— लुधियाना से प्रकाशित ।
२. परिमंथए—लुधियाना से प्रकाशित ।
३. भेत्तूणं— तेरापंथ महासभा ।

तपोनाराचयुक्तेन, भित्त्वा कर्मकचुकम् ।
मुनिर्विगतसग्राम, भवात्परिमुच्यते ॥२२ ॥

पद्यानुवाद— यह हेतु और कारण प्रेरित, नमिराज, अर्थ श्रुतिगोचर कर ।
सुरपति को बोले चिन्तन कर वाणी, ज्ञानामृत से भर कर ॥१९ ॥
श्रद्धा नगर तप की आगल, सयम का दृढ क्षान्ति प्राकार ।
मन-वाणी-काया से गोपित, रक्षा का मुनिवर करे विचार ॥२० ॥
धनुष पराक्रम का करके, ईर्या को उसकी डोर करे ।
धृति को मूठ बना कर उसकी, बाध सत्य से जोर धरे ॥२१ ॥
तप का तीर चढा धनु ऊपर, कर्मो का कचुक भेद चले ।
हो मुक्त श्रमण इस सगर[१] मे, ससार भ्रमण का अन्त करे ॥२२ ॥

अन्वयार्थ—एयमट्ठं निसामित्ता— देवेन्द्र की यह (पूर्वोक्त) बात सुनकर, **हेऊकारणचोइओ**— हेतु और कारण से प्रेरित, **नमिरायरिसी**—नमिराजर्षि ने, **तओ**— फिर, **देविंदं**— देवेन्द्र को, **इणमब्बवी**— इस प्रकार कहा— ॥१९ ॥

सद्धं नगरं—श्रद्धा को नगर, **तवसंवरमग्गलं**— तप और सवर की अर्गला, **खंति**— क्षान्ति को, **तिगुत्तं**— बुर्ज, खाई और शतघ्नीरूप तीन गुप्तियो से सुरक्षित (गुप्त) एव, **दुप्पधंसयं**— दुष्प्रधर्ष (अजेय) एव **निउणपागारं**— सुदृढ प्राकार (परकोटा) **किच्चा**— बना कर— ॥२० ॥

परक्कमं धणुं— पराक्रम को धनुष, **च**— और, **ईरियं सया जीवं**— ईर्यासमिति को सदा उसकी डोर, **च**— तथा, **धिइं केयणं**— धृति को उसकी मूठ, **किच्चा**— बनाकर (एव) **सच्चेण पलिमंथए**— सत्य से उसे बाधे ॥२१ ॥

तवरानायजुत्तेण— तपरूपी बाण से युक्त धनुष से, **कम्मकंचुयं भित्तुणं**— कर्मरूपी कवच को भेदकर, **विगयसंगामो**— बाह्यसग्राम से रहित (किन्तु अतरग सग्राम का विजेता), **मुणी**— मुनि, **भवाओ**— ससार से, **परिमुच्चए**— सर्वथा मुक्त हो जाता है ॥२२ ॥

विवेचन— आध्यात्मिक नगर की सुरक्षा द्वारा अन्तर्युद्ध विजेता मुनि— प्रस्तुत तीन गाथाओ मे नमिराजर्षि ने इन्द्र के द्वारा प्रस्तुत हेतु और कारण को असिद्ध बताते हुए आत्मिक नगरी की सुरक्षा को रूपक द्वारा सिद्ध किया है— कि मुनि को बाह्यसंग्राम से कोई प्रयोजन नही, क्योकि बाह्यसग्राम मे हिसा है, कोट, किला, नगरद्वार, खाई, शतघ्नी आदि साधनो के निर्माण मे भी हिंसा होती है, और फिर नगरी ही अपनी नही, तब उसकी सुरक्षा करने का कोई प्रयोजन नही । अत मै श्रद्धा (सम्यग्दृष्टि) को अपनी आत्मनगरी बनाता हूँ, जो कि

१. संगर का अर्थ है— युद्ध

का प्रधान द्वार स्वरूप बनाता हूँ तथा बारह प्रकार के तप और आश्रवनिरोधरूप सवर को इसका अर्गलासहित कपाट बनाता हूँ, तत्पश्चात् श्रद्धारूपी नगरी को ध्वस्त करने वाली अनन्तानुबन्धी कषाय की अवरोधकरूप मार्दवादि सहित क्षान्ति को समर्थ एवं सुदृढ प्राकार— (परकोटे सहित) गढ (कोट) बनाकर उसे बुर्ज, खाई एवं शतघ्नी रूप तीन गुप्तियो से सुरक्षित एवं अजेय बनाता हूँ, ताकि मिथ्यात्वादि शत्रु उसमे प्रवेश न कर सके ।

इसके पश्चात्— आन्तरिक युद्ध का वर्णन रूपक द्वारा प्रस्तुत किया है, जिसका निष्कर्ष यह है कि पूर्वोक्त आयुधो से सुसज्जित होकर मुनि कर्मशत्रुओ को सर्वथा छिन्न-भिन्न करके आन्तरिक सग्राम मे विजयी हो जाता है । फिर सग्राम से विरत हो जाता अर्थात् उसका युद्ध विजयी होने के पश्चात् स्वत· ही बन्द हो जाता है । तत्पश्चात् मुनि विषय-कषायादियुक्त संसार से छूट जाता है ।

कम्मकंचुयं : आशय— इस पद से शास्त्रकार बताते है कि कषायकलुषित आत्मा ही अपना शत्रु है जो कर्मरूपी कवच से आवृत एवं मिथ्यात्वादि प्रकृति के उदयवर्ती होता है, वही (आत्मा) श्रद्धानगरी का अवरोधक होता है । नमिराजर्षि का आशय यही है कि इस प्रकार आपके (इन्द्र के) द्वारा अभिमत प्राकारादि बनाने से बाह्यनगरी की सुरक्षा भी नही होती और न ही सकल शारीरिक, मानसिक क्लेश वियोगरूप मुक्ति प्राप्ति होती है । मैने जो श्रद्धारूपी आत्मनगरी की सुरक्षा का उपाय बताया है वही युक्तियुक्त है । इस प्रकार तुम्हारा (इन्द्र का) पूर्वोक्त हेतु और कारण असिद्ध है ।

(४) देवेन्द्र द्वारा विविध गृहादि-निर्माण की प्रेरणा

मूल—एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊ [१] कारण-चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥२३ ॥
पासाए कारइत्ताणं, वद्धमाणगिहाणि य ।
वालग्गपोइयाओ य, तओ गच्छसि खत्तिया ॥२४ ॥

संस्कृत-छाया— एतमर्थ निशम्य, हेतुकारणचोदित ।
ततो नमिं राजर्षि देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥२३ ॥
प्रासादान्कारयित्वा, वर्धमानगृहाणि च ।
वालाग्रपोतिकाश्च, ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥२४ ॥

१ हेउ— लुधियाना से प्रकाशित ।

पद्यानुवाद— यह हेतु और कारण प्रेरित, सुरराज अर्थ ऐसा सुन कर।
राजर्षि नमि को इस प्रकार, बोले फिर वचन भावो से भर ॥२३ ॥
बनवाओ प्रासाद भूप ! और वर्धमान सुन्दर शाला।
हो चन्द्रशाल उज्ज्वल शीतल फिर; मुनि हो खोलो मुक्ति ताला ॥२४ ॥

अन्वयार्थ—**एयमट्ठं निसामित्ता**— यह अर्थ सुनकर, **हेऊकारणचोइओ**— हेतु और कारण से प्रेरित, **देविंदो**— देवेन्द्र ने, **नमिं रायरिसिं**— नमिराजर्षि को, **इणमब्बवी**— इस प्रकार कहा— ॥२३ ॥

खत्तिया !— हे क्षत्रिय ! (पहले तुम), **पासाए**—प्रासाद, **य वड्ढमाणगिहाणि**— तथा वर्द्धमानगृह, **य**— और, **वालग्गपोइयाओ**— वलभी (चंद्रशालाएँ), **कारइत्ताणं**— बनवाकर, **तओ**— फिर, **गच्छसि**— दीक्षा के लिए जाना ॥२४ ॥

विवेचन—नमिराजर्षि द्वारा सूचित हेतु और कारण— श्रद्धारूपी आत्मनगरी रक्षणीय है, क्योकि वही मुक्ति का हेतु है। जो-जो मुक्ति का हेतु होता है, वह रक्षणीय होता है, जैसे सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। यह हेतु वाक्य है। श्रद्धा रूप आत्मनगरी के बिना मुक्ति हेतुत्व घटित नही हो सकता, यह कारण है।

वालग्गपोइयाओ— 'वालग्गपोइया' देशी शब्द है, उसका 'वलभी' अर्थ टीकाकारो ने किया है। वर्तमान मे उसे चन्द्रशाला, या तालाब के मध्य मे निर्मित छोटा महल, जल-महल या हवा-महल कह सकते है।

इन्द्र-प्रस्तुत हेतु और कारण— 'आप प्रासादादि निर्माता है,' क्योकि प्रेक्षावान् है, जैसे ब्रह्मदत्तादि। जो प्रेक्षावान् (अपने वशजों के उज्ज्वल भविष्य पर विचार करने वाला) होता है, वह प्रासादादि बनवाता है। यह हेतु है, और प्रासादादि बनवाए बिना प्रेक्षावत्व घटित नही हो सकता, यह कारण है।

नमिराजर्षि का उत्तर : मोक्ष में शाश्वत गृह बनाना उचित

मूल— **एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊ[१] कारणचोइओ।**
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥२५ ॥
संसयं खलु सो कुणई, जो मग्गे कुणई घरं।
जत्थेव गंतुमिच्छेज्जा, तत्थ कुव्वेज्ज सासयं ॥२६ ॥

संस्कृत-छाया— एतमर्थ निशम्य, हेतुकारणचोदित।
ततो नमी राजर्षि-, देवेन्द्रमिदमब्रवीत्

१ हेउ— लुधियाना से प्रकाशित।

सशय खलु स कुरुते, यो मार्गे कुरुते गृहम् ।
यत्रैव गन्तुमिच्छेत्, तत्रैव कुर्वीत् शाश्वतम् ॥२६ ॥

पद्यानुवाद— यह हेतु और कारण-प्रेरित, नमिराज अर्थ मन मे लेकर ।
सुरपति को बोले इस प्रकार, वाणी अनमोल ज्ञान से भर ॥२५ ॥
संशय निश्चय वह करता है, जो पथ मे ही बनवाता घर ।
जाने की इच्छा जहाँ वहाँ, बनवाए अपना शाश्वत घर ॥२६ ॥

अन्वयार्थ— एयमट्ठं निसामित्ता— इन्द्र की यह बात सुनकर, **हेऊकारणचोइओ नमी रायरिसी**— हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमिराजर्षि, **तओ**— फिर, **देविंदं**— देवेन्द्र को, **इणमब्बवी**— इस प्रकार बोले ॥२५ ॥

जो— जो, **मग्गे**— मार्ग मे, **घरं कुणई**—घर बनाता है, **सो**— वह, **खलु संसयं**— संशय ही, **कुणई**— करता रहता है, (कि न मालूम मुझे कब जाना पड़ेगा), **जत्थ**— जहाँ, **गंतुमिच्छेज्जा**— जाने की इच्छा हो, **तत्थ**— वही, **सासयं**— (अपना) स्थायी (शाश्वत आश्रय) बनाना चाहिए ॥२६ ॥

भावार्थ— इन्द्र की यह बात सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित नमिराजर्षि पुन. देवेन्द्र से इस प्रकार बोले— ॥२५ ॥

मार्ग मे वही घर बनाता है, जिसके मन मे मजिल पर पहुँचने का सशय है । अतः जहाँ (जिस गन्तव्यस्थान तक) जाने की इच्छा (पहुँचना) हो, वही बुद्धिमान को अपना शाश्वत घर बनाना चाहिए (ताकि वहाँ पहुँचने पर फिर कही जाना न पडे) ॥२६ ॥

विवेचन—संसयं— संशय— यह ऐसा होगा या नही होगा ? इस प्रकार दोनो अशो की तरफ झुकाव या मन की डॉवाडोल स्थिति संशय होता है । जो मार्ग मे घर वनाता है— अर्थात्— ससार मे ही रहता है वही सदिग्ध स्थिति मे रहता है । मै (नमि) सशयग्रस्त नहीं हूँ क्योकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि मुक्ति के अवश्यम्भावी कारण हैं, इसलिए मैं सम्यग्दर्शनादि का आश्रय लेकर निश्चिन्त हो गया हूँ ।

आशय यह है कि यहाँ (संसार में) रहना मार्ग मे घर बनाना है, और जहाँ पहुँचना है, मुक्तिपद है । मुक्तिरूप घर बनाने मे हम प्रवृत्त ही है । हमारी प्रेक्षावत्ता मे कोई क्षति नहीं अतः आपके द्वारा (इन्द्र द्वारा) सूचित हेतु असिद्ध है ।

(५) इन्द्र द्वारा नगर में शान्ति की प्रेरणा

मूल— एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊ[1] कारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥२७ ॥

१. हेउ— लुधियाना से प्रकाशित ।

आमोसे लोमहारे [१] य, गंठिभेए य तक्करे।
नगरस्स खेमं काऊणं, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥२८ ॥

संस्कृत-छाया— एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदित ।
ततो नमिं राजर्षिं देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥२७ ॥
आमोषान् लोमहरान्, ग्रंथिभेदाँश्च तस्करान् ।
नगरस्य क्षेमं कृत्वा, ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥२८ ॥

पद्यानुवाद— यह हेतु और कारण प्रेरित, सुरराज अर्थ ऐसा सुनकर ।
राजर्षि नमि को इस प्रकार, बोले फिर वचन भाव से भर ॥२७ ॥
चोर लुटेरे गठकट्टो से, जन-जन को निर्भय करना ।
करके क्षेम नगरजन मे फिर, हे क्षत्रिय ! मुनिपथ पद धरना ॥२८ ॥

अन्वयार्थ—एयमट्ठं निसामित्ता— नमि राजर्षि की यह (पूर्वोक्त) बात सुनकर, **हेऊकारणचोइओ देविंदो—** हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने, **तओ—** तत्पश्चात्, **नमिं रायरिसिं—** नमि राजर्षि से, **इणमव्बवी—** इस प्रकार कहा— ॥२७ ॥

खत्तिया—हे क्षत्रिय ! (पहले तुम), **आमोसे—** लुटेरो, **लोमहारे—** प्राणघातक डाकुओ, **गंठिभेए—** गिरहकटो (या गाँठ काटने वालो), **य—** और, **तक्करे—** तस्करो (—चोरो) से, **नगरस्स खेमं—** नगर मे क्षेम (अमन-चैन स्थापित), **काऊणं—** करके, **तओ—** फिर, **गच्छसि—** जाना (साधु हो जाना) ॥२८ ॥

भावार्थ— नमिराजर्षि द्वारा सूचित अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने फिर नमिराजर्षि से इस प्रकार कहा— ॥२७ ॥

हे राजन् ! पहले आप लुटेरो (बटमारो), प्राण हरण करके छीन लेने वाले डाकुओ, गठकटो एव तस्करो से नगर की सुरक्षा (अथवा नगर मे शाति स्थापित) करके फिर प्रव्रजित होना ॥२८ ॥

इन्द्र-प्रेरित हेतु एवं कारण— आप धार्मिक राजा है, इसलिए आपको अधार्मिक उपद्रवकारियो का निग्रह करना चाहिए। जो धार्मिक राजा होता है, वह अधर्म करने वालो का निग्रह करता है। जैसे भरत चक्रवर्ती, यह हेतु है, अधार्मिको का निग्रह न करने से आप धार्मिक राजा नही हो सकते, यह कारण है।

---

१. विवेचन— लोमहारे : दो अर्थ— (१) जो प्राणियों के रोम-रोम हरण कर लेते हैं, अर्थात्— अत्यन्त निर्दयता से अपने घात की आशंका से दूसरे के प्राण हरण करके जो सर्वस्व हरण कर लेते हैं। अथवा (२) लोम अर्थात् प्राणों का हरण करने वाले हत्यारे।

नमिराजर्षि द्वारा उत्तर : संसार में मिथ्यादण्ड का प्रवर्त्तन

मूल— **एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊ[1] कारणचोइओ।**
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥२९॥
असइं तु मणुस्सेहिं, मिच्छादण्डो पजुञ्जई।
अकारिणोऽत्थ[2] बज्झंति, मुच्चई कारओ जणो ॥३०॥

संस्कृत-छाया— एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदित:।
ततो नमी राजर्षिः देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥२९॥
असकृत्तु मनुष्यैः, मिथ्यादण्डः प्रयुज्यते।
अकारिणोऽत्र बध्यन्ते, मुच्यते कारको जनः ॥३०॥

पद्यानुवाद— यह हेतु और कारण-प्रेरित, नमिराज अर्थ श्रुतिगोचर कर।
सुरपति से बोले इस प्रकार, वाणी ज्ञानामृत से भर कर ॥२९॥
बहुत बार मानव से भ्रमवश, मिथ्यादण्ड दिये जाते है।
दण्डित होते है निरपराध, दोषी पूरे बच जाते है ॥३०॥

अन्वयार्थ— **एयमट्ठं निसामित्ता—** यह अर्थ सुनकर, **हेऊकारणचोइओ—** हेतु और कारण से प्रेरित हुए, **नमी रायरिसी—** नमि राजर्षि ने, **तओ—** फिर, **देविंदं—** देवेन्द्र से, **इणमब्बवी—** इस प्रकार कहा- ॥२९॥

अन्वयार्थ— इस लोक मे, **मणुस्सेहिं—** मनुष्यो के द्वारा, **असइं—** अनेक बार, **मिच्छादण्डो—** मिथ्यादण्ड का, **पजुञ्जई—**प्रयोग किया जाता है (इस कारण) **अकारिणो—** अपराध न करने वाले, **बज्झंति—** पकडे (बॉधे) जाते है, (किन्तु) **कारओ जणो—** सही अपराधीजन, **मुच्चई—** छूट जाते है ॥३०॥

भावार्थ— यह अर्थ सुनकर इन्द्र सूचित हेतु और कारण (पूर्वोक्त) से प्रेरित नमिराजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

संसार मे अनेक बार न्यायाधिकारी पुरुषो द्वारा मिथ्यादण्ड का प्रयोग किया जाता है। जहाँ निरपराधी पकड़े व दण्डित किये जाते है, और हिसा, चोरी आदि करने वाले असली अपराधी छूट जाते है।

१. हेउ— लुधियाना से प्रकाशित।
२. अकारिणो वज्झंति : आशय— चोरी आदि अपराध न करने वाले हथकडियों वेडियों द्वारा नियन्त्रित किये (बाँधे) जाते हैं।

(६) स्वतन्त्र राजाओं को जीतने की इन्द्र द्वारा प्रेरणा

मूल— एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊ[१] कारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥३१ ॥
जे केइ पत्थिवा ! तुब्भं, [२] नानमंति नराहिवा।
वसे ते ठावइत्ताणं, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥३२ ॥

संस्कृत-छाया— एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः।
ततो नमिं राजर्षि, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥३१ ॥
ये केचन पार्थिवास्तुभ्य, न नमन्ति नराधिप !
वशे तान्स्थापयित्वा, ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥३२ ॥

पद्यानुवाद— यह हेतु और कारण प्रेरित, देवेन्द्र वचन श्रुतिगोचर कर।
राजर्षि नमि से यो बोले, अन्तर मे गहरा चिन्तन कर ॥३१ ॥
हे नरपति ! तेरे सम्मुख जो, भूपाल नही नीचे झुकते।
वश मे पहले उनको करके, अच्छा होता, फिर मुनि बनते ॥३२ ॥

अन्वयार्थ—एयमट्ठं निसामित्ता— राजर्षि नमि की पूर्वोक्त बात सुनकर, **हेऊकारणचोइओ—** (पूर्वोक्त) हेतु और कारण से प्रेरित हुए, **देविंदो—** देवेन्द्र ने, **तओ—** फिर, **नमिं रायरिसिं—** नमि राजर्षि से, **इणमब्बवी—** इस प्रकार कहा— ॥३१ ॥

नराहिवा खत्तिया— हे क्षत्रिय नराधिप !, **जे केइ पत्थिवा—** जो कोई पार्थिव (राजा), **तुब्भं—** तुम्हारे आगे, **नानमंति—** नही नमते (झूकते), **ते—**उन्हे , **वसे ठावइत्ताणं—**वश मे (जीत) करके फिर प्रवज्या करने हेतु, **गच्छसि—** जाना ॥३२ ॥

भावार्थ— नमिराजर्षि की पूर्वोक्त बात सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित होकर इन्द्र ने उनसे पुन· इस प्रकार कहा— ॥३१ ॥

हे नराधिप क्षत्रिय ! जो कोई राजा आपके आगे नही झुकते पहले उन्हे वश (जीत) मे करके फिर दीक्षा ग्रहण करने के लिए जाना ॥३२ ॥

राजर्षि द्वारा आत्म-विजय ही सच्ची विजय है, यह निर्देश

मूल— एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊ [३] कारण-चोइओ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥३३ ॥

---

१. हेउ— लुधियाना से प्रकाशित।
२ तुज्झ— लुधियाना से प्रकाशित।
३ हेउ— लुधियाना से प्रकाशित।

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे[१] ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥३४ ॥
अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ ।
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥३५ ॥
पंचिंदियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोहं च ।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वं अप्पे जिए जियं ॥३६ ॥

संस्कृत-छाया— एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥३३ ॥
यः सहस्रं सहस्राणा, सग्रामे दुर्जये जयेत् ।
एकं जयेदात्मानं, एष तस्य परमो जयः ॥३४ ॥
आत्मनैव सह युद्ध्यस्व, किं ते युद्धेन बाह्यतः ।
आत्मनैवात्मान, जित्वा सुखमेधते ॥३५ ॥
पंचेन्द्रियाणि क्रोध, मान मायां तथैव लोभ च ।
दुर्जयं चैवमात्मानं, सर्वमात्मनि जिते जितम् ॥३६ ॥

पद्यानुवाद— यह हेतु और कारण प्रेरित, नमिराज अर्थ श्रुतिगोचर कर ।
सुरपति को बोले इस प्रकार, वाणी ज्ञानामृत से भर कर ॥३३ ॥
दुर्जय रण मे दस लाख सुभट, पर सहर्ष विजय को पाता है ।
अपने पर एक विजय करता, वह परमजयी कहलाता है ॥३४ ॥
कर युद्ध स्वयं से बाहर मे, लडने से क्या फल पाता है ।
अन्तर्मन से दुर्भाव जीत, मानव हर्षित सुख पाता है ॥३५ ॥
इन्द्रिय पॉच क्रोध, माया, मद, लोभ-दोष को जान लिया ।
दुर्जय आत्मविजय कर निज को, जीते सब जग जीत लिया ॥३६ ॥

अन्वयार्थ—**एयमट्ठं निसामित्ता**—इन्द्र-सूचित बात को सुनकर, **हेऊकारणचोइओ**—हेतु और कारण से प्रेरित, **नमीरायरिसी**— नमिराजर्षि ने, **तओ**— तब, **देविंदं**— देवेन्द्र को, **इणमब्बवी**— इस प्रकार कहा ॥३३ ॥

जे—जो, **दुज्जए संगामे**— दुर्जय सग्राम मे, **सहस्साणं सहस्सं**— दसलाख सुभटो को, **जिणे**—जीतता है; (उसकी अपेक्षा जो) **एगं अप्पाणं**— एक मात्र अपने को, **जिणेज्ज**— जीत लेता है, **एस**— यही, **से**—उसकी, **परमोजओ**— परम विजय है ॥३४ ॥

१ जिए— लुधियाना से प्रकाशित ।

अप्पाणमेव जुज्झाहि—स्वय अपने (आत्मा) से ही युद्ध करो, **ते**— तुम्हे, **बज्झेण जुज्झओ**— बाह्य युद्ध से, **किं**— क्या (लाभ)? **अप्पाणमेव**— आत्मा को ही, **अप्पाणं**—आत्मा(अपने) से, **जइत्ता**— जीतने पर (मनुष्य), **सुहमेहए**— वास्तविक सुख पाता है ॥३५ ॥

पंचिंदियाणि—पॉच इन्द्रियॉ, **कोहं**— क्रोध, **माणं**—मान, **मायं**—माया, **तहेव**—तथा, **लोहं**— लोभ, **च**— और, **अप्पाणं**— मन, (ये) **दुज्जयं**— दुर्जय है । **अप्पे जिए**— एक आत्मा को जीत लेने पर, **सव्वं जियं**— सब जीत लिये जाते है ॥३६ ॥

विवेचन—एगं जिणेज्ज अप्पाणं : आशय— जो एक मात्र दुराचार-दुष्कार्य-प्रवृत्त आत्मा को जीत लेता है, उसकी यह विजय, दस लाख सुभटो पर विजय पाने की अपेक्षा उत्कृष्ट विजय है । तात्पर्य यह है कि बाह्य युद्धो मे विजय पाना तो आसान है, मगर दुष्कृत्य मे प्रवृत्त अपनी आत्मा पर विजय पाना अतीव दुष्कर है । इसलिए आध्यात्मिक साधक को किसी पार्थिव आदि आत्मबाह्य पदार्थो को लेकर युद्ध करने से कोई लाभ नही है, उसे दुष्प्रवृत्त आत्मा के साथ ही स्वय को युद्ध करना है । क्योकि जो मुनि विषय-कषायो मे प्रवृत्त आत्मा को आत्मा से जीत लेता है, वह इस क्रिया से शाश्वत सुख—मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।

सव्वं अप्पे : आशय— आत्मा को जीत लेने पर सुख की प्राप्ति कैसे होती है ? इसके लिए शास्त्रकार स्पष्ट करते है— पंचेन्द्रिय-विषय, चार कषाय, और यह आत्मा (-मन) तथा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि ये सब एक आत्मा को जीत लेने पर जीत लिए जाते हैं । तात्पर्य यह है कि आत्मा ही दुर्जय है, इस दुर्जय आत्मा को जो मुनि जीत लेता है, वह इन मबको सुखपूर्वक जीत लेता है ।

सुहमेहए : दो अर्थ— (१) सुख पाता है, तथा—

(२) शुभ— पुण्य की वृद्धि करता है ।

श्रमण-निर्ग्रन्थ संस्कृति के प्रति स्थिरता की परीक्षा— अब तक की परीक्षाओ से इन्द्र ने जान लिया कि नमिराजर्षि ने राग-द्वेष-मोह का परिहार कर लिया है अत आगे की गाथाओ मे श्रमण-निर्ग्रन्थ सस्कृति के प्रति स्थिरता की परीक्षा करने के लिए इन्द्र की तत्परता प्रतीत होती है ।

(७) देवेन्द्र द्वारा ब्राह्मण संस्कृति विहित यज्ञादि की प्रेरणा

मूल— एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊ [1] कारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥३७ ॥

१ हेउ— लुधियाना से प्रकाशित ।

जइत्ता विउले जन्ने, भोइत्ता समण-माहणे।
दच्चा [1] भोच्चा य जट्ठा [2] य, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥३८॥

संस्कृत-छाया— एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः।
ततो नमिं राजर्षि, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥३७॥
याजयित्वा विपुलान् यज्ञान्, भोजयित्वा श्रमणान् ब्राह्मणान्।
दत्त्वा भुक्त्वा च इष्ट्वा च, ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥३८॥

पद्यानुवाद— यह हेतु और कारण प्रेरित; देवेन्द्र, वचन श्रुतिगोचर कर।
राजर्षि नमि को यों बोले, अन्तर मे गहरा चिन्तन कर ॥३७॥
विपुल यज्ञ का यजन कर दे, भोज्य श्रमण और ब्राह्मण को।
दो दान, भोग और यज्ञ करो, फिर पाना नृप ! मुनिजीवन को ॥३८॥

अन्वयार्थ— एयमट्ठं निसामित्ता— नमि राजर्षि की यह (पूर्वोक्त) बात सुनकर, **हेऊ-कारण-चोइओ—** हेतु और कारण से प्रेरित, **देविंदो—** देवेन्द्र ने, **तओ—** फिर, **नमिं रायरिसिं—** नमि राजर्षि को, **इणमब्बवी—** इस प्रकार कहा— ॥३७॥

खत्तिया !— हे क्षत्रिय !, **विउले जन्ने—** (पहले तुम) विपुल यज्ञ, **जइत्ता—** करा कर, **समण-माहणे—** श्रमणों और ब्राह्मणो को, **भोइत्ता—** भोजन कराकर, **य—** और, **दच्चा—** दान देकर, **भोच्चा—** (स्वयं मनोज्ञ शब्दादि) भोग भोगकर, **य—** और, **जट्ठा—** स्वयं यज्ञ करके, **तओ—** फिर, **गच्छसि—** (मुनि बनने हेतु) जाना ॥३८॥

विवेचन—ब्राह्मण संस्कृति की परम्परा— प्रस्तुत गाथा मे इन्द्र ने विप्ररूप मे नमिराजर्षि को विशाल यज्ञ, श्रमण-ब्राह्मण-भोजन, ब्राह्मणादि को गौ, भूमि, स्वर्णादि का दान, मनोज्ञ शब्दादि का उपभोग, राजर्षित्व-प्राप्ति के लिए स्वयं यज्ञ करना, इत्यादि ब्राह्मण सस्कृति की परम्परा की प्रेरणा दी है।

राजर्षि द्वारा दान की अपेक्षा संयम की श्रेयस्करता का प्रतिपादन

मूल— एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊ [3] कारणचोइओ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥३९॥
जो सहस्सं सहस्साणं, मासे-मासे गवं दए।
तस्सावि संजमो सेओ, अदिंतस्स वि किंचण ॥४०॥

१. दत्ता— लुधियाना से प्रकाशित।
२. जिट्ठा— लुधियाना से प्रकाशित।
१. हेउ— लुधियाना से प्रकाशित।

संस्कृत-छाया— एतमर्थ निशम्य, हेतुकारणचोदित ।
ततो नमी राजर्षि, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥३९ ॥
य सहस्र सहस्राणा, मासे मासे गवा दद्यात् ।
तस्मादपि सयम श्रेय, अददतोऽपि किंचन ॥४० ॥

पद्यानुवाद— यह हेतु और कारण-प्रेरित, नमिराज अर्थ ऐसा सुनकर ।
सुरपति को बोले इस प्रकार, फिर वचन अमूल्य ज्ञान से भर ॥३९ ॥
दस लाख गाय दे मास मास, यदि संयम से विरहित होकर ।
दे दान नही कुछ भी, पर है; सयम का मूल्य सदा बढकर ॥४० ॥

अन्वयार्थ— **एयमट्ठं निसामित्ता—** देवेन्द्रोक्त इस वचन को सुनकर, **हेऊकारणचोइओ नमिरायरिसी—** हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमिराजर्षि ने, **तओ—** फिर, **देविंदं—** देवेन्द्र से, **इणमब्बवी—** इस प्रकार कहा- ॥३९ ॥

जो— जो मनुष्य, **मासे-मासे—** प्रतिमास, **सहस्साणं सहस्सं गवं—** दस लाख गायो का, **दए—** दान करता है, **तस्सा वि—** उसके लिए भी, **संजमो सेओ—** सयम (पालन) श्रेयस्कर है, **किंचण अदिंतस्स वि—** चाहे वह कुछ भी दान न करे ॥४० ॥

विवेचन— राजर्षि द्वारा निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति की दृष्टि से उत्तर— यद्यपि विप्रवेषी इन्द्र ने राजर्षि के सामने ब्राह्मण सस्कृति की दृष्टि से यज्ञ, श्रमण-ब्राह्मण-भोजन, दान, भोग इन चार बातो की प्रेरणा दीथी, किन्तु नमिराजर्षि ने इन चारो मे से केवल 'दान' सम्बन्धी प्रेरणा का उत्तर दिया है, शेष बातो का उत्तर इसी मे समाविष्ट है । इसका कारण बताते हुए बृहद्वृत्तिकार कहते है कि ब्राह्मण सस्कृति मे उस युग मे गोदान आदि सर्वाधिक प्रचलित था, इसलिए दान सम्बन्धी प्रेरणा को प्रधानता देकर उसका उत्तर दिया गया है । शास्त्रकार का आशय यह है कि दान से तो परिमित प्राणियो की रक्षा होती है, जबकि सयम (सर्वविरति चारित्र) से सभी सावद्य योगो से विरति होने से षट्कायिक (समस्त) अनन्त जीवो की रक्षा होती है । इसलिए कुछ भी दान न देने की अपेक्षा संयम (सर्वविरतिचारित्र) पालन करना श्रेयस्कर बताया है ।

दान का निषेध फलित नहीं होता— कई लोग भ्रमवश इस गाथा का फलितार्थ यह निकालते है कि "अन्न वस्त्र गो आदि का दान (सावद्य) पापजनक है, इसलिए इनका दान नही करना चाहिए ।" यदि अन्न वस्त्रादि का दान शास्त्र-निषिद्ध है तो 'सहस्सं सहस्साण' आदि शास्त्रवचन असगत हो जाएगा, क्योकि इस गाथा का अभिप्राय न तो दान का निषेध करना है, और न ही दान को पापजनक बताना है किन्तु इसमे दान और संयम की सापेक्षिक तुलना की गई है कि दान संयम के तुल्य अथवा सयम के समकक्ष नही है । अर्थात् दान से भी सय (त्याग व अनासक्ति) उच्चतर है, श्रेष्ठतम है ।

(८) सन्यासाश्रम के प्रति दृढ़ता की परीक्षा के लिए गृहस्थाश्रम की प्रेरणा

मूल— एयमट्ठं निसामित्ता हेऊ[१] कारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥४१ ॥
घोरासमं चइत्ताणं, अन्नं पत्थेसि आसमं।
इहेव पोसहरओ, भवाहि मणुयाहिवा ! ॥४२ ॥

संस्कृत-छाया— एतमर्थ निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमिं राजर्षि, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥४१ ॥
घोराश्रमं त्यक्त्वा, अन्य प्रार्थयसे आश्रमम् ।
इहैव पोषधरतः, भव मनुजाधिप ॥४२ ॥

पद्यानुवाद— यह हेतु और-प्रेरित, देदेन्द्र वचन श्रुतिगोचर कर ।
राजर्षि नमि से यो बोले, अन्तर में गहरा चिन्तन कर ॥४१ ॥
करके तुम त्याग घोराश्रम का, क्यों अन्याश्रम की चाह करो ।
घर मे ही पौषधरत रहकर, राजन् ! सेवा का भाव धरो ॥४२ ॥

अन्वयार्थ— **एयमट्ठं निसामित्ता**—इस अर्थ को सुनकर, **हेऊकारणचोइओ**—हेतु और कारण से प्रेरित हुए, **देविंदो**— देवेन्द्र ने, **तओ**— फिर, **नमिंरायरिसिं**— नमिराजर्षि को, **इणमब्बवी**— इस प्रकार कहा— ॥४१ ॥

मणुयाहिवा !— हे मनुजाधिप !(नरपति), (तुम) **घोरासमं**— घोराश्रम अर्थात्— गृहस्थाश्रम को, **चइत्ताणं**—छोडकर, **अन्नंआसमं**—अन्य आश्रम (संन्यासाश्रम) की, **पत्थेसि**— इच्छा कर रहे हो, (यह अनुचित है) **इहेव**— इसी (गृहस्थ) आश्रम मे रहते हुए, **पोसहरओ**— पोषधव्रत मे रत, **भवाहि**— हो जाओ ॥४२ ॥

भावार्थ— इस उक्ति को सुनकर हेतु-कारण-प्रेरित देवेन्द्र ने फिर नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा— ॥४१ ॥

हे नृप ! तुम (अनायास प्राप्त) गृहस्थाश्रम का परित्याग कर अन्य (सन्यास) आश्रम को ग्रहण करने की अभिलाषा कर रहे हो, (यह अनुचित है ।) इस आश्रम मे ही रहकर पोषधव्रत मे रत हो जाओ ॥४२ ॥

१ हेउ— लुधियाना से प्रकाशित ।

विवेचन— ब्राह्मण संस्कृति की दृष्टि से गृहस्थाश्रम की प्रबल प्रेरणा— ब्राह्मण-सस्कृति मे सन्यासाश्रम की अपेक्षा गृहस्थाश्रम को श्रेष्ठ माना गया है, इतना ही नही, गृहस्थाश्रम को चारो आश्रमो मे ज्येष्ठ तथा शेष तीनो आश्रमो का मूलाधार एव कठोर माना है।[१]

गृहस्थाश्रम को घोर आश्रम— इसीलिए कहा गया है कि जो कायर, अल्पसत्व एवं सुखशील है, उनके लिए गृहस्थाश्रम का पालन दुष्कर है। चूर्णिकार ने कहा है— प्रव्रज्या पालन सुखकर है, जबकि गृहस्थाश्रमपालन दु.खकर है।

यद्यपि स्थानाग सूत्र मे गृहस्थवर्ग को श्रमण जीवन का आश्रयदाता माना गया है, तथापि श्रमण निर्ग्रन्थ सस्कृति मे सन्यासाश्रम (साधुवर्ग) को गृहस्थाश्रम (गृहस्थवर्ग) से बहुत उच्चकोटि का माना गया है। गृहस्थ का यह प्रथम मनोरथ ही है कि 'कब मै गृहवास छोड कर अनगार बनूँ।'

इन्द्रोक्त हेतु और कारण— धर्मार्थी पुरुष को जो घोर हो, उसका अनुष्ठान करना चाहिए, सन्यासाश्रम से गृहस्थाश्रम घोर है— यथा— अनशन आदि; यह हेतु है तथा घोर आश्रम के पालन के बिना सत्त्वशीलता तथा धर्मार्थित्व दोनो बन नही सकते, यह कारण है।

पोषह : पोषध : व्याख्या— पोषध, प्रोषध, उपोसथ, ये तीनो शब्द क्रमशः श्वेताम्बर जैन, दिगम्बर जैन तथा बौद्ध परम्परा मे मिलते है यद्यपि 'पोषध' शब्द का अर्थ एवं भावार्थ यहाँ जैन परम्पराविहित 'पौषध-परक दिया गया है— धर्म के पोष- पुष्टि को धारण करने वाला तथा अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्व तिथियो को पालनीय व्रत विशेष। उपलक्षण से श्रावक के बारह व्रतो को भी पौषध कहा गया है। किन्तु प्रस्तुत गाथा मे ब्राह्मणरूपधारी इन्द्र द्वारा नमिराजर्षि को जो पोषध-रत रहने की बात कही गई है, वह जैन-परम्परा के पौषध की न होकर वैदिक परम्परा के पौषध की प्रतीत होती है, क्योकि इसके उत्तर मे नमिराजर्षि ने इन्द्रप्रेरित उक्त तप को 'बालतप' कहकर उसकी उपेक्षा की है, यदि वह तीर्थङ्करोक्त पोषध व्रत होता तो वह उपेक्षित, निम्नकोटि का तथा स्वाख्यात धर्म के अतिरिक्त न होता। यह युक्ति भी इस पौषध को जैनपरम्परा का सिद्ध नही करती है। विशेषज्ञो के लिए यह शब्द विचारणीय है।

नमिराजर्षि द्वारा स्वाख्यात मुनिधर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन

मूल— एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी॥४३॥
मासे-मासे तु यो बालो, कुसग्गेण तु भुञ्जए।

(८) सन्यासाश्रम के प्रति दृढ़ता की परीक्षा के लिए गृहस्थाश्रम की प्रेरणा

मूल— एयमट्ठं निसामित्ता हेऊ[1] कारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥४१ ॥
घोरासमं चइत्ताणं, अन्नं पत्थेसि आसमं।
इहेव पोसहरओ, भवाहि मणुयाहिवा ! ॥४२ ॥

संस्कृत-छाया— एतमर्थ निशम्य, हेतुकारणचोदितः।
ततो नमि राजर्षि, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥४१ ॥
घोराश्रमं त्यक्त्वा, अन्य प्रार्थयसे आश्रमम्।
इहैव पोषधरतः, भव मनुजाधिप ॥४२ ॥

पद्यानुवाद— यह हेतु और-प्रेरित, देदेन्द्र वचन श्रुतिगोचर कर।
राजर्षि नमि से यो बोले, अन्तर में गहरा चिन्तन कर ॥४१ ॥
करके तुम त्याग घोराश्रम का, क्यो अन्याश्रम की चाह करो।
घर मे ही पौषधरत रहकर, राजन् ! सेवा का भाव धरो ॥४२ ॥

अन्वयार्थ— एयमट्ठं निसामित्ता— इस अर्थ को सुनकर, हेऊकारणचोइओ— हेतु और कारण से प्रेरित हुए, देविंदो— देवेन्द्र ने, तओ— फिर, नमिंरायरिसिं— नमिराजर्षि को, इणमब्बवी— इस प्रकार कहा— ॥४१ ॥

मणुयाहिवा !— हे मनुजाधिप !(नरपति), (तुम) घोरासमं— घोराश्रम अर्थात्— गृहस्थाश्रम को, चइत्ताणं— छोडकर, अन्नंआसमं— अन्य आश्रम (संन्यासाश्रम) की, पत्थेसि— इच्छा कर रहे हो, (यह अनुचित है) इहेव— इसी (गृहस्थ) आश्रम मे रहते हुए), पोसहरओ— पोषधव्रत मे रत, भवाहि— हो जाओ ॥४२ ॥

भावार्थ— इस उक्ति को सुनकर हेतु-कारण-प्रेरित देवेन्द्र ने फिर नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा— ॥४१ ॥

हे नृप ! तुम (अनायास प्राप्त) गृहस्थाश्रम का परित्याग कर अन्य (सन्यास) आश्रम को ग्रहण करने की अभिलाषा कर रहे हो, (यह अनुचित है।) इस आश्रम मे ही रहकर पोषधव्रत मे रत हो जाओ ॥४२ ॥

१. हेउ— लुधियाना से प्रकाशित।

विवेचन— ब्राह्मण संस्कृति की दृष्टि से गृहस्थाश्रम की प्रबल प्रेरणा— ब्राह्मण-सस्कृति मे सन्यासाश्रम की अपेक्षा गृहस्थाश्रम को श्रेष्ठ माना गया है, इतना ही नही, गृहस्थाश्रम को चारो आश्रमो मे ज्येष्ठ तथा शेष तीनो आश्रमो का मूलाधार एव कठोर माना है।[१]

गृहस्थाश्रम को घोर आश्रम— इसीलिए कहा गया है कि जो कायर, अल्पसत्व एवं सुखशील है, उनके लिए गृहस्थाश्रम का पालन दुष्कर है। चूर्णिकार ने कहा है— प्रव्रज्या पालन सुखकर है, जबकि गृहस्थाश्रमपालन दु:खकर है।

यद्यपि स्थानाग सूत्र मे गृहस्थवर्ग को श्रमण जीवन का आश्रयदाता माना गया है, तथापि श्रमण निर्ग्रन्थ सस्कृति मे सन्यासाश्रम (साधुवर्ग) को गृहस्थाश्रम (गृहस्थवर्ग) से बहुत उच्चकोटि का माना गया है। गृहस्थ का यह प्रथम मनोरथ ही है कि 'कब मै गृहवास छोड कर अनगार बनूं।'

इन्द्रोक्त हेतु और कारण— धर्मार्थी पुरुष को जो घोर हो, उसका अनुष्ठान करना चाहिए, सन्यासाश्रम से गृहस्थाश्रम घोर है— यथा— अनशन आदि, यह हेतु है तथा घोर आश्रम के पालन के बिना सत्त्वशीलता तथा धर्मार्थित्व दोनो बन नही सकते, यह कारण है।

पोषह : पोषध : व्याख्या— पोषध, प्रोषध, उपोसथ, ये तीनो शब्द क्रमश· श्वेताम्बर जैन, दिगम्बर जैन तथा बौद्ध परम्परा मे मिलते है यद्यपि 'पोषध' शब्द का अर्थ एवं भावार्थ यहॉ जैन परम्पराविहित 'पौषध-परक दिया गया है— धर्म के पोष- पुष्टि को धारण करने वाला तथा अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्व तिथियो को पालनीय व्रत विशेष। उपलक्षण से श्रावक के बारह व्रतो को भी पौषध कहा गया है। किन्तु प्रस्तुत गाथा मे ब्राह्मणरूपधारी इन्द्र द्वारा नमिराजर्षि को जो पोषध-रत रहने की बात कही गई है, वह जैन-परम्परा के पौषध की न होकर वैदिक परम्परा के पौषध की प्रतीत होती है, क्योकि इसके उत्तर मे नमिराजर्षि ने इन्द्रप्रेरित उक्त तप को 'बालतप' कहकर उसकी उपेक्षा की है, यदि वह तीर्थङ्करोक्त पोषध व्रत होता तो वह उपेक्षित, निम्नकोटि का तथा स्वाख्यात धर्म के अतिरिक्त न होता। यह युक्ति भी इस पौषध को जैनपरम्परा का सिद्ध नही करती है। विशेषज्ञो के लिए यह शब्द विचारणीय है।

नमिराजर्षि द्वारा स्वाख्यात मुनिधर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन

मूल— एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥४३ ॥
मासे-मासे तु यो बालो, कुसग्गेण तु भुञ्जए।

न सो सुयक्खाय धम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥४४ ॥

संस्कृत-छाया— एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥४३ ॥
मासे मासे तु यो बालः, कुशाग्रेण तु भुङ्क्ते ।
न स स्वाख्यातधर्मस्य, कलामर्हति षोडशीम् ॥४४ ॥

पद्यानुवाद— यह हेतु और कारण-प्रेरित, नमिराज अर्थ श्रुतिगोचर कर ।
सुरपति को बोले इस प्रकार, वाणी ज्ञानामृत से भर कर ॥४३ ॥
कर मास-मास जो बाल तपस्या, भोजन कुशाग्रभर है करता ।
श्रुत-चरण धर्म की कला षोडशी, तक भी वह प्राप्त नही करता ॥४४ ॥

अन्वयार्थ— **एयमट्ठं निसामित्ता**— यह अर्थ सुनकर, **हेउकारणचोइओ**— हेतु और कारण से प्रेरित हुए, **नमीरायरिसी**— नमिराजर्षि ने, **देविंदं**— देवेन्द्र को, **इणमब्बवी**— इस प्रकार कहा— ॥४३ ॥

यो बालो—जो बाल (अज्ञानी) साधक, **मासे-मासे तु**— महीने-महीने के तप करता है, (और उसके पारणे मे) **कुसग्गेणं तु**— कुश के अग्रभाग पर आये, उतना ही **भुञ्जए**— आहार सेवन करता है; **सो**— वह, **सु अक्खायधम्मस्स**— सु-आख्यात (मुनि) धर्म (सर्वविरतिरूप से कहे हुए धर्म) की, **सोलसिं कलं**— सोलहवी कला के भी, **न अग्घइ**— योग्य नही है । अर्थात्— वह बालतप तीर्थङ्करोक्त मुनि धर्म के सोलहवे हिस्से को भी प्राप्त नही कर सकता ॥४४ ॥

विवेचन— कुसग्गेणं तु भंजए : दो अर्थ—(१) कुश के अग्रभाग पर आए उतना ही खाता है; अथवा (२) कुश नामक तृण के अग्रभाग से ही खाता है; अगुली आदि से उठाकर नही खाता ।

सुयक्खाय धम्मस्स : दो अर्थ— (१) सम्यक् सर्वविरतिचारित्र-रूप मुनि-धर्म की अथवा (२) तीर्थकरादि के द्वारा प्रतिपादित सर्वसावद्यविरति रूप होने से सुन्दर रूप मे तथाविधधर्म जिसके लिए कहा गया है, यह स्वाख्यात धर्मा = सम्यक्चारित्री ।

इन्द्रोक्त हेतु और कारण की असिद्धता— इंद्र ने घोर तप का अनुष्ठान करने का हेतु देकर घोर गृहस्थाश्रम के पालन की प्रेरणा दी थी, किंतु नमिराजर्षि ने इसके प्रतिवाद मे कहा— घोर होने से कोई भी अनुष्ठान श्रेष्ठ नही हो जाता । एकमासिक बालतप करने वाले अज्ञ का घोर तप सर्वसावद्यविरति रूप मुनिधर्म के सोलहवे हिस्से के बराबर भी नही होता । क्योकि अनुष्ठेय घोर नही है, वह है— स्वाख्यात धर्म, (सर्वसावद्यविरतिचारित्रधर्म) वह चाहे घोर हो

या अघोर। गृहस्थाश्रम घोर होने पर भी स्वाख्यात (मुनि) धर्म नही है, इसी कारण मेरा इसे छोडना अनुचित नही है। अथवा— एक-एक मास का तप करके पारणे मे सिर्फ कुशाग्र स्थित अन्नादि लेना, पंचाग्नि तपना या जल मे खडे रहना इत्यादि अनुष्ठान घोर होते हुए भी सावद्य एवं अविधि युक्त है। राजर्षि द्वारा प्रयुक्त हेतु इस प्रकार है— मोक्षार्थी के लिए अनगार-धर्म आश्रयणीय है, क्योकि वह तद्‌भव मे मोक्षसाधक है जो तद्‌भवमोक्षसाधक नही होता, वह मोक्षार्थी द्वारा आश्रयणीय नही होता, जैसे पंचाग्नि तप आदि।

(९) इन्द्र द्वारा परिग्रहवृद्धि की प्रेरणा : अपरिग्रहत्व की कसौटी

मूल— एयमट्ठं निसामित्ता हेऊ [१] कारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥४५॥
हिरण्णं सुवण्णं मणिमुत्तं, कंसं दूसं च वाहणं।
कोसं [२] वड्ढावइत्ताणं तओ, गच्छसि खत्तिया! ॥४६॥

संस्कृत-छाया— एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदित ।
ततो नमिं राजर्षि, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥४५॥
हिरण्यं सुवर्ण मणिमुक्त, कास्यं दूष्य च वाहनम्।
कोश वर्धयित्वा, ततो गच्छ क्षत्रिय! ॥४६॥

पद्यानुवाद— यह हेतु और कारण प्रेरित, देवेन्द्र वचन श्रुतिगोचर कर।
राजर्षि नमि को यो बोले, अन्तर मे गहरा चिन्तन कर ॥४५॥
सोना चॉदी मणि मुक्ताफल, कांस्यादि वस्त्र वाहन सुखकर।
इनसे निज कोष बढा राजन्! पीछे मुनि व्रत को धारण कर ॥४६॥

अन्वयार्थ— एयमट्ठं निसामित्ता— इस अर्थ को सुनकर, **हेऊ-कारण-चोइओ—** हेतु और कारण से प्रेरित, **देविंदो—** देवेन्द्र ने, **नमिं रायरिसिं—** नमिराजर्षि को, **तओ—** फिर, **इणमब्बवी—** इस प्रकार कहा— ॥४६॥

खत्तिया— हे क्षत्रिय! (तुम पहले), **हिरण्णं—** चादी, **सुव्वण्णं—** सोना, **मणिमुत्तं—** मणि और मोती, **कंसं—** कॉसे के बर्तन, **दूसं—** वस्त्र, **य—** और, **वाहणं—** वाहन तथा **कोसं—**कोश (अर्थात् भण्डार) को, **वड्ढावइत्ताणं—** बढा कर, **तओ—** फिर, **गच्छसि—**प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए जाना ॥४६॥

इच्छा की अनन्तता के कारण: समस्त इच्छापूर्ति असम्भव

मूल— एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊ[1] कारणचोइओ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥४७॥
सुवण्ण-रुप्पस्स उ[2] पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं[3] किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ॥४८॥
पुढवी साली जाव चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥४९॥

संस्कृत-छाया— एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥४७॥
सुवर्णस्य रूप्यस्य च पर्वता भवेयुः,
स्यात्कदाचित्खलु कैलाससमा असख्यकाः।
नरस्य लुब्धस्य न तैः किंचित्,
इच्छा हु आकाशसमा अनन्तिका ॥४८॥
पृथिवी शालिर्यवाश्चैव, हिरण्य पशुभिः सह।
प्रतिपूर्णं नालमेकस्मै, इति विदित्वा तपश्चरेत् ॥४९॥

पद्यानुवाद— यह हेतु और कारण प्रेरित, नमिराज अर्थ श्रुतिगोचर कर।
सुरपति को बोले इस प्रकार, अन्तर मे गहरा चिन्तन कर ॥४७॥
सोने-चाँदी के गिरिराज मिले, यदि कैलाशतुल्य जो हो अगणित।
फिर भी न लुब्ध को जरा तोष, इच्छा अनन्त नभसम विस्तृत ॥४८॥
जौ चावल से भरी वसुन्धरा, स्वर्ण और पशुओ के सग।
है न एक के लिए बहुत, यह जान लगाए तप का रंग ॥४९॥

अन्वयार्थ— एयमट्ठं निसामित्ता— यह अर्थ सुनकर, **हेऊ—कारण-चोइओ—** हेतु और कारण से प्रेरित हुए, **नमी रायरिसी—** नमि राजर्षि, **तओ—** फिर, **देविंदं—** देवेन्द्र से, **इणमब्बवी—** इस प्रकार कहने लगे— ॥४७॥

---

१. हेउ — लुधियाना से प्रकाशित।
२. य— लुधियाना से प्रकाशित।
३. तेहि— लुधियाना से प्रकाशित।

सुवण्ण—रुप्पस्स उ— सोने और चॉदी के, **केलाससमा असंखया**— कैलाश के समान असख्य, **पव्वया**— पर्वत, **भवे हु सिया**— हो, फिर भी, **तेहिं**— उनसे, **लुद्धस्स नरस्स**— लोभी मनुष्य की, **किंचि**— कुछ भी तृप्ति, **न**—नही होती। **हु**— क्योकि, **इच्छा**— (तृष्णा), **आगाससमा**— आकाश के समान, **अणंतिया**— अनन्त है ॥४८ ॥

पुढवी—समग्र पृथ्वी, **साली**— समग्र शाली— चावल आदि धान्य, **जवा**— जौ, **चेव**— और अन्य अन्न, तथा **पसुभिस्सह**— समग्र पशुओ सहित, **हिरण्णं**— स्वर्ण, ये सब, **एगस्स**— एक व्यक्ति की, **पुडिपुण्णं**— इच्छा परिपूर्ण करने के लिए, **अलं न**— पर्याप्त नही है। **इइ विज्जा**— यह जानकर, **तवं चरे**— तपश्चरण करे ॥४९ ॥

विवेचन— इन्द्रोक्त हेतु और कारण असिद्ध— इन्द्र द्वारा कथित साकाक्षायुक्त हेतु तथा स्वर्ण आदि पदार्थो का बढाना, आकाक्षापूर्ति के लिये असिद्ध हेतु है, आकाक्षणीय वस्तुओ की परिपूर्ति न भी हो, परन्तु यदि आत्मा मे सन्तोष है तो उससे आकाक्षणीय वस्तुओ मे प्राणी की आकांक्षा ही नही रहती। इसलिए आकांक्षणीय वस्तुओ की अपरिपूर्ति से आप मे आकाक्षा है, यह कथन युक्तिसगत नही है, क्योकि सन्तोष आने पर वस्तुओ की पूर्ति न होने पर भी तद्विषयक आकाक्षा नही रहती। मुझे जब सन्तोष प्राप्त हो चुका है तब तद्विषयक आकांक्षाओ के अभाव मे उनके बढने आदि की बात कहना उचित नही है। यह राजर्षि का आशय है।

प्राप्त कामभोगों को छोड़कर अप्राप्य की इच्छा करना अनुचित : देवेन्द्रप्रेरणा

मूल— एयमट्ठं निसामित्ता, हेउ [1] कारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥५० ॥
अच्छेरगमब्भुदए, भोए चयसि पत्थिवा !
असंतें कामे पत्थेसि, संकप्पेण विहम्मसि ॥५१ ॥

संस्कृत-छाया— एतमर्थ निशम्य, हेतुकारणचोदित ।
ततो नमि राजर्षि, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥५० ॥
आश्चर्यमभ्युदये, भोगास्त्यजसि पार्थिव ।
असत· कामान्प्रार्थयसे, संकल्पेन विहन्यसे ॥५१ ॥

पद्यानुवाद— इस हेतु और कारण से प्रेरित, देवेन्द्र वचन श्रुतिगोचर कर।
राजर्षि नमि से यो बोले, अन्तर मे गहरा चिन्तन कर ॥५० ॥

आश्चर्य, भूप ! त्याग (प्राप्त) भोगो का करते है ।

अप्राप्त-काम की वांछा से, वे संकल्पाहत रहते है ॥५१ ॥

अन्वयार्थ—एयमट्ठं निसामित्ता— इस बात को सुनकर, **हेउ- कारण-चोइओ**— हेतु और कारण से प्रेरित हुए, **देविंदो**— देवेन्द्र, **तओ**— फिर, **नमिंरायरिसिं**— नमिराजर्षि से, **इणमब्बवी**— इस प्रकार बोला ॥५० ॥

पत्थवा !— हे पार्थिव ! (राजन्), **अच्छेरगं**— आश्चर्य है (कि तुम), **अब्भुदए**— इस अभ्युदय (उन्नति) काल में, **भोए**— सहज प्राप्त भोगो को, **चयसि**— छोड रहे हो और, **असंते कामे**— अप्राप्त काम-भोगो की, **पत्थेसि**— इच्छा कर रहे हो; (मालूम होता है तुम) **संकप्पेण**— अपने सकल्प से ही, **विहम्मसि**— आहत हो रहे हो ॥५१ ॥

भावार्थ— राजर्षि की इस (पूर्वोक्त) बात को सुनकर तब हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने फिर नमिराजर्षि से इस प्रकार कहा— ॥५० ॥

हे भूप ! आश्चर्य है ! तुम इस अभ्युदयकाल मे सहज-प्राप्त काम-भोगो का परित्याग कर रहे हो और अप्राप्त कामभोगों की चाह कर रहे हो; (मालूम होता है) तुम अपने संकल्प से ही प्रताडित हो रहे हो ॥५१ ॥

विवेचन—हेतु और कारण— (१) जो सद्विवेकी होता है, वह अप्राप्त विषयो की आकाक्षा से प्राप्त विषयभोगो को नही छोडता, जैसे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती आदि, आप सद्विवेकी है, इसलिए आपको काम-भोगो को अविद्यमान की आशा से नही छोडना चाहिए। यह हेतु है, तथा (२) आप मे प्रव्रज्या ग्रहण से प्रतीत होता है, अप्राप्त भोगो की अभिलाषा है, जो प्राप्त भोगो के परित्याग को प्रेरित करती है, यह कारण है । अत· आपको प्राप्त भोगों का त्याग करना अनुचित है ।

सभी काम-भोग त्याज्य हैं : नमिराजर्षि का उत्तर

मूल— एयमट्ठं निसामित्ता हेउ[1]-कारणचोइओ ।

तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥५२ ॥

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।

कामा पत्थेमाणा, अकामा जंति दोग्गइं ॥५३ ॥

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई ।

माया गईपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं ॥५४ ॥

---

१. हेऊ— तेरापंथ महासभा ।

संस्कृत-छाया— एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥५२ ॥
शल्यं कामा विषं कामा, कामा आशीविषोपमाः ।
कामान्प्रार्थयमाना, अकामा यान्ति दुर्गतिम् ॥५३ ॥
अधो व्रजति क्रोधेन, मानेनाधमा गतिः ।
मायया सुगतिप्रतिघातः, लोभाद् द्विधा भयम् ॥५४ ॥

पद्यानुवाद— यह हेतु और कारण-प्रेरित, नमिराज अर्थ श्रुतिगोचर कर ।
सुरपति को बोले इस प्रकार, वाणी ज्ञानामृत से भरकर ॥५२ ॥
है काम शल्य और विष भारी, आशीविषवत् जीवनहारी ।
बिन भोगे जाते दुर्गति मे, कामेच्छा ऐसी दुःखकारी ॥५३ ॥
है क्रोध नीच पद पहुँचाता, अभिमान अधमगति देता है ।
माया से सद्गति रुकती है, लोभी दोनो भव खोता है ॥५४ ॥

अन्वयार्थ— एयमट्ठं निसामित्ता— इस अर्थ को सुनकर, **हेउ-कारण-चोइओ—** हेतु और कारण से प्रेरित, **नमी रायरिसी—** नमिराजर्षि ने, **देविंदं—** देवेन्द्र को, **तओ—** फिर, **इणमब्बवी—** इस प्रकार कहा— ॥५२ ॥

कामा सल्लं— काम-भोग शल्य हैं, **कामा विसं—** कामभोग विष है, **कामा आसीविसोवमा—** काम-भोग आशीविष सर्प के समान है, **कामे पत्थेमाणा—** कामभोग की अभिलाषा करने वाले, (किन्तु परिस्थितिवश) **अकामा—** उन (काम-भोगो) का सेवन ही नही कर पाये, **दोग्गई जंति—** वे भी दुर्गति मे जाते है ॥५३ ॥

कोहेण— क्रोध से, **अहे—** नीच गति मे, **वयइ—** जाना होता है, **माणेणं—** अभिमान से, **अहमागई—** अधमगति मिलती है, **माया—** माया (कपट से), **गईपडिग्घाओ—** सुगति मे बाधाएँ आती है, **लोभाओ—** एव लोभ से, **दुहओ भयं—** इहलौकिक और पारलौकिक; दोनो प्रकार का भय होता है ॥५४ ॥

विवेचन— काम : सर्वदा सर्वथा त्याज्य है— इन्द्रोक्त हेतु— (अप्राप्त कामभोगो की आकाक्षा से प्राप्त काम-भोगों का त्याग अनुचित है, यह हेतु) असिद्ध है, दोषयुक्त है । क्योकि नमिराजर्षि काम-भोगो की इच्छा तक करना दुर्गति का कारण मानते है, प्राप्त काम-भोग भी दुःख के हेतु हैं, अतः विवेकी पुरुष उनका भी उच्छेद करने के लिए प्रयत्न करते है । क्योकि 'काम' किसी भी प्रकार का होगा उसके साथ क्रोधादि की उत्पत्ति अवश्यम्भावी है, और क्रोधादि कषाय आत्मा को अधोगति मे ले जायेगे, यह निश्चित है ।

निष्कर्ष— इस प्रकार इन्द्र ने दस प्रकार से प्रश्न प्रस्तुत करके नमिराजर्षि

सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप वीतराग पथ से डिगाना चाहा, किन्तु नमिराजर्षि सब प्रकार से परीक्षा मे सफल हुए, किसी तरह भी विचलित न हुए; श्रमण निर्ग्रन्थ परम्परा की दृष्टि से इन्द्र को उत्तर देकर निरुत्तर कर दिया ।

इन्द्र द्वारा असली रूप में प्रकट होकर नमिराजर्षि की स्तुति

मूल— अवउज्झिऊण माहणरूवं, विउव्विऊण इंदत्तं ।
वंदइ अभित्थुणंतो इमाहि महुराहिं वग्गूहिं ॥५५ ॥
अहो ! ते निज्जिओ [१] कोहो, अहो ! ते माणो पराजिओ [२] ।
अहो ! ते निरिक्किया [३] माया, अहो ! ते लोभो वसीकओ [४] ॥५६ ॥
अहो ! ते अज्जवं साहु, अहो ! ते साहु मद्दवं ।
अहो !ते उत्तमा खंती, अहो ! ते मुत्ति उत्तमा ॥५७ ॥
इहं सि उत्तमो भंते !, पेच्चा [५] होहिसि उत्तमो ।
लोगुत्तमुत्तमं ठाणं, सिद्धिं गच्छसि नीरओ ॥५८ ॥

संस्कृत-छाया— अपोह्य ब्राह्मणरूपं, विकृत्येन्द्रत्वम् ।
वन्दतेऽभिष्टुवन, आभिर्मधुराभिर्वाग्भिः ।५५ ॥
अहो त्वया निर्जितः क्रोधः, अहो मानः पराजितः ।
अहो निराकृता माया, अहो लोभो वशीकृत. ॥५६ ॥
अहो ते आर्जवं साधु, अहो ते साधु मार्दवम् ।
अहो तवोत्तमा क्षान्तिः, अहो ते मुक्तिरुत्तमा ॥५७ ॥
इहास्युत्तमो भगवन्, पश्चाद् भविष्यस्युत्तमः ।
लोकोत्तमोत्तमं स्थान, सिद्धिं गच्छसि नीरजः ॥५८ ॥

पद्यानुवाद— विप्ररूप को छोड़ अमरपति, इन्द्ररूप धारण करके ।
करता है वन्दन, स्तवन, अभिनन्दन, इन मधुर स्वरो मे गा करके ॥५५ ॥
अहो ! क्रोध को जीता तुमने, किया पराजित तुमने मान ।
अहो ! छोड दी माया तुमने, वश मे किया लोभ शैतान ॥५६ ॥

---

१ णिज्जिओ— लुधियाना से प्रकाशित ।
२. णिज्जिओ— लुधियाना से प्रकाशित ।
३. णिज्जिओ— लुधियाना से प्रकाशित ।
४. णिज्जिओ— लुधियाना से प्रकाशित ।
५. पच्छा— लुधियाना से प्रकाशित ।

अहो ! श्रेष्ठ है आर्जव तेरा, मार्दव भी है हितकारी ।
सर्वोत्तम है क्षमा तुम्हारी, निर्लोभता विस्मयकारी ॥५७ ॥
इस भव मे प्रभु !तुम उत्तम हो, परभव मे भी होगे उत्तम ।
कर्मधूलि से रहित सिद्धि, पद पाओगे तुम अति उत्तम ॥५८ ॥

अन्वयार्थ— (देवेन्द्र) **माहणरूवं**— ब्राह्मण का रूप, **अवउज्झिऊण**— छोड़कर; **इंदत्तं**— अपने वास्तविक इन्द्र स्वरूप को, **विउव्विऊण**— वैक्रिय शक्ति से प्रकट करके, **इमाहि महुराहिं वग्गूहिं**— इन मधुर प्रशस्त वचनो से, **अभित्थुणंतो**— स्तुति करता हुआ, **वंदइ**— (नमिराजर्षि को) वन्दना करता है ॥५५ ॥

अहो !—अहो ! आश्चर्य है, **ते**— तुमने, **कोहो**— क्रोध को, **निज्जिओ**— जीत लिया, **अहो**—अहो ! **ते**— तुमने, **माणो**— मान को, **पराजिओ** —पराजित किया । **अहो**— अहो !, **ते**—तुमने, **माया**— माया को, **निरक्किया**— निराकृत (दूर) किया, **अहो**— अहो !, **ते**— तुमने **लोभ**— लोभ को, **वसीकओ**— वश मे किया ॥५६ ॥

अहो— अहो !, **साहु**— उत्तम है, **ते**— तुम्हारी, **अज्जवं**— ऋजुता (सरलता), **अहो**— अहो !, **ते**— तुम्हारी, **मद्दवं**— मृदुता, **साहु**— उत्तम है । **अहो**— अहो ! **साहु**— उत्तम है, **ते**— तुम्हारी, **खंती**— क्षान्ति (क्षमा), **अहो**— अहो !, **साहु**— उत्तम है, **ते**— तुम्हारी, **मुत्ति**— मुक्ति (निर्लोभता) ॥५७ ॥

भन्ते— भगवन्, **इहं**— यहाँ(इस लोक मे) भी, **उत्तमोसि**— आप उत्तम है, और **पेच्चा**— परलोक मे भी, **उत्तमो**— उत्तम, **होहिसि**— होगे । (तथा) **नीरओ**— कर्मरज से रहित होकर, **लोगुत्तमुत्तमं ठाणं**— लोकोत्तर उत्तम स्थान, **सिद्धिं**— सिद्धि को, **गच्छसि**— प्राप्त करेगे ॥५८ ॥

भावार्थ— (इस प्रकार नमिराजर्षि की परीक्षा के अनन्तर देवेन्द्र) ब्राह्मण वेष छोड़कर तथा अपनी वैक्रियशक्ति के द्वारा अपना वास्तविक इन्द्रस्वरूप प्रकट करके इन मधुर एवं सुन्दर वचनो से नमिराजर्षि की स्तुति करता हुआ, उन्हे वन्दना करता है— ॥५५ ॥

अहो ! तुमने क्रोध को जीत लिया, अहो ! तुमने मान को पराजित किया । अहो ! तुमने माया को निराकृत (दूर) किया । अहो ! तुमने लोभ को वश मे कर लिया है ॥५६ ॥

हे राजर्षि ! अहो ! उत्तम है आपका आर्जव ! अहो ! उत्तम है आपका मार्दव ! अहो !उत्तम है आपकी क्षान्ति ! अहो ! सर्वश्रेष्ठ है आपकी निर्लोभता ॥५७ ॥

हे भगवन् ! आप इस लोक मे भी उत्तम है और (वर्तमान भव के बाद) आगामी भव मे भी आप उत्तम होगे । तथा कर्मरज से मुक्त होकर लोक मे जो उत्तमोत्तम स्थान— सिद्धि नामक मोक्ष-स्थान है, उसे आप प्राप्त करेगे ॥५८ ॥

विवेचन— नमिराजर्षि के कषायविजय की इन्द्र द्वारा प्रशंसा— इन्द्र ने उद्धत शासको को पहले जीत कर, फिर दीक्षा लेने का कहा था, इससे नमिराजर्षि के चित्त मे जरा भी क्षोभ नही हुआ, अतः इन्द्र को ज्ञात हो गया कि इन्होने **क्रोध पर विजय** प्राप्त कर ली है। जब इन्द्र ने कहा कि 'आपका अन्तःपुर तथा राजभवन जल रहा है', तब उनके हृदय मे जरा भी अहंकार उत्पन्न नही हुआ। इससे **मान-विजय** की प्रतीति इन्द्र को हुई। इसी प्रकार इन्द्र ने जब राजर्षि को तस्करो आदि उपद्रवकारियो का निग्रह करने के लिए कहा तो उन्होने माया न करके सरलतापूर्वक स्थिति प्रस्तुत की, इससे इन्द्र को वे **मायाविजेता** प्रतीत हुए। इन्द्र ने उनसे कहा कि दीक्षा लेने से पहले आप सोना, चादी आदि से कोश मे वृद्धि कर ले; किन्तु उन्होने कहा कि प्राणियो की इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त है। इससे इन्द्र को उनकी **लोभविजय** की प्रतीति हो गई।

चार गुणों की उत्कृष्ट रूप में अवस्थिति की प्रशंसा— माया कषाय के अभाव मे नमिराजर्षि में सरलता उत्पन्न हुई, मानकषाय के अभाव से मृदुता उत्पन्न हुई, क्रोधकषाय के अभाव से उनमे क्षमा उत्पन्न हुई, और लोभ को वश मे कर लेने से उनमे निर्लोभता उत्पन्न हुई। ये चारो ही गुण राजर्षि मे उत्कृष्ट रूप मे अवस्थित देखकर इन्द्र ने अहोभावपूर्वक अभिनंदन किया।

५८ वी गाथा मे, इन्द्र द्वारा नमिराजर्षि के उज्ज्वल वर्तमान और भविष्य की प्रशसा की गई है जो कि इन्द्र की गुणग्राहकता सूचित करतीहै।

श्रद्धाभक्ति के पश्चात् इन्द्र का प्रस्थान

मूल— एवं अभित्थुणंतो रायरिसिं उत्तमाए सद्धाए।
पयाहिणं करेंतो, पुणो पुणो वंदई सक्को ॥५९॥
तो वंदिऊण पाए, चक्कंकुसलक्खणे मुणिवरस्स।
आगासेणुप्पइओ, ललियचवलकुण्डलतिरीडी ॥६०॥

संस्कृत-छाया— एवमभिष्टुवन्, राजर्षिमुत्तमया श्रद्धया।
प्रदक्षिणां कुर्वन्, पुनःपुनर्वन्दते शक्रः ॥५९॥
ततो वन्दित्वा पादौ, चक्राकुशलक्षणौ मुनिवरस्य।
आकाशेनोत्पतितः, ललितचपलकुण्डलकिरीटी ॥६०॥

पद्यानुवाद— यो करते हुए स्तवन सुरपति ने, उत्तम श्रद्धा से महिमा की।
करके प्रदक्षिणा बार-बार, वन्दना नमि नरपति की; की ॥५९॥

चक्र और अंकुश चिन्हित, मुनि के चरणो मे नमन किया ।

ललित चपल कुण्डल किरीट धर, (शक्र ने) गगन मार्ग से गमन किया ॥६० ॥

अन्वयार्थ— **एवं**— इस प्रकार, **अभिथुणंतो**— स्तुति करते हुए, **सक्को**— इन्द्र (शक्र) ने, **उत्तमाए सद्धाए**— उत्तम श्रद्धा से, **रायरिसिं**— राजर्षि को, **पयाहिणं करेंतो**— प्रदक्षिणा करते हुए, **पुणो-पुणो**— बार-बार, **वंदई**— वन्दना की ॥५९ ॥

तो— इसके पश्चात्, **मुणिवरस्स**— नमि मुनिवर के, **चक्कंकुसलक्खणेपाए**— चक्र और अकुश के लक्षणो से युक्त चरणो मे, **वंदिऊण**— वदना करके, **ललिय-चवल-कुण्डलतिरीडी**— ललित एव चपल कुण्डल और मुकुट का धारक इन्द्र, **आगासेण उप्पइओ**— ऊपर आकाशमार्ग से उड गया ॥६० ॥

स्तुति-प्रशंसा से नम्र नमिराजर्षि श्रमण धर्म में स्थिर

मूल— **नमी नमेइ अप्पाणं, सक्खं सक्केण चोइओ ।**

चइऊण गेहं वइदेही[१]**, सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ॥६१ ॥**

संस्कृत-छाया— नमिर्नमयत्यात्मान, साक्षाच्छक्रेण चोदित ।

त्यक्त्वा गृह च वैदेही, श्रामण्ये पर्युपस्थित· ॥६१ ॥

पद्यानुवाद— प्रत्यक्ष शक्र से प्रेरित हो, नमि ने सयम मन रमा लिया ।

तजकर भवनादिक वैदेही, श्रामण्यभाव मन अटल किया ॥६१ ॥

अन्वयार्थ—**नमी**— नमि राजर्षि ने, **अप्पाणं**— अपनी आत्मा को (आत्मभावो में), **नमेइ**— विनत किया (रमा दिया) । **सक्खं**— साक्षात्, **सक्केण**— इन्द्र के द्वारा, **चोइओ**— प्रेरित होने पर भी, (वे धर्म से विचलित नही हुए) और, **गेहं**— गृह तथा, **वइदेही**— वैदेही (विदेह देश की राज्यलक्ष्मी) का, **चइऊण**— परित्याग कर, **सामण्णे**— श्रमणभाव (साधुता) मे, **पज्जुवट्ठिओ**—सुस्थित रहे ।

भावार्थ— नमि राजर्षि ने अपनी आत्मा को आत्मभावो मे झुका लिया । साक्षात् देवेन्द्र द्वारा प्रेरित होने पर भी वे श्रमणत्व से विचलित न हुए तथा गृह और विदेह की राजलक्ष्मी का त्याग करके श्रमणभाव मे सुस्थिर हो गये ।

वइदेही = वैदेही : दो अर्थ— वैदेही— विदेह देश मे स्थित मिथिलापुरी (२) वैदेही— विदेह राज्य की राजलक्ष्मी ।

उपसंहार

मूल— **एवं करेंति संबुद्धा पंडिया पवियक्खणा ।**

विणियट्टंति भोगेसु, जहा से णमिरायरिसि ॥६२ ॥ ॥त्ति बेमि ॥

१ च वेदे—लुधियाना से प्रकाशित ।

संस्कृत-छाया— एवं कुर्वन्ति संबुद्धाः, पण्डिताः प्रविचक्षणाः ।
विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः, यथा स नमी राजर्षिः ॥६२ ॥

इति ब्रवीमि।

पद्यानुवाद— सम्बुद्ध विचक्षण पण्डित साधक, जग मे ऐसा ही करते है ।
हो दूर काम-भोगो से नमिवत्, वे संयम पथ पर चलते है ॥६२ ॥

अन्वयार्थ— संबुद्धा— सम्बुद्ध, **पंडिया**— पण्डित, (एवं) **पवियक्खणा**— प्रविचक्षण साधक (जगत् मे) **एवं करेंति**— ऐसा ही कार्य करते है । **विणियट्टंति भोगेसु**—वे काम-भोगो से निवृत्त होते है, **जहा से नमि रायरिसी**— जिस प्रकार नमि राजर्षि हुए, **त्ति बेमि**— ऐसा मै कहता हूँ ।

विवेचन— संबुद्धा आदि पदों के विशेषार्थ—(१) **सम्बुद्ध**— मिथ्यात्व नष्ट होने से जिन्होने जीवादि तत्त्वो को ज्ञात कर लिया, (२) **पण्डित**— जिन्होने शास्त्र का अर्थ सुनिश्चित कर लिया, (३) **प्रविचक्षण**— अत्यन्त अभ्यास होने से श्रमणक्रिया मे प्रवीण ।

॥नमिप्रव्रज्या : नवम अध्ययन समाप्त ॥

दशम अध्ययन : द्रुमपत्रक

(अध्ययन सार)

प्रस्तुत अध्ययन का नाम आद्य पद 'दुमपत्तए' (द्रुमपत्रक) के आधार पर रखा गया प्रतीत होता है। इस दशम अध्ययन की प्रत्येक गाथा के अन्त मे प्रमाद-त्याग की शिक्षा दी गई है।

अधिकांश अंगशास्त्र सुधर्मास्वामी की वाचनागत होने से उनमे आर्य सुधर्मा द्वारा जम्बू को सम्बोधित किया गया है। पर यहाँ प्रत्येक गाथा मे 'गौतम' का सम्बोधन यह प्रथम उदाहरण है।[१]

प्राचीनकाल मे जैन और वैदिक परम्परा मे ऐसी परम्परा थी, कि आचार्य अपने प्रिय शिष्य को सम्बोधन कर उसके माध्यम से सर्वसाधारण को शिक्षा देते आये है। गीता मे जगह-जगह कृष्ण ने अर्जुन को सम्बोधन किया। भगवतीसूत्र मे भगवान् महावीर और गौतम के प्रश्नोत्तर है। उनमे कई पृष्टव्याकरण तो कुछ अपृष्टव्याकरण भी है।

दशम अध्ययन का उपदेश भी गौतम के सम्बोधन से मुमुक्षु मात्र के लिए है। इसमे गौतम की उत्कण्ठा और अधीरता को दूर करने के साथ हजारो साधको को जागृत करना मुख्य लक्ष्य है।

प्रथम दो गाथाओ मे वृक्ष के पांडुपत्र और कुशाग्रबिन्दु के रूपक से मानव जीवन की अस्थिरता बताकर प्रमाद-त्याग का उपदेश दिया है।

तीसरी गाथा मे कहा है कि अल्पकालीन आयु भी बहुत विघ्न वाला है। अत· पूर्वसंचित कर्मरज को दूर करने मे प्रमाद मत कर।

चौथी गाथा मे कहा है 'इस बार नही तो अगली बार फिर मनुष्य जन्म प्राप्त करेगे तब कर लेगे' ऐसा सोचना ठीक नही। इसी गाथा मे आगे कहा है— 'प्राणियो को अनन्तकाल मे भी फिर मनुष्य जन्म पाना दुर्लभ है क्योकि कर्म के विपाक गाढ होते है। मनुष्य बनने से पहले कई घाटियाँ (भवान्तर की) पार करनी होती है। अतः विषयो मे लुभाकर प्रमाद मत करो।

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र के प्रायः सभी टीकाकार गौतमस्वामी के जीवन से संवधित निम्न घटना इस की पृष्ठ भूमि में प्रस्तुत करते हैं—

५ से ९ वी गाथा मे बताया है— पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय और वायुकाल मे यदि जीव चला गया तो एक-एक काय मे असख्य काल बीत जाता है। वनस्पतिकाय मे उत्कृष्ट अनन्तकाल बीत जाता है। इतने काल मे जीव बाहर नही आता फिर मनुष्य बनने की तो बात ही क्या? इसलिए क्षण भर भी प्रमाद मत करो।

एक बार भगवान् महावीर राजगृह से विहार कर पृष्ठचम्पा पधारे। वहाँ का राजा साल भगवान् के दर्शन-वन्दन करने गया। उनकी धर्मदेशना सुनकर उसे संसार से विरक्ति हो गई। भगवान् से उसने प्रार्थना की— "भगवन्! मैं युवराज महासाल का राज्याभिषेक करके आपके पास दीक्षित होना चाहता हूँ।" वह नगर में गया। महासाल के समक्ष अपनी दीक्षा लेने की तथा उसका राज्याभिषेक करने की भावना व्यक्त की। यह सुनकर महासाल ने कहा— "मैं भी इस दुर्गति के कारण रूप राज्य के बदले मोक्षराज्य पाना चाहता हूँ अतः आपके साथ ही मैं प्रव्रजित होऊँगा।" साल राजा ने तत्काल अपनी बहन यशस्वती के पुत्र (भानजे) गागली को काम्पिल्यपुर से बुलाया और राज्य का भार सौंपकर साल और महासाल दोनों भगवान् महावीर के पास दीक्षित हो गए। गागली राजा पृष्ठचम्पा का राज्य न्याय-नीतिपूर्वक करने लगा। उसने अपने माता-पिता को भी वहाँ बुला लिया। साल-महासाल दोनों श्रमणों ने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया तथा अप्रमत्त होकर तप-संयम की आराधना करने लगे।

भगवान् महावीर अपने शिष्यों सहित पृष्ठचम्पा से राजगृह पधारे। एक बार वहाँ से विहार करके चम्पा पधारे। साल और महासाल श्रमणों ने प्रभु से सविनय प्रार्थना की— "भगवन्! यदि आपकी अनुज्ञा हो तो हम पृष्ठचम्पा जाना चाहते है। सम्भव है, किसी को प्रतिबोध मिले, कोई श्रावकव्रती बने।" यह सुनकर सर्वज्ञ प्रभु ने उन दोनों को गणधर गौतम स्वामी के साथ जाने की अनुज्ञा दी। अत. वे विहार करके पृष्ठचम्पा नगरी गए। वहाँ गणधर गौतम स्वामी की धर्मदेशना सुनकर गागली राजा एवं उसके माता-पिता संसार से विरक्त हो गए। गागली राजा ने अपने पुत्र को राजगद्दी पर बिठा कर अपने माता-पिता सहित स्वयं ने श्री गौतम स्वामी के पास दीक्षा ग्रहण की। तत्पश्चात् साल, महासाल, तथा नवदीक्षित गागली और उसके माता-पिता को साथ लेकर श्री गौतम स्वामी भगवान् की सेवा में चम्पानगरी आ रहे थे। मार्ग मे चलते-चलते साल, महासाल दोनों विचार करने लगे— बहन, बहनोई और भानजे गागली को हमने संसार समुद्र से तिरने के मार्ग पर लगाया, यह बहुत अच्छा हुआ। इसी समय गागली आदि तीनो नवदीक्षित भी विचार करने लगे— 'ये साल और महासाल हमारे परम-उपकारी हैं। इन्होंने पहले हमें राज्यलक्ष्मी का भागी बनाया, और अब मोक्षलक्ष्मी के भागी बनाने हेतु यह दुर्लभ चारित्ररत्न दिलाया।' इस प्रकार के पवित्र उत्कृष्ट अध्यवसाय बढ़ने से वे पाँचों क्षपक श्रेणी पर आरूढ हुए, और मोह सहित चारो घाती कर्मो का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया। सभी भगवान् के पास पहुँचे।

गौतम ने भगवान् को वन्दना की और वे पाँचों भगवान् को वन्दन न करके जब केवलियों की सभा की ओर जाने लगे तो गौतम स्वामी ने उन सब को कहा— "मुनियो! वहाँ कहाँ जा रहे हो? वह तो केवली भगवन्तों की परिषद् है। इधर आकर पहले विश्ववन्द्य प्रभु को वन्दन करो।" यह देख भगवान् ने गौतम से कहा— "गौतम! केवलियों की आशातना मत करो। वे केवलज्ञानी हैं।" गौतम ने उनसे क्षमायाचना की और उनका मन जिज्ञासा-मूलक शंका से भर गया कि— "मेरे शिष्यों को शीघ्र केवलज्ञान हो जाता है, परन्तु मुझे अभी तक केवलज्ञान नही हुआ। मैं इस भव में मोक्ष प्राप्त कर सकूँगा या नही?"

पॉच स्थावरकाय का अवरोध पूरा करने पर भी त्रसकाय मे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय अवरोध स्थान शेष रहते है ।

१० से १४ वी गाथा तक मे बताया गया है कि कर्मानुसार जीव तीन विकलेन्द्रियो में उत्कृष्ट सख्यातकाल तक रुक सकता है । पचन्द्रिय के देव, नरक भव मे असख्यकाल बीत जाता है । इन सब अवरोध-स्थानो, घाटियो के पार होने पर ही मनुष्य जन्म प्राप्त होता है । ऐसे दुर्लभ मानव जन्म को पाकर मुक्त होना है तो क्षण भर भी प्रमाद मत करो ।

१५ वी गाथा मे बताया है कि इस प्रकार प्रमादबहुल जीव शुभाशुभ कर्मो के अनुसार जन्म-मरण रूप संसार मे भटकता रहता है ।

१६ से २० तक गाथाओ मे बताया गया है कि मनुष्य भव मिलने पर भी १. आर्य क्षेत्र, २. प्रतिपूर्ण इन्द्रियॉ, ३. धर्म श्रुति, ४. श्रद्धा, ५. संयम मे शक्ति (पुरुषार्थ) आदि मोक्ष-साधन की सामग्री अत्यावश्यक है । सकल सामग्री सम्पन्न मनुष्य भव पाया है, अतः क्षण भर भी प्रमाद मत करो ।

गाथा २१ से २६ तक मे बताया गया है कि शरीर के जीर्ण होने के साथ श्रोत्र, चक्षु आदि इन्द्रियॉ क्षीण हो रही है । शिर के बाल पक कर श्वेत हो रहे है । इस तन का क्या भरोसा अत· क्षण भर का भी प्रमाद मत करो, क्योकि प्रमाद जन्म-मरण बढ़ाने वाला है ।

२७ वी गाथा मे कहा गया है कि शरीर के दो बडे शत्रु है, जरा और व्याधि । २१ से २६ गाथा मे जरा से होने वाली इन्द्रियो की क्षीणता बतला कर २७ वी गाथा मे कहा गया है— अरति, गण्ड और विसूचिका आदि अनेक प्रकार के रोग और आतक से शरीर नष्ट हो रहा है । जब तक और व्याधियो से शरीर की क्षमता नष्ट नही हो, तब तक आत्म-साधना करले, क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।

गौतम का भगवान पर धर्म स्नेह था अत· २८, २९ और ३० वी गाथा मे स्नेह-छेदन और आसक्ति-त्याग का उपदेश देते हुए कहा है, कमल का पत्ता जैसे जल के लेप से दूर रहता है, वैसे ही अपना किसी से स्नेह मत रख । सब प्रकार के स्नेह से रहित होकर क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।

जिस धन, वैभव, दारा को त्याग कर प्रव्रजित हुए हो उस छोडे हुए की फिर गवेषणा (आकाक्षा) मत करो ।

गाथा ३१-३२ मे कहा है— पचमकाल मे लोग तीर्थङ्कर के दृष्टिगोचर नही होने पर भी, उनके शास्त्रो मे बताये गये मार्ग पर विश्वास कर चलते है । तुम कंटकाकीर्ण मार्ग को

साफ कर मुक्ति के राजमार्ग पर पहुँच गये हो, अब निश्चल भाव से मार्ग पर चलने में क्षण मात्र भी प्रमाद मत करो ।

गाथा ३३-३४ मे कहा है कि निर्बल भारवाहक विषम मार्ग मे जाकर फिर पश्चात्ताप करता है ।अतः विषम मार्ग पर जाना पश्चात्ताप का कारण है । हे गौतम ! तू महान् भवसागर को पार कर किनारे पर पहुँच गया है । अतः पार होने की जल्दी कर, रुक मत ! क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।

गाथा ३५ मे आश्वस्त करते हुए कहते है— गौतम ! क्षपक क्षेणी पर चढकर तू क्षेम, निरुपद्रव और श्रेष्ठ सिद्ध लोक को प्राप्त कर रहा है । अतः क्षण भर प्रमाद मत कर ।

गाथा ३६ मे कहा है— ज्ञानवान् साधु कषाय रहित हो ग्राम या नगर मे विचरण करता है, इसलिए उस शान्त मार्ग की वृद्धि कर । प्रमाद को क्षण भर भी मत आने दे ।

३७ वी गाथा से स्पष्ट होता है कि तत्त्वज्ञ प्रभु महावीर के अर्थ एवं पदो से सुशोभित उपदेश को सुनकर गौतम ने राग और द्वेष का छेदन कर सिद्धि रूप परमगति को प्राप्त किया ।

इससे यह सूचित होता है कि गौतमस्वामी अपने सामने दीक्षित छोटे साधुओ के केवलज्ञान प्राप्त कर लेने की स्थिति को देखकर अवश्य अधीर हुए होगे । भगवती सूत्र मे प्रभू महावीर द्वारा श्री गौतम को दिया गया आश्वासन इस विषय मे पर्याप्त प्रमाण कहा जा सकता है ।

गौतम की अधीरता पृष्ठचपा के राजा साल-महासाल और गागली के प्रव्रज्या और केवलज्ञान देखकर हुई, या अन्य निमित्त से यह निश्चित करना कठिन है । कारण— उत्तराध्ययन की देशना पावापुरी चातुर्मास मे दी गई और पृष्ठचम्पा के राजा साल-महासाल और गागली के प्रव्रज्या तथा केवलज्ञान की बात उससे कई मास पूर्व को हो सकती है ।[१]

गौतम के लिए कहा जाता है कि एक बार अपने छोटे साधुओ को केवलज्ञान से विभूषित देखकर उनके मन मे बडी चिन्ता उत्पन्न हुई और वे सोचने लगे कि उन्हे अभी तक केवलज्ञान किस कारण से उत्पन्न नही हुआ है ?

---

१. रायगिहे जाव परिसा पडिगया गोयमादि । समणे भगव महावीरे गोयमं आमंतेत्ता एवं वयासी- चिरसंसिट्ठोसि मे गोयमा । चिरसंथुतोसि मे गोयमा । चिरपरिचितोसि मे गोयमा । चिरजुसिओसि मे गोयमा । चिराणुगओसि मे गोयमा । चिराणुवतीसी मे गोयमा । अणंतरं देवलोए अणंतर माणुस्सए भवे कि परं मरणा कायस्स भेदा,इतो चुता दो वि तुल्ला एगट्ठा अविसेसमणाणपत्ता भविस्सामो । [भगवती सूत्र शतक १४, उद्देशक ७] (जैन धर्म का मौलिक इतिहास, द्वितीय भाग पृष्ठ ४० के आधार पर)

घट-घट के अन्तर्यामी प्रभु महावीर ने अपने प्रमुख शिष्य गौतम की उस चिन्ता को समझकर कहा— गौतम ! तुम्हारा मेरे प्रति प्रगाढ स्नेह है, अनेक भवो मे हम एक-दूसरे के साथ रहे है। यहाँ से आयु पूर्ण कर हम दोनो एक ही स्थान पर पहुँचेगे और फिर कभी एक दूसरे से विलग नही होगे। मेरे प्रति तुम्हारा यह धर्म-स्नेह ही तुम्हारे लिए केवलज्ञान की प्राप्ति को रोके हुए है। स्नेह-राग के क्षीण होने पर तुम्हे केवलज्ञान की प्राप्ति अवश्य होगी।

इन सभी घटनाओ का सूत्र प्रस्तुत दशम अध्ययन के उपदेश मे होना सम्भव है, इस दृष्टि से भी इस अध्ययन की विशिष्ट स्थिति बनती है।



दशम अध्ययन : द्रुमपत्रक

(दसमं अज्झयणं : दुमपत्तयं)

जीवन की क्षणभंगुरता से अप्रमाद का उपदेश

मूल— दुमपत्तए पंडुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाणजीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१ ॥

संस्कृत-छाया— द्रुमपत्रकं पाण्डुरक यथा, निपतति रात्रिगणानामत्यये ।
एवं मनुष्याणां जीवित, समय गौतम मा प्रमादीः ॥१ ॥

पद्यानुवाद— ज्यो रजनीगण के जाने पर, तरुपत्र पुराने जाते झर ।
वैसे नश्वर मानव-जीवन, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर ॥१ ॥

अन्वयार्थ—जहा— जैसे, **राइगणाण अच्चए—** रात्रिसमूह के बीत जाने पर, **पंडुयए दुमपत्तए—** वृक्ष का पका हुआ पत्ता, **निवडइ—** गिर जाता है, **एवं—** इसी प्रकार, **मणुयाणजीवियं—** मनुष्यो का जीवन (भी एक दिन समाप्त हो जाता है, अत.) **गोयम—** हे गौतम ! **समयं—** समयमात्र भी, **मा पमायए—** प्रमाद मत कर ।

भावार्थ— जैसे रात्रिगण के व्यतीत हो जाने पर वृक्ष का पका हुआ पीला पत्ता झड जाता है, इसी प्रकार मनुष्यो का जीवन भी एक दिन समाप्त हो जाता है । अतः हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद मत कर ।

विवेचन— राइगणाण : भावार्थ— रात्रियो का दिवसो के साथ घनिष्ट सम्बन्ध होने से रात्रिगण का अर्थ है— रात्रियो और दिनो का समूह ।

वृक्ष के पत्ते से मनुष्य-जीवन की तुलना— जैसे कई रात्रियो के बाद वृक्ष का, जो एक दिन नया पत्ता था, वह जराजीर्ण होकर अपने आप गिर जाता है, वैसे ही मनुष्य की आयु भी समय पाकर एक दिन समाप्त हो जाती है ।

पंडुयए : शाब्दिक अर्थ व भावार्थ— इसका शाब्दिक अर्थ पाण्डुर रंग कुछ सफेदी लिये हुए पीले रग का । वृक्ष का पत्ता पकने पर पाण्डुर रग का हो जाता है ।

वृक्ष के पके पत्ते और नये पत्तों का संवाद— निर्युक्तिकार ने एक उद्बोधक सवाद प्रस्तुत किया है.... पके हुए पत्ते ने किसलयो से कहा- "एक दिन हम भी वैसे ही थे, जैसे कि तुम हो, और एक दिन तुम भी वैसे ही हो जाओगे, जैसे कि हम है ।"

जीवन की नश्वरता

मूल— कुसग्गे जह ओसबिंदुए[1], थोवं चिट्ठइ लंबमाणए।
एवं मणुयाणजीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२ ॥
इइ इतरियंमि आउए, जीवियए बहुपच्चवायए।
विहुणाहि रयं पुरे कडं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥३ ॥

संस्कृत-छाया— कुशाग्रे यथावश्यायबिन्दु:, स्तोक तिष्ठति लम्बमानकः ।
एव मनुजानां जीवित, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥२ ॥
इतीत्वर-आयुषि, जीवितके बहुप्रत्यवायके ।
विधुनीहि रज पुराकृत, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥३ ॥

पद्यानुवाद— कुश नोक लटकते ओसबिन्दु, कुछ देर ठहरते ज्यो उस पर ।
वैसे मानव का जीवन है, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर ॥२ ॥
यह अल्पकाल की आयु और, जीवन बहुविघ्नो का है घर ।
कर दूर पुराकृत कर्मधूलि, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर ॥३ ॥

अन्वयार्थ—जह— जैसे, **कुसग्गे—** कुश के अग्रभाग (नोक) पर, **लंबमाणए—** टिकी हुई (लटकती हुई), **ओसबिंदुए—** ओस की बूँद, **थोवं—** थोडी देर, **चिट्ठइ—** ठहरती है, **एवं—** इसी प्रकार, **मणुयाणजीवियं—** मनुष्यो का जीवन है । (अत.) **गोयम—** हे गौतम ! **समयं—** समय (क्षण) मात्र का भी, **मा पमायए—** प्रमाद मत कर ।

इइ— इस प्रकार, **इत्तरियंमि आउए—** अल्पकालीन आयुष्य मे, **बहुपच्चवायए जीवियए—** जीवन बहुत से विघ्नो (प्रत्यवायो) से परिपूर्ण है । अतः **पुरे कडं रयं—** पूर्वकृत कर्मरज को, **विहुणाहि—** दूर कर (झाड दे) । **गोयम !—** हे गौतम ! (इसमें) **समयं—** समयमात्र का भी, **मा पमायए—** प्रमाद न कर ॥३ ॥

भावार्थ— जैसे कुश के अग्रभाग पर टिकी हुई ओस की बूँद बहुत थोडी देर तक ठहरती है, वैसे ही मनुष्यो का भी जीवन है अतः हे गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत कर ॥२ ॥

इस प्रकार आयुष्य बहुत ही थोडा है, और जीवन अनेक विघ्नो से भरा है, अतः (इस थोडे से जीवन मे) पूर्वकृत कर्मरज को (तप-संयम आदि से) दूर करो । हे गौतम ! (इस कार्य में) क्षण भर भी प्रमाद मत करो ॥३ ॥

---

१. विंदुए—लुधियाना से प्रकाशित ।

विवेचन— मनुष्यजीवन को कुशाग्रस्थित ओसबिन्दु की उपमा— कुश डाभ जैसा एक तृण विशेष होता है, उस पर शरत्काल की रात्रि में पड़ी हुई ओस की छोटी-सी बूँद बहुत ही थोड़े समय तक टिकती है, उसी प्रकार मानव-जीवन भी अल्पकाल स्थायी है । किस समय यह जीवनघट फूट जाएगा ?

इसका कोई पता नही है । अतः धर्माराधन में एक क्षण भर भी प्रमाद करना उचित नही है ।

जीवन : अल्प और अनेक विघ्नों से परिपूर्ण— जीवन अर्थात् निरुपक्रम (समय पर समाप्त होने वाला) आयुष्य स्वल्पकाल स्थायी है, किन्तु सोपक्रम (विषादि प्रयोग से बीच मे ही टूट जाने वाला) आयुष्य तो स्वल्पकालीन होते हुए भी रोग, शोक, प्राण-हानि, शस्त्र, जल, विष, अग्नि आदि अनेक संकटो और विघ्नो से घिरा हुआ है । इसलिए गौतम स्वामी को लक्ष्य करके सभी साधको से कहा गया है— 'इस स्वल्प जीवन मे पूर्वकर्मो को आत्मप्रदेशो से अलग करने का अनवरत पुरुषार्थ करो, समयमात्र भी प्रमाद मत करो ।'

दुर्लभ मनुष्यभव पाकर प्रमाद न करो

मूल— दुल्लहे [१] खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं ।
गाढा य विवाग कम्मुणो, समयं गोयम ! मा पमायए ।।४ ।।

संस्कृत-छाया— दुर्लभः खलु मानुषो भवः, चिरकालेनापि सर्वप्राणिनाम् ।
गाढाश्च विपाककर्मणां, समय गौतम मा प्रमादीः ।।४ ।।

पद्यानुवाद— चिर दिन से भी सब जीवो को, मानवजीवन है दुर्लभतर ।
होते हैं कर्मविपाक तीव्र, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर ।।४ ।।

अन्वयार्थ— सव्वपाणिणं— विश्व के समस्त प्राणियो को, **चिरकालेण वि—** चिरकाल मे भी, **माणुसे भवे—** मनुष्यभव (मानव-जीवन) **खलु दुल्लहे—** निश्चय ही दुर्लभ है । **य —** और, **कम्मुणो—** कर्मो का, **विवाग—** विपाक, **गाढा—** गाढ (सुदृढ़) हे । (अतः) **गोयम—** हे गौतम ! **समयं—** क्षण भर भी, **मा पमायए—** प्रमाद मत करो ।

भावार्थ— विश्व के समस्त प्राणियो को चिरकाल मे भी मनुष्यभव दुर्लभ है और कर्मो का विपाक गाढ़ है । अतः हे गौतम ! समयमात्र भी प्रमाद मत करो ।

१. दुलहे— तेरापंथ महासभा ।

विवेचन— मनुष्यजीवन दुर्लभतम : कारण और कर्तव्य— पुण्यरहित समस्त जीवो को सुदीर्घकाल तक मनुष्य जन्म की प्राप्ति दुष्कर है। जिन्होने जीवन मे पुण्योपार्जन नही किया है, उन्हे भी अतिदीर्घकाल तक मनुष्यभव नही मिलता, क्योकि मनुष्यगति-विघातक कर्मो के उदय (विपाक) को हटाना अत्यन्त कठिन होता है। इसलिए जिन्हे ऐसा दुर्लभतम मनुष्यभव प्राप्त हुआ है, उन्हे धर्माचरण मे एक क्षण भी प्रमाद नही करना चाहिए।

मनुष्यभव की दुर्लभता का प्रथम कारण : स्थावरकाय में उत्कृष्ट स्थिति

मूल— पुढविक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥५ ॥
आउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥६ ॥
तेउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम !मा पमायए ॥७ ॥
वाउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥८ ॥
वणस्सइकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालमणंतदुरंतं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥९ ॥

संस्कृत-छाया— पृथिवीकायमतिगतः, उत्कर्ष जीवस्तु सवसेत्।
काल सख्यातीत, समय गौतम मा प्रमादीः ॥५ ॥
अप्कायमतिगतः, उत्कर्ष जीवस्तु सवसेत्।
काल सख्यातीत, समय गौतम मा प्रमादीः ॥६ ॥
तेजस्कायमतिगत, उत्कर्ष जीवस्तु सवसेत्।
कालं संख्यातीत, समय गौतम मा प्रमादीः ॥७ ॥
वायुकायमतिगत, उत्कर्ष जीवस्तु सवसेत्।
काल सख्यातीतं, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥८ ॥
वनस्पतिकायमतिगत, उत्कर्ष जीवस्तु संवसेत्।
कालमनन्त दुरन्तं समय गौतम मा प्रमादीः ॥९ ॥

पद्यानुवाद— पृथ्वी के भव मे जा प्राणी, उत्कृष्ट काल जीवन धर कर।
वसता है काल असख्य वहाँ, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर ॥५ ॥

अप्काययोनि मे जा प्राणी, उत्कृष्ट काल तक जीवन धर।
वसता है काल असंख्य वहाँ, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर ॥६ ॥
तेजस्कायभव में जा प्राणी, उत्कृष्ट काल तक जीवन धर।
वसता है काल असखय वहाँ, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर ॥७ ॥
वायुकाय में जा प्राणी, उत्कृष्ट काल जीवन धर कर।
वसता है काल असख्य वहाँ, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर ॥८ ॥
है हरितकाय-भव जा प्राणी, उत्कृष्ट काल जीवन धर कर।
वसता है काल अनन्त वहाँ, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर ॥९ ॥

अन्वयार्थ— पुढविक्कायमइगओ— पृथ्वीकाय में गया (उत्पन्न) हुआ, **जीवो—** जीव, **उक्कोसं उ—** उत्कृष्टतः (अधिक से अधिक), **संखाईयं कालं—** असंख्य काल तक, **संवसे—** रहता है। (अतः) **गोयम—** हे गौतम ! **समयं—** समयमात्र का भी, **मा पमायए—** प्रमाद मत कर ॥५ ॥

आउक्कायमइगओ— अप्काय (जल) मे गया (उत्पन्न) हुआ, **जीवो—** जीव, **उक्कोसं उ—** उत्कृष्टतः, **संखाईयंकालं—** असंख्य काल तक, **संवसे—** रहता है। **अतः गोयम—**, हे गौतम !, **समयं—** समयमात्र का भी, **मा पमायए—** प्रमाद मत कर ॥६ ॥

तेउक्कायमइगओ— तेजस्काय (अग्नि) मे गया (उत्पन्न) हुआ, **जीवो—** जीव, **उक्कोसं य—** उत्कृष्टतः, **संखाईयं कालं—** असंख्य काल तक, **संवसे—** रहता है। (अतः) **गोयम—** हे गौतम ! **समयं—** समयमात्र का भी, **मा पमायए—** प्रमाद मत कर ॥७ ॥

वाउक्कायमइगओ— वायुकाय मे गया (उत्पन्न) हुआ, **जीवो—** जीव, **उक्कोसं उ—** उत्कृष्टतः, **संखाईयं कालं—** असख्य काल तक, **संवसे—** रहता है (अत.) **गोयम—** हे गौतम ! **समयं—** समयमात्र का भी, **मा पमायए—** प्रमाद मत कर ॥८ ॥

वणस्सइकायमइगओ— वनस्पतिकाय मे गया (उत्पन्न) हुआ, **जीवो—** जीव, **उक्कोसं उ—** उत्कृष्टतः, **दुरंत अणंत-कालं—** दु.ख से समाप्त होने वाले अनन्तकाल तक, **संवसे—** रहता है। (अतः) **गोयम—** हे गौतम ! **समयं—** समयमात्र का भी, **मा पमायए—** प्रमाद मत कर ॥९ ॥

विवेचन— पृथ्वीकायादि स्थावरों की अपने-अपने निकाय में कायस्थिति— प्रस्तुत पाँच गाथाओं (५ से ९ तक) मे स्थावर जीवो की कायस्थिति का निरूपण किया गया है। स्थिति (आयुष्यकाल) दो प्रकार की है— (१) भवस्थिति और (२) कायस्थिति। जीव का एक भव मे जितने काल तक जीना होता है वह उसकी भवस्थिति कहलाती है और मृत्यु के पश्चात् अपने उसी जीवनिकाय के शरीर मे उत्पन्न होना कायस्थिति है। पृथ्वीकाय से लेकर वायुकाय तक के जीव निरन्तर असख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी परिमित काल तक अपने-अपने स्थानों

मे उत्पन्न होते रहते है, इसे ही शास्त्रीय भाषा मे कहा गया है— ये चारो स्थावर जीव (लगातार) सख्यातीत काल तक उत्कृष्टतः वही पर उसी रूप (कायस्थिति के रूप) मे रहते है ।

वनस्पतिकायिक जीवों की उत्कृष्टस्थिति— अनन्तकायिक वनस्पति जीवो की अपेक्षा से वनस्पतिकायिक जीवो की उत्कृष्ट कायस्थिति अनन्तकालतक की कही गई है, किन्तु यह कथन साधारण वनस्पतिकायिक जीवो की अपेक्षा से समझना चाहिए, क्योकि प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवो की स्थिति असंख्यात काल है ।

दुरन्त अनन्तकाल का आशय— वनस्पतिकाय की अनन्तकाल तक स्थिति बताई है, इसमे अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल व्यतीत हो जाता है, किन्तु इस अनन्तकाल का अन्त बडा ही दुष्कर होताहै, इसलिए 'दुरन्त' शब्द इसके साथ प्रयुक्त किया गया है ।

उत्कृष्ट स्थिति बताने का कारण और कर्तव्य— साधारण वनस्पतिकाय की अनन्तकालीन उत्कृष्ट स्थिति होती है । ये जीव अत्यल्प बोध वाले होने से, वहाँ से निकलकर भी प्राय. विशिष्ट मनुष्यादि भव को नही प्राप्त करते । इसीलिए कहा गया है कि अतिदुर्लभ इस मनुष्यभव का एक समय भी प्रमाद मे व्यतीत मत करो ।

मानवभव-दुर्लभता का दूसरा कारण— त्रसकाय में उत्कृष्ट स्थिति

मूल— [१] बेइंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्ज सन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१० ॥
[२] तेइंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्ज सन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥११ ॥
चउरिंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१२ ॥
पंचिंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
सत्तट्ठभवग्गहणे [३], समयं गोयम ! मा पमायए ॥१३ ॥
देवे नेरइए य अइगओ [४], उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
इक्किक्क [५] भवग्गहणे [६], समयं गोयम !मा पमायए ॥१४ ॥

१. बेंदिय— लुधियाना से प्रकाशित ।
२ तेंदिय— लुधियाना से प्रकाशित ।
३ भवगहणे— लुधियाना से प्रकाशित ।
४ मइगओ— लुधियाना से प्रकाशित ।
५. इक्केक्क— लुधियाना से प्रकाशित ।
६. भवगहणे— लुधियाना से प्रकाशित ।

संस्कृत-छाया— द्वीन्द्रियकायमतिगतः, उत्कर्ष जीवस्तु सवसेत् ।
काल संख्येयसञ्ज्ञित, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥१० ॥
त्रीन्द्रियकायमतिगतः, उत्कर्ष जीवस्तु सवसेत् ।
कालं संख्येयसंज्ञितं, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥११ ॥
चतुरिन्द्रियकायमतिगतः, उत्कर्ष जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्येयसंज्ञितं, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥१२ ॥
पचेन्द्रियकायमतिगतः, उत्कर्षजीवस्तु संवसेत् ।
सप्ताष्टभवग्रहणानि, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥१३ ॥
देवान्नैरयिकाँश्चातिगतः, उत्कर्ष जीवस्तु संवसेत् ।
एकैकभवग्रहणं, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥१४ ॥

पद्यानुवाद— दो इन्द्रियकाय पहुँच प्राणी, उत्कृष्ट काल जीवन धर कर ।
रहता संख्यामित काल वहाँ, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर ॥१० ॥
त्रीन्द्रियकाय पहुँच प्राणी, उत्कृष्ट काल जीवन धर कर ।
रहता संख्यामित काल वहाँ, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर ॥११ ॥
चतुरिन्द्रिय योनि मे जा प्राणी, उत्कृष्ट काल जीवन धर कर ।
रहता संख्यामित काल वहाँ, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर ॥१२ ॥
पंचेन्द्रियभव मे जा प्राणी, उत्कृष्टकाल जीवन धर कर ।
सात-आठ भव ग्रहण करे, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर ॥१४ ॥

अन्वयार्थ—**बेइंदियकायमइगओ**— द्वीन्द्रियकाय मे गया (उत्पन्न) हुआ, **जीवो**— जीव, **उक्कोसं उ**— उत्कृष्टतः, **संखिज्ज सन्नियं कालं**— सख्येय (संज्ञक) काल तक, **संवसे**— रहता है, **गोयम**— हे गौतम !, **समयं**— समयमात्र का, **मा पमायए**— प्रमाद मत कर ॥१० ॥

तेइंदियकायमइगओ— त्रीन्द्रियकाय मे गया (उत्पन्न) हुआ, **जीवो**— जीव, **उक्कोसं उ**— उत्कृष्टतः (अधिक से अधिक), **संखिज्जसन्नियं कालं**— सख्येय काल तक, **संवसे**— रहता है । **गोयम**— हे गौतम !, **समयं**— समयमात्र का भी, **मा पमायए**— प्रमाद मत ॥११ ॥

चउरिंदियकायमइगओ— चतुरिन्द्रियकाय मे उत्पन्न हुआ, **जीवो**— जीव, **उक्कोसं उ**— उत्कृष्टतः, **संखिज्जसन्नियं कालं**— संख्यात काल तक, **संवसे**— रहता है (अतः) **गोयम**— हे गौतम !, **समयं**— समय मात्र का भी, **मा पमायए**— प्रमाद मत कर ॥१२ ॥

पंचिंदियकायमइगओ— पंचेन्द्रिय काय मे उत्पन्न हुआ, **जीवो**— जीव, **उक्कोसं**— उत्कृष्टतः, **सत्तट्ठभवग्गहणे**— सात या आठ जन्म-ग्रहण (भव) तक, **संवसे**— रहता है (अतः),

गोयम— हे गौतम !, **समयं**— क्षण भर का भी, **मा पमायए**— प्रमाद मत कर ॥१३ ॥

देवे न नेरइए— देव और नरक योनि मे, **अइगओ**— गया (उत्पन्न) हुआ, **जीवो**— जीव, **उक्कोसं उ**— उत्कृष्टत, **इक्किक्कभवग्गहणे**— एक-एक भव (जन्म) ग्रहण तक, **संवसे**— रहता है (अत.), **गोयम**— हे गौतम ! **समयं**— समय मात्र का भी, **मा पमायए**— प्रमाद मत कर ॥१४ ॥

विवेचन—द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों की उत्कृष्ट स्थिति— स्पर्शन एवं रसन रूप दो इन्द्रियो वाले जीव द्वीन्द्रिय, स्पर्शन, रसन और घ्राण इन तीनो इद्रियो वाले जीव त्रीन्द्रिय, स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु इन चार इन्द्रियो वाले जीव चतुरिन्द्रिय और स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पॉचो इन्द्रियो वाले जीव पचेन्द्रिय कहलाते है ।

विकलेन्द्रिय जीवों की संख्येयकाल-स्थिति— दो,तीन और चार इन्द्रियो वाले जीव हजारो वर्षो तक अपने निकायो मे रह सकते है इसीलिए उनकी उत्कृष्ट स्थिति सख्यातकाल तक की बताई गई है ।

पंचेन्द्रिय की स्थिति— किन्तु पचेन्द्रिय जीव उसीकाय मे लगातार सात या आठ जन्म ले सकते है इसलिए उनकी उत्कृष्ट स्थिति ७-८ भव की बताई गई है । जैन सिद्धान्त के अनुसार देव और नारक मृत्यु के पश्चात् पुनः देव और नारक नही बनते । इसीलिए उनका उत्कृष्ट अवस्थान काल एक-भव होता है । अर्थात्- उनके भवस्थिति ही होती है, कायस्थिति नही । तिर्यञ्च और मनुष्य मरकर पुन· तिर्यञ्च और मनुष्य बन सकते है, इसलिए उनके कायस्थिति भी होती है । पचेन्द्रिय मनुष्य का उत्कृष्ट अवस्थान काल न बताकर तिर्यच पचेन्द्रिय जीवो का अवस्थान काल बताया गया है, इसका कारण यह है कि मनुष्यभव की दुर्लभता का यह प्रकरण है । इसलिए भगवान् की दी गई प्रेरणा का आशय यह है कि इतनी कठिनता से प्राप्त अतिदुर्लभ मानव जन्म को पाकर अब इसका एक क्षण भी प्रमाद मे मत खोओ ।

प्रमादबहुल जीव का सतत भवभ्रमण

मूल— एवं भवसंसारे, संसरइ सुहासुहेहिं [1] कम्मेहिं।
जीवो पमायबहुलो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१५ ॥

संस्कृत-छाया— एव भवससारे, ससरति शुभाशुभैः कर्मभि ।
जीव· प्रमादबहुल, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥१५ ॥

१ सहासुहेहि— तेरापंथ महासभा ।

पद्यानुवाद— यों कर्म शुभाशुभ से प्राणी, भव-भव मे भटके तन धर कर।
विषयादि-प्रमाद मे भान भूले, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर ॥१५ ॥

अन्वयार्थ—एवं— इस प्रकार (पूर्वोक्त वर्णन के अनुसार), **पमायबहुलो जीवो**— प्रमाद की अधिकता वाला जीव, **सुहासुहेहिं कम्मेहिं**— शुभाशुभ कर्मो के कारण, **भवसंसारे**— जन्म-मरण रूप संसार मे, **संसरइ**— परिभ्रमण करता है (अतः), **गोयम**— हे गौतम ! **समयं**— समय मात्र का भी, **मा पमायए**— प्रमाद मत कर।

भावार्थ— इस (पूर्वोक्त वर्णन) के अनुसार प्रमाद की अधिकता वाला जीव अपने पूर्वकृत शुभ-अशुभ कर्मो के कारण चतुर्गतिक जन्म-मरणरूप संसार मे (अनन्तकाल तक सतत) परिभ्रमण करता रहता है। (अतः) हे गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत कर।

विवेचन-निष्कर्ष— पूर्वगाथाओ मे जो एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक तथा देव और नारक तक की भवस्थिति एवं कायस्थिति बतला कर इस गाथा मे उन सबका निष्कर्ष दिया है कि शुभाशुभ कर्मवश उन-उन गतियो एवं योनियो में बार-बार जन्म-मरण करके भवभ्रमण करते हुए विषय-कषायों— प्रमादो मे डूबे हुए जीव को मनुष्य जन्म मिलना अत्यन्त दुर्लभ हो जाता है। इसलिए जिन्हें अतिदुर्लभ मनुष्य जन्म मिला है, उन्हे चाहिए कि वे एक क्षण भी प्रमाद में न खोएँ।

मनुष्यत्व पाकर भी ये घाटियाँ पार करना दुर्लभतर

मूल— लद्धूण वि माणुसत्तणं, आरिअत्तं[1] पुणरावि दुल्लह।
बहवे दसुया मिलेक्खुया समयं गोयम ! मा पमायए ॥१६ ॥
लद्धूण वि आरियत्तणं अहीणपंचिंदियया[2] हु दुल्लहा।
विगलिंदियया हु दीसई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१७ ॥
अहीण पंचिंदियत्तं[3] पि से लहे, उत्तम धम्म-सुई हु दुल्लहा।
कुतित्थि-निसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१८ ॥
लद्धूण वि उत्तमं सुइं, सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा।
मिच्छत्त निसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१९ ॥
धम्मं पि हु सद्दहंतया, दुल्लहया काएण फासया।
इह कामगुणेहि[4] मुच्छिया, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२० ॥

१. आयरिअत्तं— लुधियाना से प्रकाशित।
२. पंचेंदियया— लुधियाना से प्रकाशित।
३. पंचेंदिय— लुधियाना से प्रकाशित।, ४. गुणेहि— लुधियाना से प्रकाशित।

संस्कृत-छाया— लब्ध्वापि मानुषत्वम्, आर्यत्व पुनरपिदुर्लभम् ।
बहवो दस्यवो म्लेच्छा, समय गौतम मा प्रमादीः ॥१६ ॥
लब्ध्वाप्यार्यत्व, अहीनपचेन्द्रियता हु दुर्लभा ।
विकलेन्द्रियता हु दृश्यते, समय गौतम मा प्रमादीः ॥१७ ॥
अहीनपचेन्द्रियत्वमपि स लभेत, उत्तमधर्मश्रुति खु दुर्लभा ।
कुतीर्थिनिषेवको जनो, समयं गौतम मा प्रमादी· ॥१८ ॥
लब्ध्वाप्युत्तमां श्रुतिं, श्रद्धान पुनरपि दुर्लभम् ।
मिथ्यात्वनिषेवको जनो, समय गौतम मा प्रमादी· ॥१९ ॥
धर्ममपि हु श्रद्दधत, दुर्लभका· कायेन स्पर्शकाः ।
इह कामगुणेषु मूर्च्छिता, समय गौतम मा प्रमादी· ॥२० ॥

पद्यानुवाद— दुर्लभ मानवभव पाकर भी, आर्यत्व पाना है दुर्लभतर ।
है दस्यु म्लेच्छ करोडो नर, गौतम ! प्रमाद न क्षण का कर ॥१६ ॥
पाकर भी आर्यत्व, पूर्ण- पंचेन्द्रिय पाना है अतिदुष्कर ।
है कितने (ही) इन्द्रियविकल यहाँ, गौतम प्रमाद न क्षण का कर ॥१७ ॥
अविकल पॉचो इन्द्रिय पाई, पर उत्तम धर्म श्रवण दुष्कर ।
(है) कुतीर्थ-सेवी जन बहुतेरे, गौतम ! प्रमाद न क्षण का कर ॥१९ ॥
धार्मिक श्रद्धा होने पर भी, आचरण धर्म का अतिदुष्कर ।
हो जाते कामगुणमूर्च्छित कई, गौतम ! प्रमाद न क्षण का कर ॥२० ॥

अन्वयार्थ— माणुसत्तणं—(दुर्लभ) मनुष्य जीवन, **लद्धूण वि**—पाकर भी, **आरिअत्तं**—आर्यत्व पाना, **पुणरावि**—और भी, **दुल्लहं**— दुर्लभ है, (क्योकि मनुष्य होकर भी) **बहवे**—बहुत से लोग, **दसुया**— दस्यु (और) **मिलेक्खुया**[१] — म्लेच्छ होते है (अत) **गोयम**— हे गौतम ! **समयं**— समय मात्र का भी, **मा पमायए**— प्रमाद मत कर ॥१६ ॥

१. दस्यु, म्लेच्छ आदि शब्दों के विशेषार्थ— दस्यु— देश की सीमा पर रहने वाला, तस्कर, चोर, डाकू आदि । म्लेच्छ = पर्वत आदि की गुफाओं, बीहड़ों, आदि में रहने वाले तथा जिनकी भाषा को आर्यजन भलीभाँति नही समझते, अथवा शक, शबर आदि देशों में जन्में हुए व्यक्ति । कहा भी है—

पुलिंदा नाहला नेष्टा., शबरा वरटा भटा. ।
माला भिल्लाः किराताश्च सर्वेऽपि म्लेच्छजातय. ॥

अर्थात्— पुलिद, नाहल, नेष्ट, शवर, वरट, भट, माला, भिल्ल (भील) और किरात, ये सव म्लेच्छ जाति में परिगणित हैं ।

आरियत्तणं— आर्यत्व (या आर्य देश मे जन्म), **लद्धूण वि**— पाकर भी, **अहीणपंचिंदियया**— पाँचो इन्द्रियो की अविकलता (या पंचेन्द्रिय परिपूर्णता) पाना, **हु**— निश्चय ही, **दुल्लहा**— दुर्लभ है (क्योकि बहुत-से लोगो मे), **विगलेंदियया हु**— विकलेन्द्रियता (इन्द्रियविकलता), **दीसई**— दिखायी देती है (इसलिए), **गोयम**— हे गौतम ! **समयं**— समय मात्र का भी, **मा पमायए**— प्रमाद न कर ॥१७॥

(कदाचित्) **से**— वहाँ, **अहीणपंचिंदियत्तं**— अविकल-पंचेन्द्रियता (पूर्ण-पंचेन्द्रियत्व) भी, **लहे**— प्राप्त कर ले, **उत्तमधम्मसुई हु**— उत्तम धर्म-श्रवण पुनः, **दुल्लहा**— दुर्लभ है, (क्योकि बहुत से), **कुतित्थिनिसेवए जणे**— कुतीर्थिकों के उपासक लोग भी (देखे जाते हैं) (इसलिए), **गोयम**— हे गौतम !, **समयं**— क्षण भर का भी, **मा पमायए**— प्रमाद न कर ॥१८ ॥

उत्तमं सुइं— (कदाचित्) उत्तम धर्म-श्रवण रूप श्रुति, **लद्धूण वि**— प्राप्त हो जाने पर भी, **सद्दहणा**—(उस सद्धर्म या उस सुने हुए धर्म पर) श्रद्धा होना, **पुणरावि**— और भी, **दुल्लहा**— दुर्लभ है (क्योकि बहुत-से), **मिच्छत्तनिसेवए जणे**— मिथ्यात्व का सेवन करने वाले लोग हैं (अतः) **गोयम**— हे गौतम ! **समयं**— क्षणमात्र का भी, **मा पमायए**— प्रमाद मत कर ॥१९ ॥

धम्मं पि हु— उत्तम धर्म पर, **सद्दहंतया**— श्रद्धा होने पर भी, **काएणफासया**— तदनुरूप काया से स्पर्शन— आचरण होना, **दुल्लहा**— दुर्लभ है, **इह**— इस संसार मे, (बहुत-से धर्म श्रद्धालु भी), **कामगुणेहिं**— काम-भोगो मे, **मुच्छिया**— मूर्च्छित (आसक्त) है (अतः) **गोयम**— हे गौतम ! **समयं**— समय मात्र का भी, **मा पमायए**— प्रमाद मत कर ॥२० ॥

विवेचन— मनुष्यभव के बाद उत्तरोत्तर दुर्लभः आर्यत्वादि— प्रस्तुत पॉच गाथाओ (१६ से २० तक) मे मनुष्य भव प्राप्ति के पश्चात् आर्यत्व, पंचेन्द्रिय-पूर्णता, उत्तमधर्मश्रवण, श्रद्धा और धर्माचरण ये पॉच बाते मिलनी उत्तरोत्तर दुर्लभतर-दुर्लभतम बताई हैं। मनुष्यत्व की दुर्लभता के कारण पहले बता दिये गए है, इनकी दुर्लभता के कारण मूल गाथाओ मे प्रतिपादित है।

अहीणपंचेंदियत्तं : दो अर्थ— (१) इन्द्रियों की सम्पूर्णता, (२) इन्द्रियो की पूर्ण स्वस्थता। बहुत से लोग आर्य देश या कुल मे उत्पन्न होकर भी रोगी या अंगविकल होते है।

कुतित्थिनिसेवए— इन्द्रियो की पूर्णता मिलने पर भी मनुष्य प्रायः कुतिर्थिकोपासक हो जाता है। कुर्थीतिक यश, सत्कार तथा द्रव्य आदि पाने की लालसा से ठकुरसुहाती एवं मनोज्ञविषयादि सेवन का उपदेश देते है, इस कारण वह सद्धर्मश्रवण से वंचित रहता है।

कामगुणेहिं मुच्छिया : व्याख्या— मन-वचन-काय से धर्म की आराधना इसलिए कठिनतर है कि संसार मे अधिकांश जीव विषयासक्त बने रहते हैं। धर्मविषयक ज्ञान के

अभाव मे अज्ञानी जीवो की रुचि एवं अभिलाषा प्रायः अपथ्य रूप विषयो के प्रति बनी रहती है । इसलिए सद्धर्म के प्रति श्रद्धा होते हुए भी वे उसका आचरण नही कर पाते ।

इन्द्रियबल की उत्तरोत्तर क्षीणता के कारण अप्रमादप्रेरणा

मूल— परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते ।
से सोयबले य हायइ, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२१ ॥
परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते ।
से चक्खुबले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२२ ॥
परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते ।
से घाणबले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२३ ॥
परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते ।
से जिब्भबले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२४ ॥
परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते ।
से फासबले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२५ ॥
परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते ।
से सव्वबले य हायइ, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२६ ॥

संस्कृत-छाया— परिजीर्यति ते शरीरकं, केशा पाण्डुरका भवन्ति ते ।
तच्छ्रोत्रबल च हीयते, समय गौतम मा प्रमादीः ॥२१ ॥
परिजीर्यति ते शरीरकं, केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते ।
तच्चक्षुर्बल च हीयते, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥२२ ॥
परिजीर्यति ते शरीरकं, केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते ।
तद्घ्राणबल च हीयते, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥२३ ॥
परिजीर्यति ते शरीरकं, केशा पाण्डुरका भवन्ति ते ।
तज्जिह्वाबल च हीयते, समय गौतम मा प्रमादी· ॥२४ ॥
परिजीर्यति ते शरीरकं, केशा पाण्डुरका भवन्ति ते ।
तत् स्पर्शबलं च हीयते, समय गौतम मा प्रमादी· ॥२५ ॥
परिजीर्यति ते शरीरक, केशा पाण्डुरका भवन्ति ते ।
तत् सर्वबलं च हीयते, समयं गौतम मा प्रमादी· ॥२६ ॥

पद्यानुवाद— हो रहा जीर्ण यह तन तेरा, हो रहे केश ये धवल पककर।
घट रहा श्रवणबल है तेरा, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर ॥२१ ॥
हो रहा जीर्ण यह तन तेरा, हो रहे केश ये धवल पककर।
घट रहा नयनबल है तेरा, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर ॥२२ ॥
हो रहा जीर्ण यह तन तेरा, हो रहे केश ये धवल पककर।
घट रहा घ्राणबल है तेरा, गौतम ! प्रमाद न क्षण का कर ॥२३ ॥
हो रहा जीर्ण यह तन तेरा, हो रहे केश ये धवल पककर।
घट रहा तुम्हारा रसनाबल, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर ॥२४ ॥
हो रहा जीर्ण यह तन तेरा, हो रहे केश ये धवल पककर।
घट रहा स्पर्श का बल तेरा, गौतम प्रमाद क्षण का मत कर ॥२५ ॥
हो रहा जीर्ण यह तन तेरा, हो रहे केश ये धवल पककर।
क्रमशः सब बल हो रहे क्षीण, गौतम ! प्रमाद न क्षण का कर ॥२६ ॥

अन्वयार्थ— ते— तुम्हारा, **सरीरयं**— शरीर, **परिजूरइ**— सब प्रकार से जीर्ण हो रहा है, **ते**— तुम्हारे, **केसा**— केश (सिर के बाल), **पंडुरया**— सफेद, **हवंति**— हो रहे है। **य**— और, **से सोयबले**— श्रोत्र (कान) का वह (पूर्ववर्ती) बल, **हायइ**—घट रहा है (अतः), **गोयम**— हे गौतम ! **समयं**— समय मात्र का भी, **मा पमायए**— प्रमाद मत कर ॥२१ ॥

ते सरीरयं परिजूरइ— तुम्हारा शरीर सब प्रकार से जीर्ण हो रहा है। **ते केसा पंडुरया हवंति**— तुम्हारे केश श्वेत हो रहे है, **य**— और, **से चक्खुबले हायई**— नेत्र का वह (पूर्ववर्ती) बल घट रहा है, **गोयम**— हे गौतम ! **समयं मा पमायए**— समय मात्र का भी प्रमाद मत कर ॥२२ ॥

ते सरीरयं परिजूरइ— तुम्हारा शरीर परिजीर्ण (सर्वथा जीर्ण) हो रहा है, **ते केसा पंडुरया हवंति**— तुम्हारे केश श्वेत हो रहे है, **य**— और, **से घाणबले हायई**— घ्राण (नासिका) का वह (पूर्ववर्ती) बल घट रहा है (अतः), **गोयम**— हे गौतम ! **समयं मा पमायए**— समय मात्र का भी प्रमाद मत कर ॥२३ ॥

ते सरीरयं परिजूरइ— तुम्हारा शरीर परिजीर्ण हो रहा है। **ते केसा पंडुरया हवंति**— तुम्हारे केश श्वेत हो रहे है। **य**— और, **से जिब्भबले हायई**— जिह्वा का वह (पूर्ववर्ती) बल घट रहा है। (अतः) **गोयम**— हे गौतम ! **समयं मा पमायए**— समयमात्र का भी प्रमाद मत कर ॥२४ ॥

ते सरीरयं परिजूरइ— तुम्हारा शरीर परिजीर्ण हो रहा है । **ते केसा पंडुरया हवंति**— तुम्हारे केश श्वेत हो रहे है । 'य— और, **से फासबले हायई**— स्पर्श का वह (पूर्ववर्ती) बल घट रहा है । (अत) **गोयम**— गौतम ! **समयं मा पमायए**— समयमात्र का भी प्रमाद मत कर ॥२५ ॥

ते सरीरयं परिजूरइ— तुम्हारा शरीर अत्यन्त जीर्ण हो रहा है, **ते केसा पंडुरया हवंति**— तुम्हारे सिर के केश सफेद हो रहे है, **य**— और, **से सव्वबले**— क्रमश. समस्त (इन्द्रियो या अगो का) बल, **हायइ**— क्षीण हो रहा है । (अत) **गोयम**— हे गौतम !, **समयं मा पमायइ**— समयमात्र का भी प्रमाद मत कर ॥२६ ॥

भावार्थ— हे गौतम ! प्रतिक्षण उम्र घटती जाने के साथ तुम्हारा यह शरीर अत्यन्त जीर्ण होता जा रहा है, यौवन मे नेत्रो को आनन्ददायक ये तुम्हारे काले केश अब सफेद हो रहे है । और श्रोतबल, (श्रवणशक्ति) जो पहले बहुत तीव्र था, अब कमजोर हो रहा है, ऐसी स्थिति मे तुम क्षण भर भी प्रमाद मत करो ॥२१ ॥

इसी तरह तुम्हारा शरीर जराजीर्ण हो रहा है, केश पककर सफेद हो रहे है और नेत्रबल, जो पहले बहुत तेज था, अब क्षीण हो रहा है । ऐसी स्थिति मे, हे गौतम ! तुम क्षण का भी प्रमाद मत करो ॥२२ ॥

तुम्हारा शरीर अतिजीर्ण हो रहा है, उम्र के साथ तुम्हारे केश पक गए है, और नासिकेन्द्रिय का वह पूर्ववर्ती बल अब घट गया है । ऐसी स्थिति मे, हे गौतम ! तुम क्षण भर भी प्रमाद मे मत खोओ ॥२३ ॥

तुम्हारा शरीर वृद्धावस्था के कारण अत्यन्त शिथिल हो रहा है, और केश श्वेत हो रहे है और जिह्वा का वह सामर्थ्य अब कम हो रहा है, अत हे गौतम ! एक क्षण का भी प्रमाद मत करो ॥२४ ॥

तुम्हारा शरीर अत्यन्त जीर्णशीर्ण हो रहा है, और तुम्हारे ये केश सफेद हो रहे है । और देखो, तुम्हारी स्पर्शनिन्द्रिय की वह पहले वाली शक्ति अब क्षीण हो रही है, अत गौतम ! अब एक पल भी प्रमाद मत करो ॥२५ ॥

तुम्हारा यह तन जीर्ण-शीर्ण हो रहा है । तुम्हारे ये केश अब सफेद हो रहे है और क्रमशः तुम्हारी इन्द्रियो और अगो की समस्त शक्ति अब क्षीण हो रही है । अत- गौतम !समयमात्र का भी प्रमाद मत करो ॥२६ ॥

विवेचन— शरीर और इन्द्रियों के बल की क्षीणता— प्रस्तुत ६ गाथाओ (२१ से २६ तक) मे वृद्धावस्था के कारण शरीर की जीर्ण-शीर्णता के साथ श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय,

घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय एवं स्पर्शनेन्द्रिय के बल की क्षीणता का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रतिपादन के पीछे यह प्रेरणा निहित है कि शरीर, इन्द्रियो तथा हाथ-पैर आदि अंगोपांगों का बल, स्वस्वप्रवृत्ति, सामर्थ्य, स्फूर्ति, उत्साह अथवा मन-वचन काय की ध्यान, अध्ययन, गमनागमन आदि चेष्टाविषयक शक्ति एवं क्षमता सब कुछ अस्थिर है, उम्र के बढने के साथ-साथ अथवा रोगादि से आक्रान्त होने पर सब कुछ क्षीण होने से, शरीर स्वयं विनाशोन्मुख होने लगता है। इसलिए एक क्षणभर भी प्रमाद करना उचित नही है।

शीघ्रविघातक रोगों से शरीर का विध्वंस

मूल— अरई गंडं विसूइया, आयंका विविहा फुसंति ते।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२७॥

संस्कृत-छाया— अरतिर्गण्डं विषूचिका, आतका विविधाः स्पृशन्ति त्वाम्।
विपतति विध्वस्यते ते शरीरकं, समय गौतम मा प्रमादीः ॥२७॥

पद्यानुवाद— फोड़ा, पित्त तथा हैजा करते, अनेक रुज तन में घर।
जिनसे विनष्ट होती काया, गौतम ! प्रमाद न क्षण का कर ॥२७॥

अन्वयार्थ—अरई— वातविकार आदि जन्य चित्त का उद्वेग (या पित्त रोग) **गंडं—** फोड़ा, **विसूइया—** विसूचिका (हैजा), (और) **विविहा आयंका—** विविध प्रकार के शीघ्रघाती रोग (आतंक), **ते फुसंति—** तुम्हारे शरीर को स्पर्श करते है, (जिनसे) **ते सरीरयं—** तुम्हारा शरीर, **विहडइ—** गिर जाता है, **विद्धंसइ—** विध्वस्त (नष्ट) हो जाता है, (अतः) **गोयम—** हे गौतम ! **समयं—** समयमात्र का भी, **मा पमायए—** प्रमाद मत कर ॥

मूल— वोछिंद सिणेहमप्पणो, कुमुयं सारइयं व पाणियं।
से सव्वसिणेहवज्जिए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२८॥

संस्कृत-छाया— व्युच्छिन्धि स्नेहमात्मनः, कुमुद शारदमिव पानीयम्।
तत्सर्वस्नेहवर्जितः, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥२८॥

पद्यानुवाद— ज्यो शरत्कमल जललिप्त न हो, यो स्नेहभाव निज छेदन कर।
हो जा निर्लिप्त सर्वथा जग से तू, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर ॥२८॥

अन्वयार्थ— सारइयं कुमुयं— शरद् ऋतु-सम्बन्धी कुमुद (चन्द्रविकासी कमल), **पाणियं व—** जैसे जल से (लिप्त नही होता), उसी प्रकार (तुम भी) **अप्पणो सिणेहं—** अपने स्नेह (बन्धन-लिप्तता) को, **वोछिंद—** तोड (या विच्छेद कर) दो, और **से—** फिर, **सव्वसिणेह वज्जिए—** सभी प्रकार के स्नेह (बन्धन या लिप्तता) का त्यागी बन, **गोयम—** गौतम ! (इसमें) **समयं—** समयमात्र का भी, **मा पमायए—** प्रमाद मत कर।

विवेचन— स्नेह का तात्पर्य— स्नेह का अर्थ यहाँ आसक्ति या लिप्तता है। इसीलिए यहाँ कमल की उपमा दी गई है।

स्नेह-मुक्ति का उपदेश क्यों?— यद्यपि गौतम स्वामी सभी पदार्थो के प्रति स्नेह से मुक्त थे, विषयभोगो से भी विरक्त थे, केवल भगवान् महावीर के प्रति उनका प्रशस्त राग था। भगवान् वीतराग थे। वे चाहते थे कि गौतम मेरे प्रति प्रशस्त राग (स्नेह) भी न रखे। इसीलिए 'वोच्छिंद सिणेहमप्पणो' कहकर उन्होने स्नेहमुक्ति का संकेत किया है।

पूर्व परिचितों के प्रति अनासक्ति का उपदेश

मूल— चिच्चाण धणं च भारियं, पव्वइओ हि सि अणगारियं।
मा वंतं पुणो वि आविए, [१] **समयं गोयम! मा पमायए॥२९॥**
अवउज्झिय मित्तबंधवं, विउलं चेव धणोहसंचयं।
मा तं बिइयं गवेसए, समयं गोयम! मा पमायए॥३०॥

संस्कृत-छाया— त्यक्त्वा नु धनं च भार्या, प्रव्रजितो ह्यस्यनगारिताम्।
मा वान्तं पुनरप्यापिब, समय गौतम मा प्रमादीः॥२९॥
अपोह्य मित्रबान्धवं, विपुलं चैव धनौघसचयम्।
मा तद् द्वितीयं गवेषय, समय गौतम मा प्रमादीः॥३०॥

पद्यानुवाद— धन-पत्नी को छोड, प्रव्रज्या, से मुनिता के पथ (पर) बढकर।
वान्त भोग फिर मत पीना, गौतम! प्रमाद क्षणभर मत कर॥२९॥
बान्धव, मित्र, विपुल सचित, धन को पूरे मन से तजकर।
मत फिर से उनकी इच्छा धर, गौतम! प्रमाद क्षण का मत कर॥३०॥

अन्वयार्थ— धणं— धन, **च—** और, **भारियं—** भार्या (पत्नी) का, **चिच्चा—** परित्याग कर, तू **अणगारियं—** अनगार-वृत्ति मे, **पव्वइओ हि सि—** प्रव्रजित हुआ (घर से निकला) है, (अत.) **वंतं—** एक बार वमन किये हुए भोगो को, **पुणो मा वि आविए—** पुनः मत पी, अर्थात् स्वीकार मत कर। **गोयम—** हे गौतम! **समयं मा पमायए—** समयमात्र का भी प्रमाद मत कर।

मित्तबंधवं— मित्र बान्धव, **चेव—** और, **विउलं धणोहसंचयं—** विपुल स्वर्णादि धनराशि को, **अवउज्झिय—** छोडकर, **तं—** उन मित्रादि की, **बिइयं—** दूसरी बार अर्थात् फिर से, **मा गवेसए—** गवेषणा (तलाश) मत कर, **गोयम—** हे गौतम! **समयं—** समयमात्र का भी, **मा पमायए—** प्रमाद मत कर।

---

१. आइए— तेरापंथ महासभा।

प्राप्त नैयायिक पथ पर अप्रमत्ततापूर्वक चलने का निर्देश

मूल— न हु जिणे अज्ज दिस्सई, बहुमए दिस्सई [१] मग्गदेसिए।
संपइ नेयाउए पहे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥३१ ॥
अवसोहिय कंटगापहं, ओइण्णो सि पहं महालयं ।
गच्छसि मग्गं विसोहिया, समयं गोयम ! मा पमायए ॥३२ ॥

संस्कृत-छाया— न हु जिनोऽद्य दृश्यते, बहुमतो हु दृश्यते मार्गदेशितः ।
सम्प्रति नैय्यायिके पथि, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥३१ ॥
अवशोध्य कटकपथं, अवतीर्णोऽसि पन्थान महालयं ।
गच्छसि मार्ग विशोध्य, समय गौतम मा प्रमादीः ॥३२ ॥

पद्यानुवाद— निश्चय न आज 'जिन' का दर्शन, पथदर्शक भी ना एक नजर ।
भवतारक पथ पर प्राप्त तुम्हे, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर ॥३१ ॥
कण्टकयुत मिथ्यापथ तज कर, अवतीर्ण हुआ विस्तृत पथ पर ।
निर्मल मन से उस पथ पर चल, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर ॥३२ ॥

अन्वयार्थ— (भविष्य मे लोग कहेगे) **अज्ज जिणे हु न दिस्सइ**— आज 'जिन' नही दीख रहे है, **मग्गदेसिए**— (और जो) मार्ग निर्देशक है, (वे) **बहुमए दिस्सई**— अनेक मत के दिखाई देते है, (अर्थात्— वे एक मत के नही है), किन्तु **संपइ**— इस समय, (तुझे) **नेयाउए**— न्यायपूर्ण, **पहे**— मार्ग (उपलब्ध है), (अतः) **गोयम**— हे गौतम ! **समयं मा पमायए**— एक क्षण का भी प्रमाद मत कर ।

गोयम— हे गौतम !, **कंटगापहं**— कण्टकाकीर्ण पथ को, **अवसोहिय**— छोड कर, **महालयं पहं**— विसाल महापथ (राजमार्ग) पर, **ओइण्णोसि**— उतर आया है । (अत.) **विसोहिया**— दृढ निश्चय करके, **मग्गं**— उसी मोक्षमार्ग पर, **गच्छसि**— तू चल, **गोयम**— हे गौतम !, **समयं मा पमायए**—(इसमें) एक क्षण का भी प्रमाद मत कर ।

भावार्थ—(भविष्य मे लोग कहेगे-) 'आज जिन (तीर्थङ्कर) नही दीख रहे है, और जो मार्ग-निर्देशक है, वे भी अनेक मत के दीख रहे है ।' किन्तु आज (मेरी विद्यमानता में) तुझे न्यायपूर्ण— मुक्तिरूप मार्ग उपलब्ध है, अतः हे गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत कर ॥३१ ॥

१. दिस्सइ— लुधियाना से प्रकाशित ।

विवेचन— न हु जिणे अज्ज दिस्सई - व्याख्या एव तात्पर्य— प्रश्न होता है कि भगवान् महावीर जब प्रत्यक्ष विराजमान थे, तब यह कैसे कहा गया कि 'आज जिन नही दीख रहे है ?' इसका समाधान यह है कि सूत्र त्रिकालविषयी होता है, इसलिए यह सूत्र-पक्ति भावी भव्यो को उपदेश देने के लिए है। इसलिए इस पक्ति के पूर्व इस वाक्य का अध्याहार करना चाहिए कि "भविष्य मे भव्य लोग कहेगे (कि आज जिन नही दीख रहे है) किन्तु जिनोपदिष्ट मार्ग दिखाई दे रहा है, जिन भगवान् ने जो सातिशय श्रुतज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक मुक्तिमार्ग प्रतिपादित (देशित) किया था वह आज भी मौजूद है।"

महालयं पहं : तात्पर्य— महान्— तीर्थङ्कर आदि के द्वारा उपदेशित सम्यग्दर्शनादि मुक्तिमार्ग।

निष्कर्ष— प्रस्तुत दोनो गाथाएँ दर्शनविशुद्धि के विषय मे अप्रमत्ततापूर्वक गति करने के उद्देश्य से प्रतिपादित है।

विषमपथ पर न चलने का निर्देश

मूल— अबले जह भारवाहए, मा मग्गे विसमेऽवगाहिया [१] ।
पच्छा पच्छाणुतावए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥३३ ॥

संस्कृत-छाया— अबलो यथा भारवाहक; मा मार्ग विषममवगाह्य।
पश्चात्पश्चादनुतापक· समय गौतम मा प्रमादीः ॥३३ ॥

पद्यानुवाद— अबल भारवाही जैसे, मत विषममार्ग अवगाहन कर।
पछताते उत्पथगामी फिर, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर ॥३३ ॥

अन्वयार्थ— अबले भारवाहए— दुर्बल भारवाहक की तरह (तू) **विसमे मग्गे**— विषम मार्ग मे, **मा अवगाहिया**— मत चलना (अवगाहन करना)। (अन्यथा उसकी भाति), **पच्छा पच्छाणुतावए**— पीछे पछताना पडता है। **गोयम**— हे गौतम ! **समयं**— समयमात्र का भी, **मा पमायए**— प्रमाद मत कर।

विवेचन— दुर्बल साधक बनने का निषेध— भार ढोने वाला व्यक्ति जब शरीर से बिलकुल थक जाता है, विषममार्ग मे उतर जाता है, अपने भार को भी वही फेक देता है, किन्तु बाद मे वह बहुत पछताता है, वैसे ही जो दुर्बल साधक बनकर अपने स्वीकृत सयम भार को छोड़ देता है, वह भी बाद मे पश्चात्ताप करता है। इसलिए हे साधक ! तू भी सयमभार छोडकर ऐसा मत बनना। बल्कि अगीकृत सयम की अप्रमत्त होकर साधना करना। यही इस गाथा का आशय है। इस विषय मे स्वर्णादि भार को फेककर पश्चात्ताप करने वाले व्यक्ति की कथा द्रष्टव्य है।

१ विसमेवगाहिया— तेरापंथ महासभा।

संसारसागर शीघ्रता से पार करने का निर्देश

मूल— तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम ! मा पमायए॥३४॥

संस्कृत-छाया— तीर्णोसि खलु अर्णवं महान्तं, किं पुनस्तिष्ठसि तीरमागत.।
अभित्वरस्व पार गन्तुं, समय गौतम मा प्रमादीः॥३४॥

पद्यानुवाद— कर गया पार तू महाभवोदधि, तट पर आकर क्यो रहा ठहर।
कर जल्दी पार पहुंचने की, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर॥३४॥

अन्वयार्थ— गोयम— हे गौतम !, (तू) **महं अण्णवं—** महासागर को तो, **तिण्णो हु सि—** पार कर गया है। **तीरमागओ—** अब तीर (तट) के निकट पहुँच कर, **किं पुण चिट्ठसि ?—** फिर क्यो खड़ा है ? **पारं गमेत्तए—** इससे (ससार-सागर से) पार करने की, **अभितुर—** जल्दी कर। (इसमें) **समयं—** समयमात्र का भी, **मा पमायए—** प्रमाद मत कर।

भावार्थ— हे गौतम ! तू महासागर (संसार महोदधि) को तो पार कर चुका है, अब इसके तट के निकट पहुँच कर क्यों खड़ा (स्थगित) हो गया ? इसे पार करने की जल्दी कर। क्षण भर का प्रमाद मत कर।

विवेचन— तात्पर्य— प्रस्तुत गाथा का तात्पर्य यह है कि यहाँ भावतः भवसागर है— संसार मे उत्कृष्टस्थिति वाले कर्म। वह भवार्णव दो प्रकार का है। अतः भगवान् गौतम से कहते है— गौतम ! द्विविध भव-महासागर को तुम प्रायः पार कर ही चुके हो। अब तुम मनुष्य भवरूप तीर (किनारे) पर पहुँच कर क्यों संयमाराधन मे (या प्रशस्त राग का त्याग करने में) अनुत्साह का आश्रय लेकर खड़े हों ? यह तुम्हारे लिए उचित नही है। अत. दूसरे किनारे जाने अर्थात्— भावतः मुक्ति-पद को प्राप्त करने के लिए शीघ्रता करो।

सिद्धलोक प्राप्त होने का आश्वासन

मूल— अकलेवरसेणिमुस्सिया[१], सिद्धिं गोयम ! लोयं गच्छसि।
खेमं च सिवं अणुत्तरं, समयं गोयम ! मा पमायए॥३५॥

संस्कृत-छाया— अकलेवरश्रेणिमुच्छ्रित्य, सिद्धिं गौतम लोकं गच्छसि।
क्षेम च शिवमनुत्तरं, समय गौतम मा प्रमादीः॥३५॥

पद्यानुवाद— तू सिद्धलोक को पाएगा, शुभ क्षपकश्रेणि—आरोहण कर।
शिव क्षेम अनुत्तर पद को पा, गौतम ! प्रमाद क्षण का मत कर॥३५॥

१. मूसिण— लुधियाना से प्रकाशित।

अन्वयार्थ— गोयम— हे गौतम ! (तू) **अकलेवरसेणिं—** अशरीरी सिद्धो की श्रेणि-क्षपकश्रेणि पर, **उस्सिया—** आरूढ होकर, **खेमं सिवं च अणुत्तरं—** क्षेम, शिव और अनुत्तर, **सिद्धिं लोयं—** सिद्धि नामक लोक को, **गच्छसि—** प्राप्त करेगा (या पहुँचेगा), (अत. इसके लिए) **गोयम—** हे गौतम !, **समयं मा पमायए—** समय मात्र का भी प्रमाद मत कर ।

विवेचन— अकलेवरसेणिं : व्याख्या— कलेवर अर्थात् : शरीर जिनके नही है, अकलेवर— अशरीरी सिद्ध होते है । उनकी श्रेणि की तरह जो उत्तरोत्तर शुद्ध (पवित्र) परिणामो की श्रेणि अर्थात् अवशिष्ट कर्मो का शीघ्र क्षय करने वाली विचार श्रेणि है ।

'अकेलवर श्रेणि' का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है— सिद्धि स्थान तक पहुँचने के लिए सोपान (निः सरणी) रूप विशुद्ध विचार श्रेणि (सरणी)

सिद्धिपद प्राप्ति का मुख्य उपाय

मूल— बुद्धे परिनिव्वुडे चरे, गामगए नगरे व संजए ।
संतिमग्गं [१] च बूहाए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥३६ ॥

संस्कृत-छाया— बुद्ध. परिनिर्वृतश्चरे;, ग्रामगतो नगरे वा सयत. ।
शान्तिमार्ग च बृहये., समय गौतम मा प्रमादी. ॥३६ ॥

पद्यानुवाद— सम्बुद्ध शान्त संयत होकर, तू ग्राम-नगर मे विचरण कर ।
कर शान्ति मार्ग का सवर्द्धन, गौतम ! प्रमाद न क्षण का कर ॥३६ ॥

अन्वयार्थ— बुद्धे— बुद्ध (तत्त्वज्ञ), **परिनिव्वुडे—** परिनिर्वृत्त—उपशान्त एव, **संजए [२]—** पाप स्थानो से उपरत (सयत) होकर, **गामगए नगरे व—** ग्राम मे या नगर मे, (तू) **चरे—** विचरण करे. **च—** और, **संतिमग्गं [३]—** शान्तिमार्ग को, **बूहए—** बढा । **गोयम—** गौतम !, **समयं मा पमायए—** इसमे तू क्षणमात्र का भी प्रमाद मत कर ।

भगवदुक्त उपदेशानुसार आचरण से गौतम को सिद्धि

मूस— बुद्धस्स निसम्म भासियं, सुकहियमट्ठपओवसोहियं ।
रागं दोसं च छिंदिया, सिद्धिंगइं गए गोयमे ॥३७ ॥ — त्तिबेमि

संस्कृत-छाया— बुद्धस्य निशम्य भाषितं, सुकथितमर्थपदोपशोभितम् ।
राग द्वेषं च च्छित्त्वा, सिद्धिगतिं गतो गौतम. ॥३७ ॥ **इति ब्रवीमि ।**

---

१. संतीमग्गं— लुधियाना से प्रकाशित ।
२ सजए : तीन अर्थ—(१) सम्यक् यतनाशील, (२) पाप स्थानों से विरत, (३) सम्यक् रूप से अनासक्त ।
३. सतिमग्ग—शान्तिमार्ग : तीन अर्थ—(१) जिसमें सभी पाप शान्त होते हैं, वह शान्ति अर्थात्—निर्वाण, उसका मार्ग, (२) शान्ति— उपशम, वही मुक्ति का हेतु होने से मार्ग है, अर्थात्— उपशमरूप मार्ग-शान्तिमार्ग है । (३) अथवा शान्ति शब्द से उपलक्षण से दशविध श्रमण धर्म का ग्रहण होता है, अर्थात् श्रमणधर्म-मार्ग ।

पद्यानुवाद— पद अर्थ सुशोभित श्रेष्ठ परम, ज्ञानीजन-कथित वचन सुनकर ।
गौतम गए सिद्धिगति को, निज राग-द्वेष का छेदन कर ॥३७ ॥

अन्वयार्थ— अट्ठपओवसोहियं— अर्थ एव पद से सुशोभित, **सुकहियं—** ...
बुद्धस्स— केवलज्ञान से समस्त वस्तुतत्त्व के ज्ञाता-द्रष्टा भगवान् महावीर की, ...
वाणी, **निसम्म—** सुनकर, **रागं दोसं च—** राग और द्वेष का, **छिंदिया—** छेदन कर, **गोयमे**
श्री गौतम स्वामी, **सिद्धिंगइं गए—** सिद्धिगति को प्राप्त हुए (पहुँचे) ।

— त्तिबेमि— ऐसा मै कहता .

भावार्थ— अर्थ और पदो से सुशोभित एवं सुकथित, सर्वज्ञ भगवान् महावीर की ...
सुनकर, राग और द्वेष का क्षय करके, गौतमस्वामी सिद्धिगति मे पहुँचे ।

— ऐसा मै कहता हूँ

इस गाथा से यह भी पुष्ट होता है कि भगवान् ने जिस दिन इस अध्ययन का प्रवच
किया उसके दूसरे ही दिन (प्रतिपदा को) गौतमस्वामी को केवलज्ञान हो गया ।

॥द्रुमपत्रक : दशम अध्ययन समाप्त ॥

